महात्मा गांधी

एक जीवनी

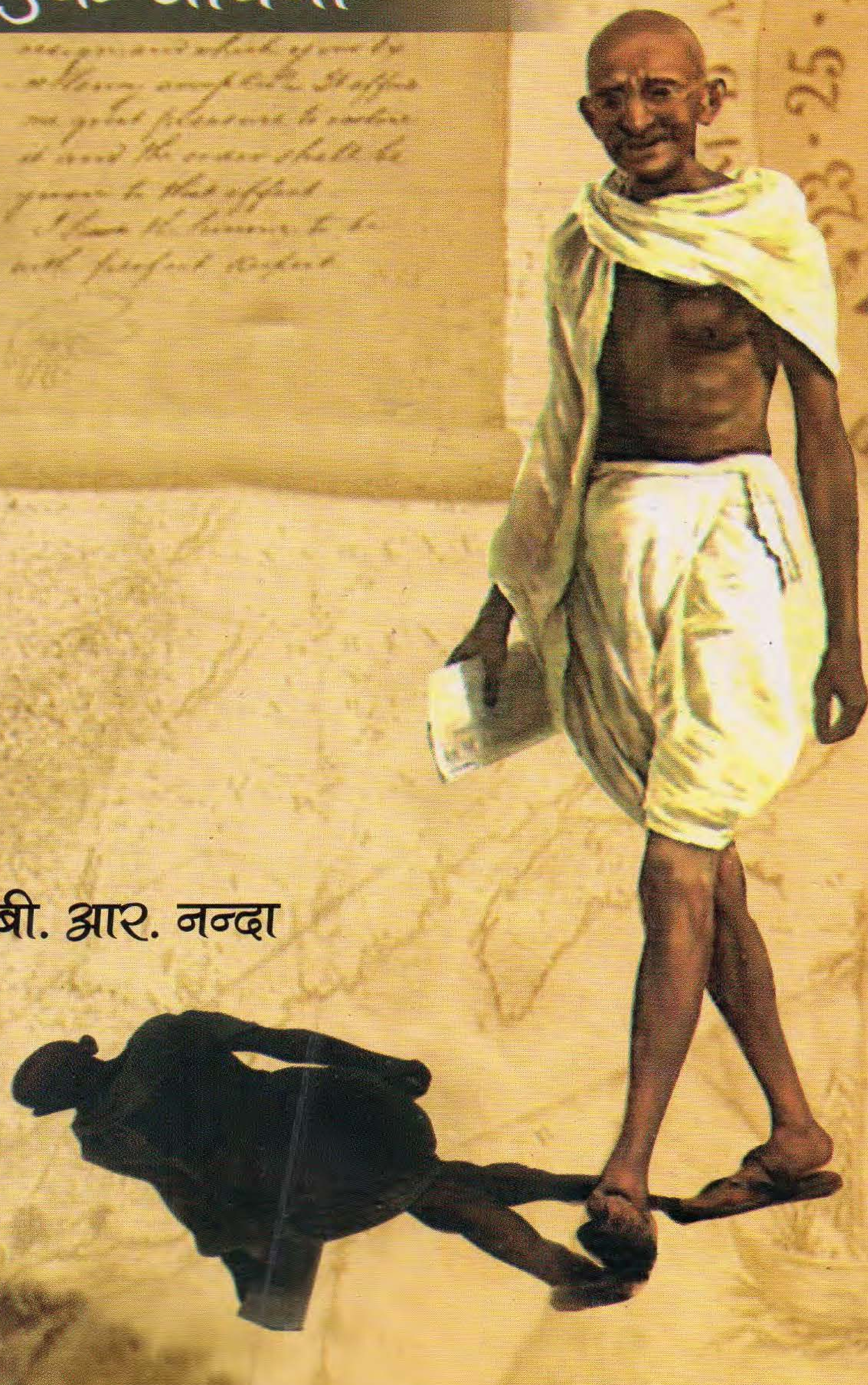

बी. आर. नन्दा

महात्मा गांधी: एक जीवनी

लेखक

बी. आर. नंदा

अनुवादक

श्यामू संन्यासी

प्रकाशक

सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन

एन-77, पहली मंजिल, कनॉट सर्कस, नई दिल्ली-110 001

फोन : 23310505, 41523565

E-mail: sastasahiytamandal@gmail.com

Visit us at: www.sastasahityamandal.org

प्रकाशकीय

महात्मा गांधी की कई पुस्तकें 'मण्डल' से प्रकाशित हुई हैं। उनके जीवन तथा विचारधारा से संबंधित अन्य लेखकों की लिखी हुई भी बहुत-सी पुस्तकें निकलती हैं। वस्तुत:, 'मण्डल' की स्थापना ही गांधी-विचारधारा को लक्ष्य में रखकर लोकोपयोगी साहित्य प्रकाशित तथा प्रसारित करने के लिए हुई थी। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह संस्था पिछले बिरासी वर्ष से प्रयत्नशील है।

'मण्डल' से अबतक गांधीजी की जितनी जीवनियाँ निकली हैं, वे प्रायः सभी बहुत लोकप्रिय हुई हैं। उनमें लुई फिशर की 'गांधी की कहानी' और प्रभुदास गांधी की 'जीवन-प्रभात' को विशेष रूप से पंसद किया गया है।

हमें हर्ष है कि प्रस्तुत पुस्तक द्वारा हमारे गांधी-साहित्य में मूल्यवान वृद्धि हुई है । इसके विद्वान् लेखक ने गांधीजी-विषयक पुस्तकें तथा अन्य सामग्री का सूक्ष्म अध्ययन करके बड़े परिश्रम से यह पुस्तक लिखी है। इसमें गांधीजी की जीवनी तो आ ही गई है, उनके विचारों का भी महत्त्वपूर्ण ढंग से समावेश हुआ है।

मूल पुस्तक अंग्रेज़ी में लिखी गई है और इंग्लैंड की प्रमुख प्रकाशन-संस्था एलन एंड अनविन द्वारा प्रकाशित हुई है। संसार की कई भाषाओं में इसके अनुवाद हो चुके हैं।

पुस्तक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसकी लेखन शैली अत्यंत रोचक है, साथ ही, जो भी सामग्री इसमें दी गई है, वह प्रामाणिक है।

हम एलन एंड अनविन के आभारी हैं कि उन्होंने पुस्तक के हिन्दी संस्करण को निकालने की अनुमति हमें प्रदान की।

हमें विश्वास है कि इस पुस्तक का सारे देश में स्वागत होगा और यह सभी वर्गों के पाठकों द्वारा पढ़ी जाएगी।

- मंत्री

प्रस्तावना

गांधीजी की भाँति अपने जीवन-काल में निखिल मानवता के मन-प्राणों को इतना अधिक स्पंदित और आंदोलित करनेवाला तो शायद दूसरा कोई हुआ ही नहीं। आइंस्टीन ने जुलाई 1944 में सच ही लिखा था कि "भावी पीढ़ियों को विश्वास ही न होगा कि इस धरती पर हाड़-मांस का कोई गांधी कभी जन्मा भी था !" लाखों-लाख जनता उन्हें महात्मा के रूप में पूजती थी, जबकि राजनैतिक विरोधी उन्हें चतुर राजनीतिज्ञ ही समझते थे। अंग्रेज़ भी सत्ता का हस्तांतरण हो जाने पर 1946-47 के बाद ही महाविद्रोही मि. गांधी से मानव गांधी को भिन्न करके देख और उनके सही स्वरूप को पहचान सके। उनके पाकिस्तानी निन्दकों को तो उनकी दुःखद मृत्यु के बाद ही विश्वास हो सका कि गांधीजी की मानवता हिन्दू धर्म में उनकी श्रद्धा-भक्ति से कहीं ऊँची थी।

अपने समसामयिकों पर ऐसी जबरदस्त छाप डालनेवाले व्यक्ति की जीवनी लिखना आसान काम नहीं है। लेकिन उन्हें हिन्दू देव-परंपरा में अवतार रूप की गरिमा से मंडित किए जाने से बचाकर आत्मानुशासन और आत्मविकास के लिए सतत संघर्षशील, परिस्थितियों से प्रभावित और साथ ही परिस्थितियों के नियामक-निर्माता सहज मानव के रूप में प्रतिष्ठित करना भी नितांत आवश्यक हो गया है, जिसने उन मानवी गुणों का दृढ़ता से पालन और समर्थन किया, जिनकी कसमें तो सभ्य जगत खूब खाता है, पर जिनका आचरण वह रत्तीभर भी नहीं करता।

इस जीवन-चरित का न्यासकाल क्रमानुसार आयोजित करते हुए भी खास-खास मामलों में गाँवों के दृष्टिकोण के यथोचित और यथावसर संश्लेषण का प्रयत्न भी मैंने किया है। भारतीय राष्ट्रीयता की पृष्ठभूमि, गांधीजी के दक्षिण अफ्रीका से लौटने पर भारत की राजनैतिक स्थिति उनका धार्मिक विकास, जीवन की पद्धति में परिवर्तन और नए मूल्यों का अभिग्रहण, उनके नैतिक, आर्थिक और राजनैतिक आंदोलन, युद्ध और अस्पृश्यता पर उनका रुख और रवैया— इन सभी पर अलग-अलग अध्यायों में चर्चा की गई है। कालानुसारी और विश्लेषणात्मक पद्धतियों के समन्वय से गांधीजी के विशद् जीवन की वैविध्यपूर्ण गाथा, उनके वैचारिक विकास और दोनों के अन्योन्याश्रित संबंध को एक ही पुस्तक में कुछ विस्तार से प्रस्तुत करने की सुविधा हो गई। गांधीजी कोई सिद्धांतशास्त्री नहीं थे और न सिद्धांतों के अंधभक्त। उनके सिद्धांत उनकी

निज़ी आवश्यकताओं और जिस वातावरण में वह रहते थे, अनिवार्यतः उसी की उपज हुआ करते थे। जिस प्रकार उन्हें प्रेरित करनेवाले विचारों को समझे बिना उनके जीवन की घटनाओं को नहीं समझा जा सकता, उसी प्रकार धर्म, नैतिकता, राजनीति और अर्थनीति आदि से संबंधित उनके विचारों को उनके जीवन की परिस्थितियों के संदर्भ के बिना नहीं समझा जा सकता।

जो चालीस वर्षों तक गांधीजी का समकालीन रहा हो, उसके लिए उन घटनाओं के संबंध में, जिनके गांधीजी केन्द्र रहे हों, पूर्णतः वस्तुनिष्ठ रह पाना कितना मुश्किल है, इसे मैं ही जानता हूँ, फिर भी घटनाओं और व्यक्तित्वों का मूल्यांकन और पुनर्मूल्यांकन करते समय किसी का समर्थन अथवा विरोध करने की अपेक्षा मेरा प्रयत्न ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में उनको समझना और उनका विवेचन करना ही रहा है। इसमें मैं कहाँ तक सफल हो पाया हूँ, इसके निर्णय का भार मेरे पाठकों पर ही है।

मैं भारत सरकार और राष्ट्रीय अभिलेखागार के निदेशक महोदय का कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने मुझे अभिलेखों और विवरणों की पड़ताल एवं उनका उपयोग करने की अनुमति प्रदान की। मेरा विश्वास है कि उस सामग्री के आधार पर मैं पहली बार तत्कालीन सरकार और गांधीजी के पारस्परिक संबंधों की उभय-पक्षीय तस्वीर प्रस्तुत कर सका हूँ। सरकारी विवरणों पर आधारित गांधीजी के संघर्षों का चित्र निश्चय ही एकांगी होता, इसलिए मैंने उन सूत्रों का उपयोग घटनाओं को उनके सही परिप्रेक्ष्य में देखने और कुछ विस्मृत अथवा अस्पष्ट तथ्यों को उजागर करने में ही किया है।

गांधीजी के जीवन से संबंधित सामग्री कम नहीं है। उनके विशद, विपुल और नाना प्रवृत्तियों से भरे जीवन को एक पुस्तक के कलेवर में समेट पाना सरल काम नहीं है। मैं गांधीजी और भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन पर लिखनेवाले सभी लेखकों का ऋणी हूँ। कुछ का नामोल्लेख मैंने पुस्तक में ही यथास्थान और कइयों का पाद-टिप्पणी में कर दिया है। विशेष रूप से मैं नवजीवन-ट्रस्ट, विक्टर गोलांश लिमिटेड, कैसल एंड कंपनी, कुर्टिस ब्राउन लिमिटेड, आक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, जोनाथन केप लिमिटेड और फिलिप मेसन आदि प्रकाशकों का आभारी हूँ, जिन्होंने अपनी प्रकाशित पुस्तकों में से उद्धरण देने की अनुमति प्रदान की।

गांधी स्मारक संग्रहालय, नई दिल्ली और विशेषकर श्री अवनीभाई मेहता, अंतर्राष्ट्रीय मामलों की भारतीय परिषद् (इंडियन कौंसिल ऑफ वर्ल्ड अफेयर्स) के पुस्तकालय-अध्यक्ष श्री गिरजाकुमार और उनके सहयोगियों एवं केन्द्रीय सचिवालय के पुस्तकालय के कर्मचारियों से इस पुस्तक की तैयारी में मुझे जो सहायता मिली, उसके लिए मैं इन सबको धन्यवाद देता हूँ।

मैं सर्वश्री वी. के. कृष्ण मेनन, प्यारालाल और काकासाहब कालेलकर का भी कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने चर्चाओं के द्वारा कुछ बातों का स्पष्टीकरण करने की कृपा की। इस पुस्तक में जिन महानुभावों ने आरंभ से ही रुचि ली और मेरा उत्साह बढ़ाया, उनमें स्वर्गीय देवदास गांधी, श्री एन. सी. चौधुरी, श्री के. पी. मुक्तान और श्री एम. के. कौल का उल्लेख करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ।

श्री बी. एन. खोसला ने पांडुलिपि को आद्योपांत पढ़कर कई उपयोगी सुझाव दिए। लेकिन पुस्तक में अभिव्यक्त विचारों और त्रुटियों का पूरा उत्तरदायित्व अकेले मुझीपर है।

पुस्तक के रचनाकाल में मेरी पत्नी ने जिस धैर्य का परिचय दिया, उसके और उनके प्रोत्साहन के लिए मैं उनका आभारी हूँ।

- बी. आर. नंदा

विषय-सूची

1. बचपन
2. इंग्लैंड में
3. असफल बैरिस्टर
4. विधि-निर्मित यात्रा
5. राजनीति में प्रवेश
6. बिना अपराध दंड
7. रोटी के बदले पत्थर
8. धार्मिक जिज्ञासा
9. विचारों में गंभीर परिवर्तन
10. सत्याग्रह की खोज
11. पहला सत्याग्रह-आंदोलन
12. दूसरी बार सत्याग्रह
13. आखिरी दौर
14. दक्षिण अफ्रीका की प्रयोगशाला
15. उम्मीदवारी
16. भारतीय राष्ट्रीयता
17. शानदार अलगाव
18. अमृतसर की काली छाया
19. विद्रोह का रास्ता
20. एक साल में स्वराज्य
21. उत्कर्ष
22. अपकर्ष
23. कौंसिलें और सांप्रदायिकता
24. नीचे से शुरुआत

25. बढ़ती हुई सरगर्मियाँ

26. रियायत का एक साल

27. सविनय अवज्ञा

28. समझौता

29. गोलमेज परिषद्

30. सर्वांगीण युद्ध

34. हरिजनोद्धार

32. ग्रामीण अर्थव्यवस्था

33. कांग्रेस द्वारा पदग्रहण

34. पाकिस्तान का प्रादुर्भाव

35. भारत और द्वितीय महायुद्ध

36. खाई बढ़ती गई

37. भारत छोड़ो

38. अपराजेय आत्मा

39. स्वाधीनता का आगमन

40. ज्वालाओं का शमन

44. पराजित की विजय

42. उपसंहार

१. बचपन

“शनिवार को खेल के घंटे से तुम गैर-हाज़िर क्यों थे?” प्रधानाध्यापक ने अपने सामने लाए गए चौदह वर्ष के लड़के की ओर कड़ी नज़र से देखते हुए पूछा।

“सर, मैं अपने पिताजी की तीमारदारी कर रहा था।” लड़के ने जवाब दिया, “ मेरे पास घड़ी नहीं है, बादलों के कारण धोखा हुआ और समय का सही अंदाज न लगा सका। जब मैं पहुँचा तो सब लड़के जा चुके थे।”

“झूठ बोल रहे हो ?” प्रधानाध्यापक ने रुखाई से कहा।

1883 का साल था, और जगह थी राजकोट—गुज़रात काठियावाड़ की एक छोटी-सी रियासत । वहाँ के एलफ्रेड हाई स्कूल के प्रधानाध्यापक दोरावजी एदलजी गीमी अनुशासन के मामले में बड़े कठोर थे। उन्होंने ऊँची कक्षाओं के छात्रों के लिए खेल अनिवार्य कर दिए थे। गैर-हाज़िर रहनेवालों का कोई बहाना वह मानते नहीं थे। उस लड़के का नाम था मोहनदास गांधी। झूठे होने का यह आरोप वह सह नहीं सका, फूट-फूटकर रोने लगा। उसने सच ही कहा था, लेकिन उसकी यह समझ में नहीं आ रहा था कि अपनी सचाई का विश्वास वह प्रधानाध्यापक को कैसे दिलाए ! इस घटना पर उसने बहुत सोचा और अंत में इस नतीजे पर पहुँचा कि “सच बोलनेवाले को चौकस भी होना चाहिए।" बस, उसने तय कर लिया कि आगे कभी ऐसा मौका ही नहीं आने देगा, जिससे उसकी किसी कैफियत को झूठा समझा जाए।

वह लड़का न तो पढ़ाई में तेज़ था और न खेल में। स्वभाव से ही शांत, झेंपू और एकांतप्रिय था। उस लड़के के मुँह से लोगों के सामने बोल तक नहीं फूटता था। औसत दर्ज़े का विद्यार्थी समझे जाने की उसे ज़रा भी फिक्र न थी, लेकिन अपनी प्रतिष्ठा के मामले में वह बड़ा सतर्क था। उसे इस बात का गर्व था कि अपने शिक्षकों और सहपाठियों से वह कभी झूठ नहीं बोला था। उसकी नीयत पर कोई ज़रा भी शक करता तो उसे रोना आ जाता था।

चरित्र के प्रति ऐसी जागरूकता एक चौदह वर्ष के लड़के में कुछ अनहोनी-सी बात लगती है, लेकिन वास्तव में वह गांधी-परिवार की परंपरा का ही एक अंश थी। मोहन के पिता करमचंद और दादा उत्तमचंद अपनी ईमानदारी और दृढ़-निष्ठा के लिए प्रसिद्ध थे।

गांधी जाति से बनिया, व्यवसाय से पंसारी और जूनागढ़ रियासत के कुतियाणा गाँव के मूल निवासी थे। गांधी-वंश के एक उद्योगी सदस्य हरजीवन गांधी ने सन् 1777 में पोरबंदर में एक मकान खरीदा, अपने बाल-बच्चों के साथ वहीं बस गए और छोटा-मोटा व्यापार करने लगे। लेकिन गांधी-परिवार की ख्याति उस समय हुई जब हरजीवन के बेटे उत्तमचंद के कार्यों से प्रभावित होकर वहाँ के राणा खीमाजी ने उन्हें अपनी रियासत का दीवान बनाया।

पोरबंदर गुज़रात-काठियावाड़ की तीन सौ में एक रियासत थी। इन रियासतों पर संयोग से राजा के घर पैदा होनेवाले और सर्वोच्च ब्रिटिश सत्ता की मदद से सिंहासन पर बैठनेवाले राजकुमार राज करते थे। यों तो काठियावाड़ राजनैतिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ और सामंती इलाका था, लेकिन सदियों से भारत को बुनियादी एकता प्रदान करनेवाले धार्मिक आंदोलनों और सामाजिक सुधारों के प्रभाव से बिलकुल अछूता भी नहीं था। गुज़रात और काठियावाड़ में हिन्दुओं के कुछ प्रसिद्ध तीर्थ हैं। धुर पश्चिम में श्रीकृष्ण के उत्तर-जीवन की लीलास्थली द्वारिकापुरी अवस्थित है और सोमनाथ का इतिहास-प्रसिद्ध मंदिर भी यहीं है। प्राणी-मात्र को परमात्मा का अवतंस मानकर उसकी पावनता पर समान रूप से ज़ोर देनेवाले बुद्ध, महावीर और वल्लभाचार्य के उपदेश एवं मीराबाई के भजन तथा नरसी मेहता के गीत यहाँ के लोगों को प्रेरणा देते रहे हैं। वैसे तो गुज़रात अपने अध्यवसायी व्यापारियों के लिए प्रसिद्ध है, लेकिन वहाँ धार्मिक और सामाजिक सुधारकों ने भी जन्म लिया। आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानंद काठियावाड़ी थे और करमचंद गांधी के समकालीन थे। गुज़रातियों के चरित्र में बड़ी दृढ़ता होती है। जब किसी उद्देश्य के लिए वे काम में जुट जाते हैं तो मार्ग में आनेवाली बाधाओं की परवा नहीं करते। गुज़रात में जन्म लेने के ही कारण शायद गांधी और जिन्ना इस शताब्दी के भारतीय इतिहास को अलग-अलग ढंग से इतना अधिक प्रभावित कर सके।

उन दिनों किसी रियासत की दीवानगीरी चैन की नौकरी नहीं थी। मनमानी करनेवाले राजाओं, सर्वोच्च ब्रिटिश सत्ता के निरंकुश प्रतिनिधि पोलिटिकल एजेंटों और युगों से दबी-कुचली प्रजा के बीच में रहकर ठीक ढंग से काम करने के लिए काफी कूटनीतिक होशियारी, समझदारी और व्यवहार-कुशलता की ज़रूरत होती थी। उत्तमचंद गांधी अच्छे प्रशासक साबित हुए। जब

वह दीवान बने तो पोरबंदर गले तक कर्ज़ में डूबा हुआ और वहाँ बदइंतजामी का बोलबाला था। उन्होंने सारा कर्ज़ चुका दिया और बहुत अच्छा इंतजाम किया। लेकिन बदकिस्मती से राणा खीमाजी जवानी में ही मर गए। अब महारानी ने हुकूमत की बागडोर संभाली। मगर रानी को अपने दीवान की सचाई, स्वाभिमान और स्वतंत्र रूप से काम करना बिलकुल पसंद नहीं था। दोनों में संघर्ष अवश्यंभावी हो गया। जब उत्तमचंद ने खजाने के एक छोटे, लेकिन ईमानदार कर्मचारी कोठारी का पक्ष लेकर उसे शरण दी तो रानी और दीवान में ठन गई। बात यह हुई थी कि कोठारी ने महारानी की बांदियों का गलत हुक्म मानने से इंकार कर दिया था। गुस्से से आगबबूला रानी ने फौज का एक दस्ता भेजकर दीवान के घर पर डेरा डलवा दिया और तोपें चलवा दीं। बहुत दिनों तक गांधी-परिवार के पुश्तैनी मकान पर इस गोलाबारी के निशान बने रहे। सौभाग्य से अंग्रेज़ पोलिटिकल एजेंट को इस बात का पता चल गया और उसने रानी की इन कार्रवाइयों को फौरन रुकवा दिया। इस घटना के तुरंत बाद उत्तमचंद ने पोरबंदर छोड़ दिया और जूनागढ़ रियासत में अपने पैतृक गाँव के लिए चल पड़े। वहाँ के नवाब ने उनका अच्छा सत्कार किया। लेकिन दरबार में उत्तमचंद ने नवाब को बाएं हाथ से सलाम किया। इस गुस्ताखी का कारण पूछे जाने पर उन्होंने जवाब दिया कि “मेरा दाहिना हाथ तो, सबकुछ हो जाने पर भी, पोरबंदर को ही अपना मालिक तसलीम करता है।” इस बेअदबी के लिए उन्हें दस मिनट तक धूप में नंगे पाँव खड़े रहने की सज़ा दी गई। लेकिन साथ ही नवाब उनकी स्वामिभक्ति से खुश भी बहुत हुआ और यह इनाम दिया कि अगर वह पुश्तैनी गाँव में व्यापार करना चाहें तो उनसे और उनके वंशजों से चुंगी नहीं ली जाएगी।

रानी की हुकूमत के बाद राणा विक्रमजीतसिंह पोरबंदर की गद्दी पर बैठे तो उन्होंने फिर से उत्तमचंद को अपना दीवान बनाना चाहा, लेकिन वह राज़ी न हुए। इसपर 1847 में उत्तमचंद के बेटे करमचंद गांधी को, जिनकी उम्र पच्चीस बरस थी, पोरबंदर का दीवान बनाया गया। करमचंद गांधी ने अठाइस बरस तक पोरबंदर की दीवानगीरी की। वह अपने पिता की ही तरह सच्चे और निडर दीवान थे। लेकिन आखिर में उनका राजा भी उनसे किसी कारण नाराज हो गया। तब ये अपने भाई तुलसीदास को दीवानगीरी सौंपकर राजकोट चले आए और वहाँ के

दीवान बन गए। राजकोट के दीवान की हैसियत से उन्होंने एक बड़ा ही दुस्साहसिक काम किया। सर्वशक्तिमान ब्रिटिश हुकूमत के असिस्टेंट पोलिटिकल एजेंट ने जब राजकोट के महाराज की शान में अपमानजनक शब्द कहे तो करमचंद ने उसे बुरी तरह फटकार दिया। इसपर वह गिरफ़्तार कर लिए गए। लेकिन उन्होंने उस अंग्रेज़ अफसर से माफी नहीं माँगी। एक रियासती दीवान की इस निडरता से वह अंग्रेज़ अफसर भौंचक्का रह गया और मामले को रफा-दफा कर उन्हें छोड़ देना ही उसने ठीक समझा।

एक-एक करके लगातार तीन पत्नियों की मृत्यु हो जाने पर करमचंद ने चौथा विवाह पुतलीबाई से किया, जो उनसे लगभग बीस वर्ष छोटी थीं। इनसे उनके तीन पुत्र हुए—लक्ष्मीदास (काला), कृष्णदास (करसनिया) और मोहनदास (मोहनिया)। रलियात (गोकी) बहन नामक एक लड़की भी हुई, जो तीनों भाइयों के बाद तक जीवित रही। पहली पत्नियों से करमचंद के दो पुत्रियाँ और भी थीं।

सबसे छोटे और भावी महात्मा, मोहनदास का जन्म 2 अक्टूबर, 1869 को हुआ था।

पोरबंदर के दीवान होते हुए भी करमचंद अपने पाँचों भाइयों के साथ उसी तिमंजिले पैतृक मकान में रहते थे। जो हिस्सा उन्हें मिला वह नीचे की मंजिल पर था। उसमें दो कमरे, एक छोटा रसोइघर और एक बरामदा था। उनके हिस्से का एक कमरा बीस फुट लंबा और तेरह फुट चौड़ा तथा दूसरा कमरा तेरह फुट लंबा और बारह फूट चौड़ा था। इसी मकान में अपने भाइयों, बहनों, कई चाचाओं और अनेक चचेरे भाइयों के बीच मोहनदास गांधी बड़े हुए। संकरी गलियों और भीड़-भरे बाज़ारोंवाला पोरबंदर नगर अरब सागर के तट पर बसा हुआ है। पूरा नगर एक बड़े परकोटे से घिरा हुआ है, जिसका ज्यादातर हिस्सा अब तोड़ दिया गया है। यहाँ के मकान और इमारतें स्थापत्य कला की दृष्टि से तो उल्लेखनीय नहीं, परंतु एक ऐसे मुलायम सफेद पत्थर से अवश्य बनाई गई हैं, जो समय के साथ सख्त होता जाता है और धूप में संगमरमर की तरह चमकता है। इन सफेद पत्थरों के ही कारण इस नगर को 'धौलपुर' का रोमानी नाम दिया गया है। यहाँ की सड़कें मंदिरों से भरी पड़ी हैं। खुद गांधी-परिवार का मकान भी दो मंदिरों से लगा हुआ है। इस बंदरगाह की ज़िन्दगी का समंदर से जुड़ा होना स्वाभाविक ही है। 19 वीं शताब्दी के

उतरार्द्ध में भी यहाँ के बीसियों परिवारों के विदेशों से व्यापारिक संबंध थे। यहीं के एक प्रवासी व्यापारी के बुलावे पर गांधीजी बाद में दक्षिण अफ्रीका गए।

जब मोहनदास सात वर्ष के हुए तो उनके माता-पिता पोरबंदर से 120 मील उत्तर, राजकोट रहने चले आए। इस प्रकार राजकोट गांधी-परिवार का दूसरा घर बन गया। लेकिन पोरबंदर से भी उनके संबंध बराबर बने रहे। राजकोट में बच्चों के खेलने के लिए समुद्र का किनारा नहीं था, इस नगर में 'धौलपुर' की सुंदर छटा भी नहीं थी, लेकिन राजनैतिक और सामाजिक दृष्टि से यह उतना पिछड़ा हुआ नहीं था। पोरबंदर में मोहन एक प्राइमरी स्कूल में जाता था, जहाँ बच्चे धूल में अंगुलियों से वर्णमाला लिखते थे। लेकिन राजकोट में हाई स्कूल था।

मोहन की माता पुतलीबाई बड़ी योग्य महिला थीं। रनिवास में उनकी इज्ज़त थी और राज-परिवार की महिलाओं से मैत्री। लेकिन खुद उन्हें अपने घर और परिवार के कामों में लगे रहना ज्यादा सुहाता था। घर में जब भी कोई बीमार पड़ता, वे उसकी तीमारदारी में रात-दिन एक कर देती थीं। आमतौर पर औरतों में पाया जानेवाला अच्छे कपड़ों और गहनों का शौक उनमें ज़रा भी न था। उनका जीवन मानो व्रत और उपवासों का एक अंतहीन सिलसिला ही था और अपनी इसी आस्था के बल पर उन्होंने अपने बेहद कमज़ोर शरीर को टिका रखा था। दिन और रात में, चाहे वह घर में हों या मंदिर गई हों, बच्चे उन्हें हर समय घेरे रहते थे। उनके इन व्रतों और लंबे-लंबे उपवासों से बच्चे परेशान भी होते थे और आकर्षित भी। धर्मग्रंथों में वह पारंगत नहीं थीं। पढ़ी-लिखी भी कुछ खास नहीं थीं। केवल अटक-अटककर गुज़राती पढ़ लेती थीं। धर्म-संबंधी सारा ज्ञान उन्होंने घर पर या कथा-वार्ता एवं सत्संगों से प्राप्त किया था। वह आस्तिक भी थीं और अंधविश्वासी भी। बच्चों को न तो अंत्यजों को छूने देती थीं और न चंद्रग्रहण को देखने ही देती थीं। दूसरे बच्चों की अपेक्षा मोहन अधिक जिज्ञासु था। वह बड़े बेढब प्रश्न पूछा करता। घर के भंगी उका को छूने से छूत कैसे लग जाती है ? ग्रहण को देखने से क्या नुकसान होता है ? पुतलीबाई जो जवाब देतीं उनसे अक्सर उसका संतोष नहीं हो पाता था, लेकिन अपने सारे संशयों के बावजूद मोहन माँ से इतना घुला-मिला था कि स्नेह के उस दृढ़ बंधन को वह जीवन-भर अनुभव करता रहा। 1908 में जब गांधीजी, 39 वर्ष के थे, एक लेखक ने लिखा है, "जब वह

अपनी माता के बारे में बातें करते हैं तो उनकी आवाज़ कोमल हो जाती है और आँखें प्रेम से आलोकित हो उठती हैं।" यह सच है कि पुतलीबाई अपने बेटे की जिज्ञासा को शांत नहीं कर पाती थीं और उसके मन को किशोरावस्था की अस्पष्ट नास्तिकता की ओर बहने से रोक भी नहीं सकती थीं, परंतु फिर भी उनके अनंत प्रेम, सीमातीत, कठोरतम और दृढ़ इच्छा-शक्ति ने गांधीजी के जीवन को अमिट रूप से प्रभावित किया है। माता के ये गुण उस व्यक्ति के लिए प्रेरणा के अमर स्रोत बन गए, जिसे अपने भावी जीवन में संयम और आत्म-नियंत्रण के लिए सतत संघर्ष करना था और जिसकी सारी लड़ाइयाँ मनुष्य के दिल को जीतने के लिए लड़ी जानी थीं। पुतलीबाई से प्रेरित नारी की जो प्रतिमा उनके हृदय में अंकित हुई वह प्रेम और बलिदान की प्रतिमा थी। मातृत्व की इस सहज स्नेह भावना का कुछ अंश गांधीजी में भी था, जो उनकी उम्र के साथ निरंतर विकसित होता गया और अंतत: परिवार तथा समुदाय के संकुचित दायरों को तोड़कर संपूर्ण मानवता में व्याप्त हो गया। गांधीजी ने अपनी माता से सेवा का वह उत्साह ही नहीं पाया; जिसकी प्रेरणा से वह अपने आश्रम में कोढ़ियों के घाव धोया करते थे, बल्कि आत्म-पीड़ा द्वारा दूसरों के हृदय को प्रेरित और द्रवित करने की कला भी सीखी, जिसका कि पत्नियाँ और माताएँ अनंत काल से प्रयोग करती आ रही हैं।

मोहन के पिता करमचंद गांधी ने स्कूली शिक्षा ज़रा भी नहीं पाई थी। लेकिन दुनियादारी का उनका ज्ञान बहुत बढ़ा-चढ़ा था। आदमियों की उनकी परख भी बहुत अच्छी थी। अपने पुत्र के शब्दों में वह "अपने भाई-बंधुओं को प्यार करनेवाले, सत्यवादी, वीर और उदार थे।" धन जोड़ने में उनकी ज़रा भी रूचि नहीं थी, यहाँतक कि अपने पीछे बच्चों के लिए कोई जायदाद भी नहीं छोड़ गए। उनके घर में रामायण और महाभारत जैसे पुराण ग्रंथों का पारायण होता था। जैन मुनियों तथा पारसी और मुस्लिम संतों से धर्म के तत्त्व पर प्रायः चर्चाएं भी होती थीं। लेकिन करमचंद का धर्म अधिकतर औपचारिकता तक ही सीमित था। स्वयं उनके बेटे का, अपनी बासठ वर्ष की उम्र में कहना है, "जो भी धार्मिकता आप मुझमें देखते हैं वह मैंने अपनी माँ से पाई है, पिताजी से नहीं ।"[1]

करमचंद और उनके सबसे छोटे बेटे की उम्र में आधी सदी का अंतर था। उम्र के इस फर्क ने पुत्र के लिए पिता को स्नेहशील साथी की जगह सोलहों आने पूजनीय बना दिया था और जब इस पितृभकत बालक ने श्रवण की पितृभक्ति पर एक पुराना नाटक पढ़ा तो अंधे माता-पिता को कांवर में बिठाकर तीर्थ-यात्रा के लिए ले जाते हुए श्रवण का चित्र कोमलमति मोहन के मस्तिष्क पर अमिट रूप से अंकित ही नहीं हुआ, श्रवण उसका आदर्श भी बन गया। माता-पिता की आज्ञा का पालन उसका मूल-मंत्र हो गया। जैसे-जैसे समय बीतता गया, माता-पिता के साथ-साथ पहले शिक्षकों और तब सभी बड़े लोगों की आज्ञा का तत्परता से पालन करना उसका अटल नियम बन गया। लेकिन बाल-सुलभ आचरणों के इस परित्याग ने उसे इतना संकोची, भीरु और झेंपू बना दिया कि उसने हमउम्र बालकों के साथ खेलना ही नहीं, बोलना-बतियाना भी बंद कर दिया। वह अपने को इतना हीन और अयोग्य समझने लगा कि यदि स्कूल में कोई पुरस्कार अथवा पदक मिलता तो इस आशंका से उसे अंदर की जेब में रख लेता कि कहीं दूसरों को उसकी योग्यता की जानकारी न हो जाए।

मानो इतना काफी न हो, इसलिए तेरह वर्ष की कच्ची उम्र में उस बेचारे का विवाह भी कर दिया गया। माता-पिता ने बचत और सुविधा के लिहाज से तीन शादियाँ एक साथ कीं - मोहन की, कृष्णदास की और उसके एक चचेरे भाई की। मोहन की वधू गांधी-परिवार के मित्र और पोरबंदर के एक व्यापारी गोकलदास मकनजी की पुत्री थीं। इन बच्चों में और खासतौर पर मोहन में किशोरावस्था की उमंग के तूफानी जोश से प्रेम का उदय हुआ। एक छोटी-सी गुज़राती पुस्तक से मोहन ने पत्नी के प्रति आजीवन निष्ठावान रहने का आदर्श ग्रहण किया। अपने इस संकल्प के बाद वह इस नतीजे पर पहुँचा कि पत्नी को भी उसके प्रति ऐसी ही निष्ठा बरतनी चाहिए। मतलब यह कि पत्नी के चाल-चलन पर चौकसी रखने का उसे पूरा-पूरा अधिकार है। सहेलियों के यहाँ या मंदिर जाने के लिए उसे अपने पति से इजाज़त लेनी होती थी। मोहन उन दिनों एक बुरे मित्र की सोहबत में था, जिसने उसकी ईर्ष्या को भड़काकर मामले को और भी जटिल कर दिया था। नन्हीं कस्तूरबाई बड़ी ही मनस्वी लड़की थीं। पति के इस प्रकार के मूर्खतापूर्ण नियंत्रणों से नाराज हो जातीं और शांत एवं दृढ़ ढंग से उनका विरोध करतीं। संदेहों एवं आशंकाओं के वे दु:खभरे दिन

युवा पति के लिए काफी शिक्षाप्रद सिद्ध हुए। कई बरसों बाद, जॉन एस. होईलैंड से इस प्रसंग की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा : “पत्नी को अपनी इच्छा के आगे झुकाने की कोशिश में मैंने उनसे अहिंसा का पहला सबक सीखा। एक ओर तो वह मेरे विवेकहीन आदेशों का दृढ़ता से विरोध करतीं, दूसरी ओर मेरे अविचार से जो तकलीफ होती उसे चुपचाप-सह लेती थीं। उनके इस आचरण से मुझे अपने-आप पर शर्म आने लगी और मैं इस मूर्खताभरे विचार से अपना पीछा छुड़ा सका कि पति होने के नाते मैं उनपर शासन करने के लिए जनमा हूँ। इस तरह वह अहिंसा की शिक्षा देनेवाली मेरी गुरु बनीं।" विवाह का सीधा नतीजा यह हुआ कि मोहन उस साल स्कूल में फेल हो गया। लेकिन अगले साल उसने एक साथ दो कक्षाओं की परीक्षा देकर इस नुकसान की भरपाई कर ली। उसके बड़े और चचेरे भाइयों को तो शादी के कारण पढ़ाई से ही हाथ धोना पड़ा था; लेकिन सौभाग्य से मोहन के साथ ऐसा नहीं हुआ, उसकी पढ़ाई जारी रही।

आज्ञाकारी होने का मोहन को मन-ही-मन बड़ा गर्व था। उसने बड़ों की आज्ञा का पालन करना सीखा था, मीन-मेख निकालना नहीं। लेकिन एक समय आया जब यह आज्ञाकारिता उसके लिए दु:खदाई हो गई। किशोरावस्था के विद्रोह का रूप तोड़े जानेवाले निषेधों और वर्जनाओं की शक्ति पर निर्भर करता है। गांधी परिवार वैष्णव संप्रदाय का अनुयायी था। इस संप्रदाय में मांस-भक्षण और धूम्रपान घोर पाप माने जाते थे। इसलिए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि मोहन अपने जीवन के इस विद्रोही काल में मांस-भक्षण और धूम्रपान के प्रलोभनों में फँस गया। महताब नामक एक धूर्त सहपाठी ने बड़ी चतुराई से उसे इस जाल में फँसाया। मांस खाने का ज़ोरदार समर्थन करते हुए उसने कहा कि ऊपर से चाहे जितनी कसमें खाएं, मगर शहर के ज्यादातर बाशिन्दे, यहाँ तक कि मदरसे के मास्टर भी छिप-छिपकर गोश्त खाते हैं। गोश्त खानेवाले अंग्रेज़ों को ही देख लो, कितने हट्टे-कट्टे होते हैं, साग-सब्जी खानेवाले हिन्दुस्तानी आजतक उन्हें हटा नहीं सके; गोश्त खाना सब बीमारियों की हुक्मी दवा है, इसको खानेवाले के फोड़े-फुंसी नहीं होते, और जिन भूतों से सपने में इतना डरते हो, वे तो जहाँ तुमने गोश्त खाया कि रफूचक्कर हुए !

दोस्त के इन ज़ोरदार कुतर्कों ने मोहन की सारी दलीलों को काट फेंका। लेकिन वह अपने माता-पिता को आघात नहीं पहुँचाना चाहता था, इसलिए नदी के किनारे सुनसान जगह में मांस

खाने का इंतजाम किया गया। पहली बार मांस खाने के बाद उसकी वह रात बहुत बुरी तरह गुजरी। लगता था जैसे बकरा पेट में मिमिया रहा हो। लेकिन थोड़े-थोड़े फासले से मांसाहार का यह सिलसिला बराबर चलता रहा और शुरू-शुरू में जो घबराहट हुई थी, उसपर मोहन ने काबू पा लिया। लेकिन एक उलझन फिर भी बनी रही। चोरी-छुपे मांस खा आने के बाद, हर बार घर में भोजन के समय माँ के आगे भूख न होने का बहाना करना पड़ता था, और झूठ बोलना मोहन की आदत के खिलाफ था। आखिर में उसने यह फैसला किया कि जब बड़ा हो जाऊँगा और अपने किए की दूसरों को कैफियत नहीं देनी होगी तभी मेरे लिए मांस खाना उचित होगा।

धूम्रपान इस उम्र का दूसरा अपराध था। एक हमजोली के साथ मोहन अपने काका के द्वारा फेंके हुए बीड़ी के टुकड़े पीने लगा। लेकिन इसमें पूरा मज़ा नहीं आता था और खरीदकर बीड़ी पीने के लिए उनके पास पैसे नहीं थे, इसलिए वे नौकरों के पैसे चुराने लगे। यह लूट-खसोट भी ज्यादा काम नहीं आई, तब विवश होकर वे एक जंगली पौधे के पोले डंठल को पीने लगे। इससे तकलीफ होती, यहाँतक कि जीवन ही बेकार मालूम पड़ने लगा। अंत में इतने निराश हो गए कि आत्महत्या के द्वारा उस विकट समस्या को सुलझाने के इरादे से एक शाम सूने मंदिर में पहुँचे। मगर ऐन वक्त पर हिम्मत जवाब दे गई और इस दुनिया से किनारा करने के बदले उन्होंने धूम्रपान से ही किनारा करने का फैसला कर लिया।

इसी उम्र में मोहन ने चोरी भी की। अपने भाई का कर्ज चुकाने के लिए उसने सोना चुराया था। लेकिन उसकी आत्मा अपराध के इस बोझ को सह न सकी। एक पत्र में इस अपराध की बात लिखकर उसने पिताजी को सूचित कर दिया और उनसे माफी माँगी। पिता और पुत्र दोनों एक साथ रो उठे । पुत्र ने रोकर पश्चात्ताप किया और पिता ने आँसू बहाते हुए उसे माफ कर दिया।

मोहन की किशोरावस्था उसकी उम्र के दूसरे लड़कों से अधिक उपद्रवकारी नहीं थी। मांस-भक्षण और धूम्रपान-जैसे निषिद्ध कार्य करने का दुस्साहस या छोटी-मोटी चोरियाँ इस उम्र के लड़कों के लिए गैरमामूली बात न तब थी, न अब है। लेकिन जिस तरीके से मोहन के दुस्साहसपूर्ण कार्यों का अंत हुआ वह ज़रूर असाधारण है। हर बार उसने एक समस्या को उठाया और नैतिक

आधार पर उसका हल ढूँढा। हर अपराध के बाद उसने आगे कभी वैसा अपराध न करने की कसम खाई और हमेशा उस कसम को निभाया।

शायद एक अस्वाभाविक गंभीरता और संकोच-भीरुता के अलावा उसमें और उसकी उम्र के दूसरे लड़कों में कोई फर्क नहीं था। देखने में वह उन लड़कों जैसा नहीं लगता था, जो धक्का-मुक्की करके भीड़ में से रास्ता बना लेते हैं। ऊपर से शांत और उत्साहहीन दिखाई देने के बावजूद उसमें आत्मोन्नति की प्रबल लालसा थी। जो अच्छा न लगे उसे भूल जाना और जो अच्छा लगे उसे करते जाना उसकी आदत में शुमार हो गया था। जिसे दूसरे लड़के मनोरंजन के लिए पढ़ते थे उसे वह ज्ञान हासिल करने के लिए पढ़ता था। भारत के लाखों बच्चों ने प्रह्लाद और हरिश्चंद्र की कथाएँ सुनी या पढ़ी हैं। प्रह्लाद असह्य कष्ट सहकर भी भगवान् की भक्ति पर अटल रहा और हरिश्चंद्र ने सत्य के लिए सर्वस्व का त्याग कर दिया। ये पौराणिक चरित्र असल में कवि की काल्पनिक सृष्टि हैं और पुराणों के पाठक इन्हें कवि-कल्पना ही समझते हैं। लेकिन मोहन के लिए वे जीवित आदर्श थे। इतिहास अथवा साहित्य उसके लिए विस्मय के अक्षय कोष ही नहीं, उच्च और पवित्र जीवन के अजस्र प्रेरणा-स्रोत भी थे। जब उसकी उम्र के दूसरे बच्चे रस्मी इनामों और तमगों के लिए होड़ बद रहे होते, यह भावुक लड़का अपने लिए नैतिक समस्याओं को उभारकर उन्हीं में उलझा रहता और उनका समाधान खोजा करता।

---

1. 'महादेवभाई की डायरी; अंग्रेज़ी संस्करण; खंड 1, 31 मार्च, 1932 का उल्लेख ।

२. इंग्लैंड में

1887 में मोहन ने मैट्रिक की परीक्षा पास की। एक साल पहले पिता की मृत्यु हो जाने से घर की आर्थिक हालत बहुत बिगड़ गई थी। घर में पढ़ाई जारी रखनेवाला अकेला वही लड़का था। परिवार को उससे बड़ी उम्मीदें थीं। इसलिए आगे पढ़ाने के लिए उसे पास के शहर भावनगर के कॉलेज में दाखिल कराया गया। लेकिन वहाँ पढ़ाई अंग्रेज़ी में होती थी। मोहन अंग्रेज़ी के व्याख्यान समझ नहीं पाता था। उसे बड़ी निराशा होती, यहाँतक कि तरक्की और कामयाबी की उम्मीद ही नहीं रह गई।

इसी बीच परिवार के एक मित्र, भावजी दवे ने सुझाया कि मोहन को इंग्लैंड जाकर कानून पढ़ना चाहिए। उन दिनों इंग्लैंड से बैरिस्टरी करना कहीं आसान था। उसकी तुलना में भारत के विश्वविद्यालय से डिग्री हासिल करने में धन, समय और शक्ति तीनों अधिक लगते थे और नौकरी के बाजार में उस डिग्री की उतनी कद्र भी नहीं थी। बंबई की डिग्री हासिल कर लेने पर ज्यादा-से-ज्यादा क्लर्की मिल सकती थी, और दवे साहब का कहना था कि अगर मोहन अपने दादा और पिता की तरह काठियावाड़ की किसी रियासत का दीवान बनना चाहे तो उसे विदेश के किसी विश्वविद्यालय की डिग्री की ज़रूरत होगी। करमचंद और उत्तमचंद गांधी ऊँचे पदों पर थे और उन्होंने थोड़ी-सी शिक्षा से ही अपना काम चला लिया था, मगर अब जमाना बदल गया था। मैकाले की शिक्षा-योजना लागू हो चुकी थी। भारतीय विश्वविद्यालय हर साल हज़ारों की संख्या में कला और कानून के स्नातक तैयार कर रहे थे। ऐसे स्नातकों की तादाद बहुत अधिक हो गई थी। इसलिए विलायत जाकर डिग्री हासिल करना ऊँची नौकरी की होड़ में यकीनन फायदे की बात थी।

विदेश जाने की बात सुनकर मोहन खुशी से नाच उठा। भावनगर कॉलेज के अध्यापकों के लेक्चर उसकी समझ में नहीं आते थे। इसलिए दार्शनिकों और कवियों के देश और सभ्यता के केन्द्र इंग्लैंड को देखने की उत्कंठा के साथ-साथ कॉलेज से छुटकारा पाने की आशा बलवती हो उठी। उसके बड़े भाई को भी यह प्रस्ताव पसंद आया। पर उन्हें इस बात की फिक्र होने लगी कि खर्च के लिए पैसा कहाँ से आएगा? और माता पुतलीबाई की तो छाती ही बैठ गई। अपने सबसे

छोटे और लाड़ले बेटे को वह समंदर-पार विलायत के अनजाने प्रलोभनों और खतरों के बीच कैसे भेज देतीं ? यह मसला उनके लिए बहुत बड़ा और टेढ़ा था। जब इसमें उन्हें अपनी अकल चलती दिखाई न दी तो वह सोचने लगीं कि “काश, इसका फैसला करने के लिए आज मोहन के पिता जीवित होते !” अंत में उन्होंने मोहन को अपने काका के पास, जो गांधी-परिवार के बुजुर्ग और कर्ता-धर्ता थे, इस मामले में सलाह के लिए भेजा। बैलगाड़ी और ऊँट पर यात्रा करके मोहन काका से मिलने के लिए पोरबंदर पहुँचा | काका ने आवभगत और स्नेह तो बहुत किया, लेकिन धर्म को भ्रष्ट करनेवाली समुद्री यात्रा के लिए इजाज़त देने को खुले मन से राज़ी न हुए। मोहन पोरबंदर राज्य के अंग्रेज़ हाकिम मि. लेली से वजीफा माँगने भी गया। गांधी-परिवार ने उस राज्य की बड़ी सेवाएँ की थीं, लेकिन वहाँ भी निराशा ही हाथ लगी। उस अंग्रेज़ अफसर ने नाम-मात्र का सौजन्य दिखाते हुए कहा, “पहले बंबई विश्वविद्यालय की डिग्री ले लो, इंग्लैंड के लिए वजीफे की बात बाद में करना।” इस तरह हर कदम पर निराशा का सामना करना पड़ रहा था, लेकिन मोहन ने हिम्मत नहीं हारी। वह जानता था कि अगर इंग्लैंड जाना न मिला तो फिर भावनगर लौटना होगा, जो उसे ज़रा भी पसंद न था। कोई चारा न देख वह पत्नी के गहने तक बेचने की बात सोचने लगा। लेकिन जब उदारमना बड़े भाई ने रुपया इकट्ठा कर देने की हामी भर ली तो यह मजबूरी गैरज़रूरी हो गई । और माँ के इत्मीनान के लिए बेचरजी स्वामी नामक एक जैन मुनि ने मोहन से परदेस में औरत, शराब और मांस को न छूने की प्रतिज्ञा करवा ली।

लेकिन एक नई बाधा ठीक उस समय आ खड़ी हुई, जब मोहन समुद्र- यात्रा पर रवाना हो ही रहा था। उसकी जाति के बड़े-बूढ़े मोढ़ बनियों ने जाति की पंचायत करके मोहन से साफ शब्दों में कह दिया, “इंगलैंड जाना हिन्दू धर्म के खिलाफ है।” इसपर उन्नीस बरस का वह युवक, जो कॉलेज के विदाई-समारोह में धन्यवाद के दो शब्द भी ठीक ढंग से बोल नहीं सका था, अपनी जाति के बड़ी-बड़ी डाढ़ियोंवाले खुर्राट नेताओं के चढ़े तेवरों का मुकाबला करने के लिए डट गया। मोहन की इस बेअदबी से नाराज होकर पंचों ने उसे जाति से बहिष्कृत करने का फतवा दे डाला, लेकिन उनके इस नादिरशाही हुक्म के अमल में आने से पहले ही, 4 सितंबर 1888 को, मोहन बंबई से विदेश जाने के लिए रवाना हो गया।

राजकोट के देहाती वातावरण से एकदम जहाज का सार्वदेशिक वातावरण मोहन के लिए बड़ा भारी परिवर्तन था। पश्चिमी ढंग के भोजन, यूरोपीय वेशभूषा और रीति-रिवाजों में अपने आपको ढालना उसके लिए बड़ा ही कष्टदायी काम था। साथ के यात्री जब बोलते या पुकारते तो उससे जवाब देते नहीं बनता था। स्कूल और कॉलेज में जो थोड़ी-बहुत अंग्रेज़ी सीखी थी वह यहाँ काम नहीं आती थी। जब भी बोलने के लिए मुँह खोलता अपनी मूर्खता और अज्ञान का विचार उसके मन को बुरी तरह कचोटने लगता था। मांस न खाने की प्रतिज्ञा ने उसकी कठिनाइयों को और भी बढ़ा दिया था। बैरे से यह पूछने की हिम्मत न हो पाती थी कि खाने की कौन-सी चीज़ किसकी बनी है, इसलिए घर से लाई हुई मिठाई और फलों से ही वह अपना काम चला रहा था। बिन माँगी सलाह देकर उसकी घबराहट को बढ़ानेवालों की कोई कमी नहीं थी। एक सहयात्री ने उससे कहा कि अदन के बाद मांस खाए बिना तुम्हारा काम चलने का नहीं। जब अदन खैरियत से पार हो गया तो उसे चेतावनी दी गई कि लाल सागर के बाद तो मांस खाना निहायत ज़रूरी हो जाएगा और भूमध्यसागर में पहुँचने पर तो मौत के एक मसीहा ने बड़ी गंभीरता से यह घोषणा कर दी कि बिस्के की खाड़ी में पहुँचने पर मांस-मदिरा का सेवन करने या मौत को गले लगाने के सिवा और कोई चारा नहीं है।

इंग्लैंड पहुँचने के बाद अकेलापन उसपर पूरी तरह हावी हो गया। इसका एक कारण तो यह था कि अपनी मर्जी से देश छोड़कर आनेवाले हर भारतीय विद्यार्थी की तरह उसे भी परदेश में घर की याद सताती थी, और फिर आत्मविश्वास की कमी, झेंपूपन और अतिशय भावुकताजन्य संशय और आशंकाएं उसके अकेलेपन की भावना को और उभार देती थीं। अक्सर उसका मन भटककर राजकोट के अपने घर में प्यारी माँ, पत्नी और नन्हें बच्चे के पास पहुँच जाता था। उसे अपना भविष्य अंधकारमय दिखाई देने लगता था। दूसरी तरह के जलवायु, अनोखे वातावरण और नए प्रकार के रहन-सहन में अपने-आपको ढाल लेना आसान नहीं था। निरामिष भोजन की अपनी प्रतिज्ञा के कारण उसे हमेशा अधपेट रहने को मजबूर होना पड़ता था, फिर लोग उसकी खिल्ली भी उड़ाते थे। अकेलेपन के अतिशय दुःख से घबराकर जब वह सोचता कि लंबे-लंबे तीन साल यहाँ काटने होंगे तो उसकी आँखों की नींद उड़ जाती और वह फूट-फूटकर रोने लगता।

शाकाहार की प्रतिज्ञा उसके जी का जंजाल हो गई थी। इंग्लैंड के उसके मित्रों को यह फिक्र सताने लगी कि खान-पान का परहेज उसके स्वास्थ्य को चौपट ही नहीं कर देगा, वह यहाँ के समाज में घुल-मिल भी नहीं पाएगा और खासा नक्कू बनकर रह जाएगा। मांस खानेवालों की दलीलों का वह जवाब नहीं दे पाता था। सचाई तो यह है कि मांस खाने की उसकी इच्छा भी होती थी, लेकिन प्रतिज्ञा के कारण हाथ बंधे हुए थे। जब मन बहुत चलायमान हो जाता तो माँ से की हुई प्रतिज्ञा का पालन करने की शक्ति पाने के लिए हाथ जोड़कर भगवान् से प्रार्थना करने लगता था।

एक दिन लंदन में घूमते हुए फेरिंग्डन स्ट्रीट में सहसा उसे एक शाकाहारी रेस्तराँ मिल गया। इस बारे में वह स्वयं लिखता है कि “इस रेस्तराँ को देखकर मुझे उतनी ही खुशी हुई जितनी अपनी मनपसंद चीज़ को पाकर किसी बच्चे को होती है।” भारत से आने के बाद पहली बार इस होटल में भरपेट खाना खाया। यहाँ से उसने शाकाहार का समर्थन करनेवाली 'प्ली फार वेजीटेरियनिज़्म'[1] नामक किताब भी खरीदी, जिसके लेखक मिस्टर साल्ट थे। उनके तर्क उसके मन को भा गए। अबतक निरामिष भोजन उसके लिए भावना का विषय था, इस पुस्तक को पढ़ने के बाद वह तर्क-संगत विश्वास और आस्था बन गया। माँ के प्रति सम्मान-भावना से अपनाया हुआ शाकाहार एक असुविधाजनक प्रतिज्ञा थी, जो अब उसके जीवन का लक्ष्य हो गया और उसने एक ऐसे शारीरिक और मानसिक अनुशासन को जन्म दिया, जिसकी बदौलत उसका पूरा जीवन ही बदल गया। इस रेस्तराँ की खोज का सही महत्त्व वह उस समय नहीं आंक पाया। लेकिन यहीं से उसकी विकास-यात्रा का वह लंबा और कठिन मगर पक्का रास्ता शुरू होता है जो उसे लंदन की फेरिंग्डन स्ट्रीट से दक्षिण अफ्रीका की फिनिक्स और टॉल्स्टाय बस्तियों से होता हुआ भारत में साबरमती और सेवाग्राम आश्रमों तक ले जाता है।

शाकाहार के प्रति दृष्टिकोण के इस परिवर्तन से गांधीजी में एक नए आत्मविश्वास का उदय हुआ। लोगों द्वारा सनकी समझे जाने की अब उन्हें ज़रा भी परवा नहीं थी। मित्रों को यह अंदेशा तो था ही कि निरामिष भोजन कहीं उनकी तंदुरुस्ती को खराब न कर दे। अपने इन आलोचकों का मुँह बंद करने और यह दिखा देने के लिए कि निरामिषभोजी भी अपने को नए

वातावरण में ढाल सकता है, उन्होंने काफी ज़ोर-शोर से अंग्रेज़ी तौर-तरीकों को अपनाना शुरू कर दिया। इस दिशा में उन्हें अभी बहुत-कुछ सीखना था। भारत के स्कूल और कॉलेज में वह काठियावाड़ी पोशाक पहनते थे, इसलिए जहाज पर यात्रा करते समय और इंग्लैंड पहुँच जाने पर भी उन्हें यूरोपीय पोशाक में बड़ी असुविधा होती और वह भोंडी भी लगती थी। अंग्रेज़ी उन्हें इतनी कम आती थी कि मामूली बातचीत में भी पहले मातृभाषा में सोचकर तब अंग्रेज़ी में उलथा करना पड़ता था।

अब सोलहों आना अंग्रेज़ बनने का निश्चय कर लेने के बाद उन्होंने इसके लिए न धन की परवा की, न समय की। जब अंग्रेज़ियत का मुलम्मा चढ़ाने का फैसला कर लिया तो वह बढ़िया-से-बढ़िया होना चाहिए, कीमत जो भी देनी पड़े। लंदन के सबसे फैशनेबुल और मंहगे दर्जियों से सूट सिलवाए गए। घड़ी में लगाने के लिए भारत से सोने की दुलड़ी चेन मंगवाई गई। बातचीत करने, नाचने और गाने की बाकायदा शिक्षा विशेषज्ञों से ली जाने लगी। इस तरह की शिक्षा-दीक्षा और वेशभूषा से सज्जित बीस बरस के एम. के. गांधी को, 1890 के फरवरी महीने में, पहली बार पिकैडली सर्कस में देखने के बाद उनके समकालीन श्री सच्चिदानंद सिनहा पर जो छाप पड़ी उसका वर्णन करते हुए वह लिखते हैं, “उन्होंने एक चमचमाती हुई रेशमी टाप हैट पहन रखी थी। ग्लैडस्टन-शैली का उनका कालर एकदम कड़क कलफवाला था। पतली धारियोंवाली बढ़िया रेशमी कमीज पर इंद्रधनुष के सातों रंगोंवाली शोख टाई बांधी गई थी। गहरे रंग की धारीदार पतलून पर उसी के मेल की दुहरी पल्लेवाली वास्केट और ऊपर मार्निंग कोट पहिना था। पांवों में पेटेंट चमड़े के बूट और टखनों को गरमानेवाली पट्टियाँ (स्पैट्स) थीं। हाथों में चमड़े के दस्ताने और चांदी की मूठवाली छड़ी भी। चश्मा ज़रूर नहीं लगा रखा था। उस जमाने की प्रचलित भाषा में कहें तो खासमखास छैला, दिलफेंक रंगीला—एक ऐसा विद्यार्थी जो पढ़ाई से मुँह मोड़कर फैशन और मौज-शौक में गले तक डूबा हो।[2]

लेकिन गांधीजी इन प्रयोगों में अपने-आपको दिलोजान से कभी नहीं लगा सके। आत्म-निरीक्षण की उनकी आदत ने कभी उनका पीछा नहीं छोड़ा। अंग्रेज़ी नाच और गाना सीखना उनके लिए आसान काम नहीं था। दर्जी, बजाज और नाचघर उन्हें 'अंग्रेज़ साहब' तो ज़रूर बना

देते, लेकिन वह साहबियत सिर्फ शहराती और ऊपरी होती। उनके भाई परिवार का पेट काटकर और शायद कर्ज़ लेकर, विलायत की महँगी पढ़ाई जारी रखने के लिए पैसा भेज रहे थे। जब गांधीजी ने इन सारी बातों पर विचार किया तो उन्हें लगा कि अंग्रेज़ साहब बनने की मरीचिका निरी मूर्खता है।

तीन महीने फैशन की चकाचौंध में भटकने के बाद उनका आत्मलीन मन फिर अपने घोंघे में आ बैठा। अंधाधुंध फिजूलखर्ची ने अब अत्यधिक सतर्कतापूर्ण मितव्ययिता का रूप ले लिया। वे एक-एक फार्दिंग का हिसाब रखने लगे। सस्ते कमरे में आकर रहने लगे। नाश्ता खुद बना लेते और बस-किराया बचाने के लिए रोज़ आठ-दस मील पैदल चलते। इस तरह वह अपना पूरे महीने का खर्च सिर्फ दो पौंड में चला लेते थे। परिवार के प्रति कृतज्ञता और अपने दायित्व को वह बड़ी गंभीरता से अनुभव करते और उन्हें इस विचार से खुशी होती कि अब भाई से खर्च के लिए ज्यादा पैसा नहीं मँगवाना पड़ेगा। सादगी ने उनके जीवन के बाह्य और आंतरिक दोनों पक्षों को संतुलित कर दिया। शुरू के तीन महीनों की फैशनपरस्ती तो जो लोग उन्हें अंग्रेज़ी समाज में घुलने-मिलने के लिए अनुपयुक्त समझते थे, उनसे बचने का केवल रक्षात्मक आवरण थी।

आहारशास्त्र और धर्म को एक-दूसरे से जोड़ना ज्यादती ही है, लेकिन गांधीजी के विकास में ये दोनों अविच्छिन्न रूप से जुड़े हुए हैं। शुरू-शुरू की निरामिषता उनकी वैष्णव वंश-परंपरा का अंग थी। उनके परिवार में मांस-भक्षण निषिद्ध समझा जाता था। कुछ समय के लिए उनके सहपाठी शेख महताब ने मांस खाने के लिए उन्हें चतुराई से फुसला ज़रूर लिया था, लेकिन माता-पिता से झूठ बोलना उन्हें पसंद नहीं था, इसलिए उन्होंने फैसला किया कि बड़ी उम्र में खुद मुख्तार हो जाने पर ही इस नियामत का उपभोग करेंगे। माँ से मांस न खाने की जो प्रतिज्ञा कर आए थे, इंग्लैंड में बड़ी सावधानी से उसका पालन करते रहे। लेकिन वह प्रतिज्ञा तर्कसम्मत होने की अपेक्षा भावना- जन्य ही अधिक थी और गांधीजी भी इस बात को अच्छी तरह जानते थे। निरामिष भोजन की अच्छाइयों का ज्ञान उन्हें साल्ट की पुस्तक पढ़ने के बाद ही हुआ। फिर तो नए मुल्ला के उत्साह से वह आहारशास्त्र की किताबों-पर-किताबें पढ़ने और पाक-विज्ञान के प्रयोग करने में जुट गए। उन्होंने मिर्च-मसाले छोड़ दिए और यह नतीजा निकाला कि स्वाद का संबंध जीभ से

उतना नहीं, जितना मन से है। स्वाद और रसना पर नियंत्रण उस आत्मानुशासन की दिशा में पहला कदम था, जो कई बरसों के बाद समग्र संयम में प्रस्फुटित हुआ। आहार के जो प्रयोग उन्होंने स्वास्थ्य और मितव्ययिता की दृष्टि से शुरू किए थे, वे आगे चलकर उनके धार्मिक और आध्यात्मिक विकास के अंग बन गए।

इंग्लैंड में शाकाहार के तर्कसम्मत रूप ग्रहण करने का तात्कालिक परिणाम यह हुआ कि उनकी झिझक काफी हद तक मिट गई और वह संकोच छोड़कर धीरे-धीरे समाजोन्मुख होने लगे। 'वेजीटेरियन' (शाकाहारी) पत्रिका में नौ लेख लिखकर उन्होंने पत्रकारिता की दिशा में पहला कदम उठाया। ये लेख मुख्यतः वर्णनात्मक थे। इनमें भारतीयों के भोजन, आदतों, सामाजिक प्रथाओं और त्यौहारों का वर्णन किया गया था और यहाँ-वहाँ व्यंग्य की फूहारें भी थीं। यदि इस तथ्य को ध्यान में रखकर विचार किया जाए कि भावनगर कॉलेज में अंग्रेज़ी व्याख्यानों को वह समझ नहीं पाते थे तो इन लेखों को छपने के लिए भेजना निस्संदेह उनकी बहुत बड़ी उपलब्धि थी। वह लंदन की शाकाहारी संस्था की कार्यकारिणी के सदस्य बन गए और उसका सदस्य-पदक बनाने का काम उन्होंने अपने जिम्मे ले लिया। वेजवाटर में, जहाँ वह कुछ समय तक रहे थे, उन्होंने एक शाकाहारी क्लब की स्थापना भी की। उस समय के प्रमुख शाकाहारी सर एडविन आर्नोल्ड से उनका संपर्क भी हुआ। इनकी लिखी 'लाइट ऑफ एशिया (एशिया की ज्योति : बुद्ध-चरित्र) और 'सौंग सेलेशियल' (दिव्य संगीत : भगवद्गीता का अनुवाद) का गांधीजी पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। लंदन के निरामिष जलपान-गृहों और भोजनागारों में उनकी भेंट खान-पान में परहेज करनेवाले धुनियों और सनकियों से ही नहीं, कट्टर धर्म-धुरीण व्यक्तियों से भी हुई। इन्हीं धर्म-धुरीणों में से किसी एक के द्वारा गांधीजी का बाइबल से पहला परिचय हुआ। ।

इंग्लैंड में तीन वर्ष रह लेने के बाद भी उनका बेहद शर्मीलापन पूरी तरह से दूर नहीं हुआ। शाकाहारियों के संगठन के अतिरिक्त जिस दूसरे संगठन ने उन्हें आकर्षित किया, उसका नाम था अंजुमन इस्लामिया। यह भारत के मुसलमान विद्यार्थियों का संगठन था। ये विद्यार्थी जलपान गोष्ठियों में सामाजिक और राजनैतिक प्रश्नों पर बहस किया करते थे। गैर-मुस्लिम विद्यार्थी भी इन चर्चाओं में भाग ले सकते थे। इस प्रकार यह संगठन इंग्लैंड में कई ऐसे भारतीय विद्यार्थियों

को एक-दूसरे के निकट लाया, जिन्होंने बाद में भारत के सार्वजनिक जीवन में बड़ा नाम और काम किया। इन लोगों में गांधीजी, अब्दुर्रहीम, मज़रूल हक, मुहम्मद शफी, सच्चिदानंद सिनहा और हरिकृष्णलाल गोबा मुख्य थे। गांधीजी सच्चिदानंद सिनहा और हरिकृष्णलाल की तरह राष्ट्रवादी विचारों के थे, परंतु वह बहुत कम बोलते थे और दूसरों की तरह अपने मत का आग्रहपूर्वक प्रतिपादन करने की क्षमता भी उनमें नहीं थी।

अठारहवी सदी के आठवें और नवे दशक के इंग्लैंड में नई साहित्यिक, सामाजिक और राजनैतिक शक्तियाँ उभर रही थीं। पर गांधीजी के उनसे प्रभावित होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। अपने इंग्लैंड-निवास के बारे में उन्होंने चालीस पृष्ठों का जो विवरण लिखा है उसमें कहीं भी कार्ल-मार्क्स, डार्विन या हक्सले का उल्लेख नहीं है। विज्ञान, साहित्य और राजनीति उन्हें आंदोलित नहीं कर पाते थे। वह पूरी तरह निज़ी और नैतिक प्रश्नों में ही उलझे रहते। इस समय उनकी सबसे महत्त्वपूर्ण और जटिल समस्याएं थीं—माता से की हुई प्रतिज्ञा को निभाने के लिए मन की दृढ़ता, मांस, मदिरा और मायाविनी के निरंतर प्रलोभनों से अपनी रक्षा; और दैनंदिन जीवन में सादगी, मितव्ययिता और सोद्देश्यवा का समावेश। उनकी पत्रकारिता 'वेजीटेरियन' में लेख लिखने तक सीमित रही और स्वाध्याय 'गीता' तथा बाइबल के 'नए इकरार' (न्यू-टेस्टामेंट) तक। धर्म को छोड़ किसी भी विषय में उनका मन नहीं रमा था और उनका धर्म-संबंधी ज्ञान भी अभी अधूरा और आरंभिक था, यहाँतक कि हिन्दू-धर्म-संबंधी ज्ञान भी।

20 जून, 1891 के 'वेजीटेरियन' के एक लेख में गांधीजी ने अपने इंग्लैंड में बिताए दिनों का लेखा-जोखा करते हुए लिखा है, "अंत में मुझे यह मंजूर करना चाहिए कि इंग्लैंड में तीन साल रहने के बाद भी कई ऐसे काम हैं, जिन्हें मैं कर नहीं सका...लेकिन फिर भी इतना संतोष मुझे ज़रूर है कि यहाँ रहते हुए मैंने मांस और मदिरा को नहीं छुआ और अपने व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर जानता हूँ कि इस देश में भी कई शाकाहारी हैं।"

इस तरह गांधीजी ईमानदार परंतु संकोच-भीरु युवक थे। उनकी कुछ निश्चित परंतु सीमित रुचियाँ थीं। घोर पक्षपाती निरीक्षक भी इंग्लैंड से भारत के लिए रवाना होनेवाले इस युवक बैरिस्टर में किसी विशेष योग्यता के लक्षण या चिह्न नहीं खोज सकता था। ऐसा लगता ही नहीं था कि वह

किसी पेशे में चमकने और नामवरी हासिल करने के लिए बने हों। कानून और राजनीति में उनके नाम कमाने की बात तो सोची भी नहीं जा सकती थी।

---

1. 'शाकाहार के पक्ष-समर्थन में'।

2. 'अमृत बाजार पत्रिका' के 26 जनवरी, 1950 के गणतंत्र-दिवस विशेषांक में प्रकाशित लेख।

३. असफल बैरिस्टर

अंग्रेज़ी तौर-तरीकों को सीखने से मुँह मोड़कर जब गांधीजी ने सारा ध्यान अध्ययन की ओर लगा दिया तो कानून की पढ़ाई के बाद भी काफी समय बचने लगा। उन्होंने इस समय का सदुपयोग अपनी शिक्षा-संबंधी बुनियादी कमी को दूर करने में किया। हाई स्कूल तक की उनकी शिक्षा मामूली ही थी, खासतौर पर अंग्रेज़ी में कच्चे थे वह जिससे खासी दिक्कतों का सामना करना पड़ता था। कैम्ब्रिज या ऑक्सफोर्ड में भर्ती होने के लिए न तो समय था और न पैसा ही, इसलिए उन्होंने लंदन विश्वविद्यालय की मैट्रिक परीक्षा देने का फैसला किया और तैयारियों में लग गए। पहली बार लैटिन में नापास हो गए, पर हिम्मत नहीं हारी। मेहनत करके दुबारा बैठे और पास हुए। लैटिन भाषा का यह ज्ञान कानून की पढ़ाई में तो काम आया ही आगे चलकर जब दक्षिण अफ्रीका में वकालत की, तब भी इससे बड़ी मदद मिली; क्योंकि वहाँ की अदालतों में रोमन-डच कानून चलता था और अंग्रेज़ी लिखने की उनकी सरल और प्रवाहपूर्ण शैली के निर्माण में भी इस लैटिन-ज्ञान का काफी हाथ है।

उन दिनों कानून की परीक्षाएँ मुश्किल नहीं हुआ करती थीं। परीक्षक उदार होते थे और काफी विद्यार्थी पास हो जाया करते थे। कानून के ज्यादातर विद्यार्थी परीक्षा में पास होने के लिए पाठय-पुस्तकों के सारांश रट लेते थे, लेकिन गांधीजी को यह तरीका अच्छा नहीं लगा। उन्होंने दत्तचित्त होकर पढ़ाई की।

लैटिन भाषा में पूरा 'रोमन ला' पढ़ा, ब्रूम के 'कामन ला'[1] का परिश्रमपूर्वक अध्ययन किया; स्नेल का 'इक्विटी'[2] ट्यूडर के 'लीडिंग केसेज'[3] और विलियम तथा एडवर्ड की 'रीयल प्रापर्टी'[4] पाठ्य-पुस्तकों को खूब मेहनत से और पूरा-पूरा पढ़ा। आत्मविश्वास की कमी और ईमानदार होने के कारण उन्होंने कानून की परीक्षा में ज़रा भी लापरवाही नहीं बरती। पढ़ाई और तैयारी में एडी-चोटी का पूरा ज़ोर लगा दिया। पास हो गए, पर मन में नई चिन्ताएं और नई आशंकाएं उभरने लगीं। कानून तो खैर पढ़ लिया और पास भी हो गए, मगर वकालत कर भी पाएंगे ? चार आदमियों के बीच तो अजनबियों से बोलते नहीं बनता है, भरी अदालत में विरोधी पक्ष के वकील से जिरह और बहस कैसे की जाएगी ? सर फीरोज़शाह मेहता जैसे धाकड़ वकीलों

का नाम उन्होंने सुन रखा था। ऐसे दबंग वकीलों के सामने पड़ जाने पर अपनी दुर्गति के विचार-मात्र से उनका कलेजा काँपने लगता। आखिर किसीसे सलाह लेना बहुत ज़रूरी हो गया, मगर जाते किसके पास ? महान देशभक्त और प्रख्यात वकील दादाभाई नौरोजी उन दिनों इंग्लैंड में ही थे, लेकिन क्या उस समय गांधीजी उनसे मिलने की हिम्मत कर सकते थे ? अंत में एक अंग्रेज़ वकील के पास गए। उसने घबराए हुए भारतीय नौजवान को सलाह दी कि विभिन्न विषयों पर खूब पढ़ो, इतिहास का अपना ज्ञान बढ़ाओ और मानक-स्वभाव का अध्ययन करते रहो। गांधीजी ने बात मान ली। तुरंत बाजार से मुखाकृति-विज्ञान पर एक किताब खरीद लाए और वकालत के मुश्किल काम के लिए वकीलसाहब की सलाह के अनुसार अपने-आपको तैयार करने में लग गए। घबराहट ज़रूर बहुत हो रही थी, इसलिए उस अंग्रेज़ वकील की इस राय से गांधीजी को बड़ी सांत्वना मिली कि उच्चकोटि की विचक्षणता, अच्छी याददाश्त और पूरी काबलियत से ही इस पेशे में सफलता मिलती हो सो बात नहीं, ईमानदारी और मेहनत से काम करनेवाले भी तरक्की कर सकते हैं। मतलब यह कि जब भारत के लिए रवाना हुए तो 'निराशा के घटाटोप में आशा की एक मद्धिम-सी किरण भी थी।'

बंबई में जहाज से उतरते ही एक अत्यंत दु:खद समाचार सुनने को मिला। जब वह इंग्लैंड में थे तभी माँ की मृत्यु हो गई थी। परिवारवालों ने जानबूझकर उनसे इस खबर को छिपाए रखा था। गांधीजी को इस क्रूर आघात से बड़ी गहरी चोट लगी। कई बरसों बाद, अपनी 'आत्मकथा' में उन्होंने लिखा :

"...मेरे बहुत-से मनोरथ मिट्टी में मिल गए।" माता का तप:पूत जीवन, दृढ़ आस्था और प्रचुर प्यार गांधीजी के हृदय-पटल पर अमिट रूप से अंकित हो गया। भविष्य के अपरिग्रही, मौन व्रत और उपवासों में संलग्न, मार्ग-दर्शन के लिए ईश्वर पर निर्भर, घृणा का प्यार से जवाब देनेवाले लुंगीधारी महात्मा के निर्माण में सबसे अधिक प्रभाव उनकी माता पुतलीबाई का ही था।

लौटकर आने पर गांधीजी को सबसे पहले अपनी मोढ़ वणिक् जाति से निपटना पड़ा, जिसने उन्हें विलायत-यात्रा के दंड-स्वरूप जाति से बहिष्कृत कर दिया था। भाई के आग्रह पर गांधीजी को गोदावरी के पवित्र जल में शुद्धि-स्नान के लिए नासिक जाना पड़ा। लेकिन इससे

जाति के सिर्फ एक ही फिरके का समाधान हुआ। दूसरे फिरके ने उनपर लगाई रोक को उठाने से साफ इनकार कर दिया। गांधीजी ने इस अत्याचार का बिलकुल नए ढंग से सामना किया। न तो उन्होंने विरोध किया और न मन में कीना रखा, उल्टे बहिष्कार को मंजूर कर लिया और बराबर उसका पालन करते रहे। इस आचरण से कालांतर में जातिवालों का अत्याचार और विरोध काफी कम हो गया और अंतःकरण की भाषा ने यहाँ तक काम किया कि मोढ़ बनियों में जो कट्टर विरोधी थे, आगे चलकर उनमें से अधिकांश उनके सामाजिक और राजनैतिक आंदोलनों के प्रेबल समर्थक बन गए। आरंभिक काल के इन अनुभवों से गांधीजी के मन में किसी तरह की कटुता नहीं पैदा हुई। वर्णाश्रम धर्म का उन्होंने बराबर समर्थन किया; हाँ, जाति-प्रथा की रूढ़िवादिता और कट्टरता को अवश्य कभी प्रश्रय नहीं दिया।

घरवालों को गांधीजी से बड़ी उम्मीदें थीं, क्योंकि उनकी शिक्षा पर काफी खर्च किया गया था। बड़े भाई तो एक साथ 'धन, नाम और यश' तीनों की आस लगाए बैठे थे। गांधीजी सबकी आशाएं पूरी करने को उत्सुक भी थे। परंतु बैरिस्टरी की डिग्री जादू-टोना तो थी नहीं कि आते ही आदमी अदालत में चमक जाता और वकालत से सोना बरसने लगता ! यहाँ आने पर गांधीजी को पता चला कि विलायत के पाठ्यक्रम में हिन्दू और मुस्लिम कानून पढ़ाया ही नहीं जाता। राजकोट के देशी वकील को भारतीय कानून की ज्यादा जानकारी थी और वह बैरिस्टरों की अपेक्षा फीस भी कम लेता था। ऐसी दशा में राजकोट में प्रैक्टिस करने का अर्थ था अपनी खिल्ली उड़वाना। इसलिए गांधीजी के मित्रों ने उन्हें यह सलाह दी कि वह बंबई जाकर भारतीय कानून का अध्ययन करें, वरिष्ठ न्यायालय में अनुभव प्राप्त करें और इस बीच जो छोटे-मोटे मुकदमे मिल जाएं उन्हें वहाँ की अदालत में लड़ें। गांधीजी उनकी सलाह मानकर बंबई चले आए और भारतीय कानून के अध्ययन में जुट गए। थोड़े ही समय में उन्होंने साक्ष्य अधिनियम (एविडेंस एक्ट) का मनन कर डाला, मेइन के 'हिन्दू लॉ' को छान गए और दीवानी प्रक्रिया संहिता (जाब्ता दीवानी) में भी पारंगत हो गए।

इस तरह भारतीय कानून की जानकारी और समझ तो बढ़ी, लेकिन आमदनी में कोई बढ़ती नहीं हुई। प्रैक्टिस बढ़ाने का आजमूदा ढंग था दलालों को कमीशन देकर मुकदमे पाना,

लेकिन गांधीजी इसे अपने पेशे की शान के खिलाफ और अपमानजनक समझते थे। पर खुद होकर तो मुकदमे देर से ही आते हैं। लंबे इंतजार के बाद ममीबाई नामक एक गरीब औरत का मुकदमा उन्हें मिला। यही उनका सबसे पहला मुकदमा था, जिसके लिए उन्होंने तीस रुपया फीस ली और खाफिफा आदालत के हाकिम के इजलास में पेश हुए । लेकिन जब गवाह से जिरह करने के लिए उठे तो बुरी तरह घबरा गए। मुँह से बोल तक नहीं निकला, पाँव काँपने लगे, सिर चकरा गया और कुर्सी थाम लेनी पड़ी। मुवक्किल के फीस के रुपए लौटा दिए गए और गांधीजी का मन घोर निराशा से भर गया। जिस पेशे की शिक्षा के लिए विलायत जाकर इतना पैसा खर्च किया था, उसमें पहले ही मौके पर ऐसा बुरा हाल हुआ ! उन्हें अपना भविष्य भयंकर रूप से अंधकारमय दिखाई देने लगा।

उस समय की उनकी परेशानी का अंदाज इसी बात से लगाया जा सकता है कि बंबई के एक हाई स्कूल में पचहत्तर रुपए मासिक पर वह कुछ घंटों के लिए मास्टरी करने को तैयार हो गए और दरख्वास्त भी भेज दी। लंदन की मैट्रिक्यूलेशन पास थे और उसमें लैटिन दूसरी जबान थी, इसलिए नौकरी पा जाने की पूरी आशा थी। लेकिन स्कूल तो किसी भी भारतीय विश्वविद्यालय का स्नातक चाहता था, इसलिए गांधीजी को वहाँ भी नौकरी न मिल सकी। अंत में वे अर्जी-दावे लिखने लगे और यह जानकर कुछ संतोष हुआ कि इस काम से गुजर-बसर की जा सकती है। लेकिन इस काम के लिए बंबई रहना ज़रूरी नहीं था। वह अपना मामूली-सा कारबार समेटकर राजकोट लौट आए और अर्जी-दावे लिखकर लगभग तीनसौ रुपया महीना कमाने लगे।

अर्जी-दावे लिखनेवाले बैरिस्टर के रूप में उनका काम शायद जम भी जाता, लेकिन सहसा एक मुसीबत गले आ प्रड़ी। उनके बड़े भाई लक्ष्मीदास पहले राजकोट में ऊँचे पद पर थे। उनपर राणा को गलत सलाह देने की तोहमत लगाकर इसकी शिकायत वहाँ के पोलिटिकल एजेंट से कर दी गई। इस अंग्रेज़ अफसर से गांधीजी विलायत में मिल चुके थे। उससे मुलाकात करके मामले को संभालने का बड़े भाई ने गांधीजी से आग्रह किया। पोलिटिकल एजेंट ने गांधीजी के इस बीच-बचाव का विरोध ही नहीं किया, उन्हें अपने घर से निकाल भी दिया। गांधीजी इस अपमान से झल्ला उठे। वह इस अंग्रेज़ अफसर पर मानहानि का मुकदमा दायर करने की बात

सोचने लगे। जो लोग अंग्रेज़ नौकरशाही के तौर-तरीकों से वाकिफ थे, उन्होंने समझाया कि इस तरह का मुकदमा तो उलटे तुम्हीं को तबाह कर देगा। अंत में बंबई के नामी वकील सर फीरोज़शाह मेहता से सलाह ली गई। उन्होंने कहा, "ऐसे अनुभव तो सभी वकील-बैरिस्टरों को रोज़ ही होते हैं। गांधी विलायत से नया ही आया है, इसलिए उसका मिजाज ज़रा-सा तेज़ है। अगर वह कुछ सीखना चाहता है तो उसे इस अपमान को पी जाना चाहिए।" उन दिनों भारत में राजनैतिक जागरण अभी हुआ नहीं था और सर्वत्र ब्रिटिश हुकूमत का बोल-बाला था। वकील और इसी तरह के पेशे के दूसरे लोग अंग्रेज़ हाकिमों के नादिरशाही रवैये और गुस्ताखियों के मारे परेशान थे, मगर उन्हीं के पाँव तले गर्दन दबी होने के कारण कुछ कर भी नहीं सकते थे। हालत यह थी कि अंग्रेज़ अफसर के गुस्से की आग में प्रायः कई होनहार पर तेज़मिजाज नौजवानों के पंख झुलस जाया करते थे।

काठियावाड़ के अगणित छोटे-छोटे राजाओं और उनके कृपापात्रों में आपसी लाग-डाँट और दरबारी कुचक्रों का बाज़ार सदैव गर्म रहता था। ऐसा भ्रष्ट और जोड़-तोड़वाला वातावरण गांधीजी के स्वभाव से ज़रा भी मेल नहीं खाता था। फिर जिस पोलिटिकल एजेंट से झगड़ा हो गया था उसी की कचहरी में उनका ज्यादातर काम रहता था। यह सब उन्हें जौहर-जैसा लगता। इसलिए जब एक साल के लिए दक्षिण अफ्रीका जाने का संदेश मिला तो उन्होंने खुशी-खुशी मंजूर कर लिया। वहाँ चालीस हज़ार पौंड के दीवानी दावे का काम था। आने-जाने के फर्स्ट क्लास के किराए और रहने-खाने के खर्च के अलावा 105 पौंड नकद मेहनताना दिया जा रहा था। मेहनताने की रकम ज़्यादा नहीं थी, न यही तय हो पाया था कि उन्हें कानूनी-सलाहकार की हैसियत से ले जाया जा रहा है या लिखा-पढ़ी करने के लिए, फिर भी गांधीजी ने मंजूर कर लिया, क्योंकि चुनाव करने की स्थिति में वह उस समय थे ही नहीं।

यह गांधीजी की दूसरी विदेश-यात्रा थी। पहली बार 1888 की विदेश-यात्रा की ही तरह इस बार भी वह अपनी तात्कालिक कठिनाइयों से घबराकर दक्षिण अफ्रीका जा रहे थे। स्वदेश में तो उनके स्वाभिमान को पग-पग पर ठोकरें खानी पड़ रही थीं तथा व्यावसायिक प्रगति और भविष्य के मार्ग में बाधाएं-ही-बाधाएं दिखाई देती थीं।

लेकिन दक्षिण अफ्रीका में जनसेवा और आत्मविकास के जो अपूर्व अवसर मिलनेवाले थे उनकी तो गांधीजी ने सपने में भी कल्पना नहीं की थी, और उस घमंडी अंग्रेज़ अफसर को ही कहाँ पता था कि एक युवक बैरिस्टर को अपने घर से धकियाकर उसने अनजाने ही ब्रिटिश साम्राज्य का कितना बड़ा अहित कर डाला था !

---

1. सामान्य कानून, 2. न्याय संगति, 3. नजीर मुकदमे, 4. वास्तविक संपत्ति।

४. विधि-निर्मित यात्रा

गांधीजी 1893 के मई महीने में डरबन पहुँचे | उनके मुवक्किल अब्दुल्ला सेठ ने बंदरगाह पर उनका स्वागत किया। ये नेटाल के सबसे धनी भारतीय व्यापारियों में गिने जाते थे।

गांधीजी डरबन में एक सप्ताह रुके और फिर प्रिटोरिया चले गए, क्योंकि वहीं रहकर उन्हें काम करना था।

डरबन में उन्हें पहली बार रंग-द्वेष का दु:खद अनुभव हुआ। अब्दुल्ला सेठ उन्हें डरबन की अदालत दिखलाने ले गए। वहाँ यूरोपियन मजिस्ट्रेट ने गांधीजी को अपनी पगड़ी उतारने का हुक्म दिया। उन्होंने हुक्म मानने से इनकार कर दिया। अदालत के कमरे से बाहर चले आए और उसी समय स्थानीय पत्रों को मजिस्ट्रेट के दुर्व्यवहार के खिलाफ जोरदार पत्र लिखे। वहाँ के समाचारपत्रों ने इस संवाद के सिलसिले में गांधीजी का उल्लेख 'बिनबुलाए मेहमान' (अनवेलकम गेस्ट) शब्दों से किया था। गांधीजी के लिए यह बिलकुल नया अनुभव था। इस तरह के खुल्लमखुल्ला रंगभेद से कभी उनका साबका नहीं पड़ा था। भारत में ब्रिटिश अधिकारियों की उद्दंडता का कारण गांधीजी उन लोगों का दिमागी फितूर मानते थे, क्योंकि इंग्लैंड में वह स्वयं कई भले और सुशील अंग्रेज़ों के संपर्क में आ चुके थे और उनके सद्व्यवहार और भलमनसी के कायल थे।

लेकिन डरबन से प्रिटोरिया जाते हुए रास्ते में उनके साथ जो कुछ गुज़रा उसकी तुलना में डरबनवाली घटना कुछ भी नहीं थी। शाम को जब उनकी गाड़ी मैरित्सबर्ग पहुँची तो उन्हें पहले दर्ज़े का डिब्बा छोड़कर निचले दर्ज़े के आखिरी डिब्बे में जाने के लिए कहा गया। इनकार करने पर धक्का मारकर बड़ी बेहूदगी से उन्हें पहले दर्ज़े से नीचे उतार दिया गया। ठंड से ठिठुरती हुई रात में वह मैरित्सबर्ग स्टेशन के अंधेरे वेटिंग-रूम में जा बैठे और सारी घटना पर विचार करने लगे। दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों को जिन अपमानजनक परिस्थितियों में रहना पड़ रहा था उसके बारे में उनके मुवक्किल अब्दुल्ला सेठ ने कुछ भी नहीं बताया था। वह सोचने लगे कि ऐसी दशा में इकरारनामे को रद्द करके भारत लौट जाना वाजिब होगा या जो भी गुजरे उसे सहते जाना

और काम पूरा करने के बाद ही लौटना ? भारत उन्हें इसीलिए तो छोड़ना पड़ा था कि पोलिटिकल एजेंट से झगड़ा हो गया था और राजकोट में रहना मुश्किल हो रहा था। अब दक्षिण अफ्रीका में यह मुसीबत सामने आई तो क्या यहाँ से फिर भाग जाएं ? लेकिन इस तरह कबतक भागते रहेंगे ? आखिर कहीं तो इसे रोकना होगा ! अंत में जो भी सहना पड़े उसे सहने और जिस तरह भी हो आगे जाने का उन्होंने निश्चय किया।

चार्ल्सटाउन इस लाइन का अंतिम स्टेशन था। वहाँ से स्टैंडरटन घोड़े की सिकरम से जाना होता था। गांधीजी को सिकरम के अंदर गोरे यात्रियों के साथ नहीं बैठने दिया गया। उन्हें बाहर कोचवान के पास जगह दी गई। थोड़ी देर बाद वहाँ से उठाकर पैर रखने की पटरी पर बैठने के लिए कहा गया। गांधीजी ने इसका विरोध किया और सिकरम के अंदर बैठाए जाने की मांग की। इस गुस्ताखी पर सिकरम कंपनी का गोरा नायक आगबबूला हो उठा और उसने गांधीजी पर हाथ उठा दिया। उन्हें बुरी तरह पिटते देख कुछ गोरे यात्रियों ने बीच-बचाव किया। गांधीजी ने मार खाना स्वीकार किया, परंतु जहाँ बैठे थे वहाँ से हटे नहीं। गोरे की उद्दंडता और पाशविक शक्ति के खिलाफ शांतिभरे साहस और मानवी गरिमा का वह दुर्लभ दृश्य किसी भी महान् कलाकार को अमरकृति की रचना के लिए प्रेरित करता रहेगा।

स्टैंडरटन पहुँचने पर वहाँ के कुछ भारतीय व्यापारी गांधीजी से मिलने के लिए आए। उन्होंने बताया कि जो कुछ आपके साथ गुज़रा है वह तो ट्रांसवाल में भारतीयों के साथ रोज़ ही हुआ करता है। यहाँ गांधीजी ने सिकरम कंपनी के एजेंट से अपने साथ किए गए बुरे व्यवहार की शिकायत की, लेकिन साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया कि मारनेवाले गोरे पर मुकदमा चलाने का उनका कोई इरादा नहीं है। जोहान्सबर्ग पहुँचने पर वह वहाँ के ग्रांड नेशनल होटल में ठहरने के लिए गए तो उनसे कहा गया कि यहाँ हिन्दुस्तानियों को ठहराने की इजाज़त नहीं है। जोहान्सबर्ग का स्टेशन मास्टर भी, बड़ी कहासुनी और रेलवे के नियम-कानून दिखलाने के बाद, प्रिटोरिया के लिए पहले दर्ज़े का टिकट देने को राज़ी हुआ, और टिकट मिल जाने पर भी अगर एक गोरे सहयात्री ने बीच-बचाव न किया होता तो गांधीजी मैरित्सबर्ग की तरह वहाँ भी पहले दर्ज़े के डिब्बे से बाहर धकेल दिए जाते।

इस तरह डरबन से प्रिटोरिया तक की पाँच दिन की यात्रा गांधीजी के लिए काफी कष्टप्रद रही। परंतु उसने दक्षिण अफ्रीका में भारतीय प्रवासियों की वास्तविक स्थिति का ज्वलंत चित्र भी उनके सामने प्रस्तुत कर दिया। यहाँ के भारतीय व्यापारी इन अपमानों को व्यवसाय से मिलनेवाले धन की तरह चुपचाप स्वीकार करना सीख चुके थे। इस तरह के दुर्व्यवहार कोई नई बात नहीं थी। हाँ, इनको लेकर गांधीजी पर जो प्रतिक्रिया हुई वह अवश्य नई बात थी। आजतक वह अपनी राय और अपने हकों पर कभी अड़े नहीं थे। यह बात उनके स्वभाव में थी ही नहीं। असल में तो वह शर्मीले और खामोश रहनेवाले व्यक्ति ही अधिक थे। लेकिन उस रात मैरित्सबर्ग स्टेशन की उस घटना और वहाँ के ठंडे अंधेरे वेटिंग-रूम ने जैसे उनका कायाकल्प कर दिया। अपने अपमान के बारे में व्यग्र होकर वह जितना ही सोचते गए, एक इस्पाती दृढ़ता और निश्चय उनमें उतना ही बलवान होता गया। उस घटना को वह अपने जीवन का सबसे सृजनशील और नियामक अनुभव मानते थे। उसी क्षण से उन्होंने दक्षिण अफ्रीका के शासकीय और वर्ण-विद्वेषक सामाजिक अन्याय के खिलाफ कमर कस ली। फिर कभी उन्होंने उस अन्याय को स्वीकार नहीं किया। तर्क से, अनुरोध से, अनुनय-विनय से, वह शासक-जाति की न्याय-बुद्धि और सोई हुई मानवता को जगाने का प्रयत्न बराबर करते रहे। एक क्षण के लिए भी उन्होंने रंग-भेद और जातीय औद्धत्य के आगे अपने हथियार नहीं डाले। क्योंकि यह प्रश्न अकेले उन्हीं के अपने आत्मसम्मान की रक्षा और प्रस्थापना का नहीं, समस्त भारतीयों, भारत देश और सारी मानवजाति के गौरव की रक्षा और स्थापना का था।

जब उन्होंने दक्षिण अफ्रीका के प्रवासी भारतीयों को मौन भाव से कष्ट सहते देखा और पाया कि वे निरक्षर, अशिक्षित और अधिकारहीन ही नहीं हैं, प्राप्त अधिकारों का उपभोग करना तक नहीं जानते तो बड़ी ही चमत्कारिक बात हुई। उनकी झिझक और शर्मीलापन हमेशा के लिए खत्म हो गया। हीनता और आत्म-ग्लानि की जो भावना इंग्लैंड के विद्यार्थीकाल में और भारत में वकालत के समय कभी पीछा नहीं छोड़ती थी, एकबारगी गायब हो गई। कहाँ तो बंबई की खफीफा अदालत में जिरह के समय उनके मुँह से बोल भी नहीं फूटा था और यहाँ प्रिटोरिया में आते ही सबसे पहला जो काम किया वह था वहाँ के भारतीय निवासियों को 'ट्रांसवाल में उनकी

सही हालत बतलाने के लिए' सभा करना। इस सभा में बड़ी सफलता मिली। गांधीजी ने भारतीय प्रवासियों की शिकायतों पर कार्रवाही करने के लिए एक संगठन बनाने का सुझाव दिया। यह व्यावहारिक नेतृत्व की दिशा में उनका पहला कदम था। इस सभा में जो भारतीय व्यापारी अंग्रेज़ी नहीं जानते थे, उन्हें अंग्रेज़ी सिखाने का काम गांधीजी ने अपने ऊपर ले लिया। एक नाई, एक क्लर्क और एक छोटा दुकानदार—ये पहले तीन विद्यार्थी थे, जिन्हें गांधीजी उन लोगों के घरों पर जाकर मुफ़्त पढ़ाने लगे। शीघ्र ही वह प्रिटोरिया के हर भारतीय से परिचित हो गए । वह वहाँ के ब्रिटिश एजेंट से भी मिले और उसे भारतीयों की कठिनाइयों के बारे में बतलाया। उसने बड़ी सहानुभूति से गांधीजी की बात सुनी, परंतु कुछ न कर सकने में अपनी असमर्थता प्रकट की, क्योंकि ट्रांसवाल बोअर राज्य होने के कारण ब्रिटिश साम्राज्य के अंतर्गत नहीं था। बोअर सरकार ने पहले ही बहुत-से भारतीयों को औरेंज फ्री-स्टेट से बड़ी बेदर्दी से निकाल बाहर कर दिया था। सारे दक्षिण अफ्रीका में किसी स्वाभिमानी भारतीय के लिए सिर ऊँचा करके खड़े रहने को भी जगह नहीं थी। अब गांधीजी का ज्यादातर समय इसी सोच-विचार में जाने लगा कि हालत को कैसे सुधारा जा सकता है।

इसके साथ ही उन्हें उस दीवानी दावे पर भी काम करना था, जिसके लिए वह भारत से दक्षिण अफ्रीका आए थे। झगड़ा केवल चालीस हज़ार पौंड की बड़ी रकम का ही नहीं था, दक्षिण अफ्रीका के सबसे बड़े दो भारतीय व्यापारियों की व्यापारिक लाग-डाँट के साथ कुछ घरेलू अनबन भी थी। इनमें से एक थे नेटाल के अब्दुल्ला और दूसरे थे ट्रांसवाल के तैयब सेठ। दोनों फरीकैन सच्चे मुकदमेबाज भारतीयों की तरह अदालत से फैसला करवाने पर तुले हुए थे, चाहे तबाह ही क्यों न हो जाएं ! गांधीजी को अब्दुल्ला की पेढ़ी के बही-खाते जाँचकर मुकदमे के पोषक तथ्य इकट्ठे करने और बड़े बैरिस्टर की मदद करने का सामान्य काम सौंपा गया था। एक तरह से तो रोकड़-बही लिखने और हिसाब जाँचने का ही काम था। उनकी जगह कोई दूसरा बैरिस्टर होता तो इसे अपना अपमान समझता । गांधीजी ने इसे सीखने और काम कर दिखाने का अवसर माना। उन्होंने मुकदमे में पूरा मन लगाया और उसमें डूब गए। मामले से संबंधित छोटी-से-छोटी बात पर पूरा ध्यान दिया, बही-खातों का बारीकी से अध्ययन कर हिसाब रखने की पद्धति को समझा,

व्यापार के नियमों की जानकारी हासिल की और गुज़राती कागज़-पत्रों का अंग्रेज़ी में उलथा करके अनुवाद करने की शक्ति और अंग्रेज़ी का अपना ज्ञान बढ़ाया। जो मसाला वे तैयार करते थे उसमें से सालिसिटर कितना रखता है और बैरिस्टर उसमें से कितने का और किस तरह से उपयोग करके मुकदमा बनाता है, इसे गांधीजी बहुत ध्यान से देखा और समझा करते थे।

बाल की खाल निकालनेवाली जिरह, ज़ोरदार बहस और कानून के पोथों से ढूँढ-खोजकर उपयुक्त नजीरें पेश करने को ही गांधीजी कभी वकालत में सफलता पाने का गुर समझते थे। लेकिन अब्दुल्ला के मामले में साल-भर की कड़ी मेहनत के बाद उनकी समझ में आया कि असल में वकील का काम तथ्यों के आधार पर सच्चाई का पता लगाना है। वह इस बात को बहुत अच्छी तरह जानते थे कि उनके पास न तो वक्तृत्व-कला है और न विद्वत्ता ही, इसलिए केवल ईमानदारी, लगन और परिश्रम से ही सफलत की आशा कर सकते थे। पुराने बैरिस्टर के दफ्तर में रहकर नया वकील जो कुछ सीखता है उसकी शिक्षा भी उन्हें इसी मुकदमे से मिली। इस मुकदम से उनमें यह आत्मविश्वास भी जागा कि एक वकील के रूप में वह असफल नहीं हो सकते, क्योंकि कानून का तीन-चौथाई अंश तो तथ्य ही होते हैं और यदि "तथ्य पर हमारा सच्चा कब्ज़ा रहे तो कानून अपने-आप हमारे पास आ जाएगा।"[1]

बारीकी से जाँच-पड़ताल करने पर गांधीजी को अब्दुल्ला का मुकदमा तथ्यों और कानून दोनों ही दृष्टियों से काफी मजबूत लगा। लेकिन वह यह भी समझ गए कि अदालती लड़ाई में दोनों फरीकैन तबाह हो जाएंगे। वकीलों की फीस चढ़ती जाती थी, दुकान और व्यापार के रोज़मर्रा के काम में हर्ज होता था और आपसी दुश्मनी बढ़ती जाती थी। इसलिए गांधीजी ने आपस में झगड़ा निपटा लेने की सलाह दी। काफी ना-नू के बाद दोनों फरीकैन पंच से फैसला कराने के लिए राज़ी हुए। पंच-फैसले में अब्दुल्ल की जीत हुई। यदि फैसले की तुरंत तामील की जाती तो तैयब सेठ का दिवाला निकल जाता। गांधीजी के अनुरोध पर उनके मुवक्किल ने मुकदमा जीतकर भी उदारता दिखाई और तैयबजी को काफी लंबी मोहलत दे दी। इस पहले मुकदमे से गांधीजी को बड़ा संतोष हुआ। स्वयं उन्हीं के शब्दों में—"मैंने सच्ची वकालत करना सीखा, मनुष्य-स्वभाव

का उज्ज्वल पक्ष ढूँढ़ निकालना सीखा, मनुष्य हृदय में पैठना सीखा। मुझे जान पड़ा कि वकील का कर्तव्य फरीकैन के बीच में खुदी हुई खाई को भरना है।"[1]

इसके बाद तो गांधीजी मुकदमे लड़ने के बदले फरीकैन की आपस में सुलाह कराने की कोशिश में ही लगे रहते। इससे केवल फरीकैन को ही फायदा पहुँचता रहा हो सो बात भी नहीं। जैसा कि वह अपनी 'आत्मकथा में लिखते हैं—"मैंने भी कुछ नहीं खोया। पैसे के घाटे में रहा, यह भी नहीं कहा जा सकता। आत्मा तो नहीं ही गंवाई।"

---

1. आत्मकथा : महात्मा गांधी; सस्ता साहित्य मंडल ।

५. राजनीति में प्रवेश

प्रिटोरियावाला दीवानी मुकदमा जब इस तरह खुशी-खुशी निबट गया तो गांधीजी का अनुबंध भी पूरा हुआ और वह भारत लौट जाने के लिए डरबन आए। वहाँ उनके मुवक्किल अब्दुल्ला ने उनके सम्मान में एक विदाई-भोज का आयोजन किया। उस भोज में 'नेटाल मरकरी' अखबार के पन्ने पलटते हुए गांधीजी की निगाह 'इंडियन फ्रेंचाइज' (भारतीयों का मताधिकार) शीर्षक एक समाचार पर पड़ी। दक्षिण अफ्रीका में बसे भारतीयों को मताधिकार सें वंचित करने के लिए एक विधेयक नेटाल की विधान-सभा में पेश किया जा रहा था। गांधीजी ने अपने मेजबान अब्दुल्ला और भोज में शरीक दूसरे भारतीयों व्यापारियों से इस विधेयक के बारे में जानकारी चाही तो वे लोग उन्हें कुछ भी नहीं बता सके। उन लोगों को बहुत कम अंग्रेज़ी आती थी। अपने गोरे ग्राहकों की बात समझ लेते और उनसे दो-चार बातें कर सकते थे। अखबार उनमें से शायद ही कोई पढ़ पाता और नेटाल विधान-सभा की कार्रवाई समझने लायक अंग्रेज़ी का ज्ञान तो उनमें से किसी को नहीं था। वे लोग नेटाल में व्यापार करने के लिए आए थे, राजनीति में उनकी कोई दिलचस्पी नहीं थी। इधर-उधर राजनीति में उनके व्यापार में दखल देना शुरू किया था। औरेंज फ्री-स्टेट से भारतीय व्यापारियों को हाल में ही निकाल बाहर किया गया था और अब नेटाल में भी वर्ण द्वेष का कानून लागू होने जा रहा था। "यह तो हिन्दुस्तानियों की हस्ती को मिटाने का पहला कदम है।" गांधीजी ने भोज में शरीक भारतीय व्यापारियों को बतलाया। इसपर सब लोगों ने उन्हें नेटाल में रुक जाने और उनकी ओर से इस लड़ाई को लड़ने का आग्रह किया | अभी तक उनको यूरोपियन बैरिस्टरों के भरोसे रहना पड़ा था, अब अपने काम के लिए एक भारतीय बैरिस्टर मिल गया तो सभी को बड़ी खुशी हुई। गांधीजी इस काम के लिए नेटाल में एक महीने तक रुकने को तैयार हो गए। उनका खयाल था कि इस मामले का एकाध महीने में ज़रुर निपटारा हो जाएगा।

उन्होंने भी एक क्षण नहीं गँवाया और तुरंत काम में जुट गए। विदाई का जलसा भारतीयों के विधेयक-विरोधी आंदोलन की राजनैतिक समिति बन गया। गांधीजी ने पच्चीस वर्ष की उम्र में अपने पहले राजनैतिक आंदोलन की जो रूपरेखा और रणनीति बनाई वह उनकी समझ-बूझ का अच्छा परिचय देती है : प्रिटोरिया में रहते हुए वहाँ के भारतीय निवासियों की उन्होंने जो जानकारी

हासिल की थी वह इस समय उनके खूब काम आई। उनकी रणनीति के तीन अंग थे—एक तो दक्षिण अफ्रीका को जुदा-जुदा जातियों के प्रवासी भारतीयों में एकता की भावना पैदा करना। बंबई के मुसलमान व्यापारी और उनके हिन्दू एवं पारसी क्लर्क, मद्रास के अर्द्धगुलामों—जैसे 'गिरमिटिया' मज़दूर और नेटाल में पैदा हुए हिन्दुस्तानी ईसाई—सभी अपने को एक देश की संतान अर्थात् भारतीय समझें। खासतौर पर नेटाल के हिन्दुस्तानी ईसाइयों में यह भावना पैदा करनी थी कि ईसाई होने से ही उनका हिन्दुस्तानीपन खत्म नहीं हो जाता। उधर व्यापारियों में भी यह भावना पैदा करनी थी कि बेहद गरीबी के कारण दूर देश नेटाल में आकर गिरमिटिया बनने को मजबूर होनेवाले बदनसीब मज़दूर भी आखिर उन्हीं के देश-भाई हैं। दूसरा अंग था, भारतीयों को मताधिकार से वंचित किए जाने के सही-सही माने और उससे होनेवाले नतीजों को न केवल वहाँ के भारतीय निवासियों को बल्कि नेटाल की सरकार और यूरोपियन आबादी में जो समझदार तबका था उन सबको समझाने का काम और तीसरा अंग था, भारत और इंग्लैंड की सरकारों और दोनों देशों के जनमत को इस आंदोलन के पक्ष में करने के लिए व्यापक प्रचार कार्य।

यह गांधीजी के प्रचार कार्य की ही खूबी थी कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने अपने दिसंबर, 1894 के वार्षिक अधिवेशन में मताधिकार विधेयक के विरोध में प्रस्ताव पास किया और लंदन के 'टाइम्स' अखबार ने तीन साल के दरम्यान दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों की समस्या पर आठ विशेष लेख छापे। पाँच-सौ भारतीयों के दस्तखतोंवाली गांधीजी की लिखी एक अर्जी भी नेटाल की विधान-सभा को भेजी गई। उस अर्जी से विधायक मंडल और नेटाल की सरकार दोनों काफी प्रभावित हुए, लेकिन मताधिकारवाला विधेयक फिर भी मंजूर हो ही गया। इस पर भी भारतीयों ने हिम्मत नहीं हारी। इस हलचल का कम-से-कम यह नतीजा तो हुआ ही कि वे अपनी राजनैतिक तंद्रा से जाग पड़े। खुद गांधीजी के लिए भी अपना यह पहला राजनैतिक आंदोलन काफी फायदेमंद साबित हुआ। जो संकोचभीरुता और लज्जाशीलता असाध्यम मालूम पड़ती थी उनसे उनका भी पीछा छूट गया। लेकिन इसक यह मतलब नहीं कि उनमें अहंकार आ गया, उल्टे विनम्रता की ही मात्रा बढ़ी, जैसाकि दादाभाई नौरोजी को, जो उन दिनों ब्रिटिश पार्लामेंट के भारतीय सदस्य थे, अपनी सीमाओं और अक्षमताओं का हवाला देते हुए 5 जुलाई 1894 को

लिखे उनके पत्र से प्रकट होता है—"कुछ अपने बारे में और कुछ जो काम मैंने यहाँ किया उसके बारे में। मेरी उम्र ज़्यादा नहीं है और अनुभव भी नहीं है, इसलिए गलतियाँ भी हो सकती हैं और हुई होंगी। मेरी योग्यता के हिसाब से यहाँ की जिम्मेवारियाँ बहुत ज़्यादा हैं। लेकिन फिर भी आप देखेंगे कि मैंने अपनी योग्यता से अधिक ऐसे किसी काम में हाथ नहीं डाला है, जो भारतीयों के हितों की उपेक्षा करके केवल मेरे अनुभवों को बढ़ानेवाला हो। असल बात यह है कि यहाँ इस तरह का काम करनेवाला मैं ही अकेला आदमी हूँ। इसलिए इस कार्य में मेरा मार्ग-प्रदर्शन करने और उचित सलाह-सुझाव देने का आपसे आग्रह-अनुरोध करता हूँ और विश्वास दिलाता हूँ कि आपके सभी पितृतुल्य आदेशों का मैं पुत्रवत् पालन करूँगा।"[1]

अन्य भावनाओं की तरह हीनता की भावना भी सापेक्ष है। जब लोगों ने गांधीजी से नेतृत्व की अपेक्षा की तो वह अपनी मर्यादाओं और हीनभाव को भूल गए। दूसरी जगह जिस काम के वह शायद पास भी न फटकते, उसी को पूरा करने की जिम्मदारी यहाँ 'अकेला आदमी' होने के कारण उन्होंने अपने ऊपर ले ली।

मताधिकार विधेयक को नेटाल की धारा-सभा ने तो पास कर दिया, लेकिन इंग्लैंड की महारानी की मंजूरी के बिना वह कानून का रूप नहीं ले सकता था। यह काम अभी बाकी था, इसलिए लड़ाई का एक मौका और मिल गया। गांधीजी ने इंग्लैंड के उपनिवेश-मंत्री को एक बहुत बड़ी अर्जी भेजने का फैसला किया। उस अर्जी पर दस हज़ार दस्तखत लिए गए। कहना चाहिए कि नेटाल में बसे हुए सभी 'मुक्त' भारतवासियों ने उसपर अपने हस्ताक्षर किए थे। इस आंदोलन में गांधीजी का एक खास ढंग यह रहा कि वह हर बहाने से लोगों को राजनैतिक शिक्षा भी देते जाते थे। उदाहरण के लिए, जबतक हर आदमी अर्जी में लिखी बात को समझ और स्वीकार नहीं कर लेता, उसपर उसके दस्तखत नहीं करवाए जाते थे। अर्जी की कोई हज़ार प्रतियाँ छपवाकर प्रमुख राजनैतिक नेताओं और समाचार-पत्रों को भेजी गईं। भारत और इंग्लैंड दोनों ही देशों के समाचार-पत्रों में नेटाल के भारतीयों की समस्याओं पर खूब चर्चा हुई।

इस तरह महीना पूरा हो गया और गांधीजी के भारत लौटने का दिन आ गया, लेकिन नेटाल के भारतीयों ने उन्हें जाने न दिया, नेटाल में स्थायी रूप से रहने का आग्रह किया। ब्रिटिश

सरकार इस अपमानजनक विधेयक को रद्द कर देगी, ऐसी कोई आशा नहीं थी। फिर स्वयं गांधीजी ने ही तो कहा था कि यह हमारी हस्ती को मिटाने का पहला कदम है। तो क्या वह लड़ाई को अधबीच में छोड़कर चले जाएंगे और अपने किए-कराए पर पानी फिर जाने देंगे ? गांधीजी रुक गए। लेकिन अब प्रश्न यह था कि उनकी गुजर-बसर कैसे होगी ? सार्वजनिक कार्य का पैसा लेने को तो वह किसी भी तरह राज़ी नहीं हुए, इसलिए बीस व्यापारियों ने वकालत का काम देने की हामी भरकर उनका एक वर्ष का तीन सौ पौंड वर्षासन बांध दिया। इतनी रकम में वह डरबन में अपना खर्च आराम से चला सकते थे।

नेटाल के सर्वोच्च न्यायलय में वकालत की सनद के लिए दरख्वास्त देने पर वहाँ की वकील-सभा ने गांधीजी का विरोध किया, परंतु प्रधान न्यायाधीश ने दाखिला मंजूर कर लिया। उसके बाद वकीलों के लिए बने हुए अदालत के पोशाक-संबंधी नियमों के अनुसार उन्हें अपनी पगड़ी उतारने के लिए कहा गया। एक साल पहले नीचे की अदालत के इसी प्रकार के हुक्म के विरोध में गांधीजी अदालत के कमरे से बाहर चले आए थे, परंतु इस बार वह अपमान की इस घूंट को पी गए। अभी उन्हें रंग-भेद के खिलाफ कई बड़ी लड़ाइयाँ लड़नी थीं। इसलिए इस तरह की छोटी लड़ाइयों में अपना समय और शक्ति गँवाना उन्होंने उचित नहीं समझा।

सबसे पहले तो गांधीजी ने दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों के हितों की चौकसी करनेवाला एक स्थायी संगठन बनाने की तात्कालिक आवश्यकता महसूस की। दादाभाई नौरोजी के सम्मान में, जो भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के 1893 के अधिवेशन के अध्यक्ष रह चुके थे, उन्होंने अपने नए संगठन का नाम 'नेटाल इंडियन कांग्रेस रखा। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के विधान और उसके काम करने के ढंग के बारे में गांधीजी को कोई जानकारी नहीं थी। यह उनके हक में अच्छा ही हुआ। वह नेटाल इंडियन कांग्रेस को नेटाल के भारतीयों की आकांक्षाओं और आवश्यकताओं के अनुरूप बना सके। उस जमाने की भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस बुद्धिजीवियों का मंच था, जहाँ वे साल में एक बार जमा होकर लच्छेदार भाषण देते, अर्जियाँ तैयार करते और विरोध-प्रदर्शन करते थे। फिर साल-भर तक उसका कहीं नाम भी नहीं सुनाई देता था। इसके विपरीत नेटाल कांग्रेस पूरे साल काम करनेवाला प्राणवान संगठन था, जो सदस्यों के राजनैतिक हितों की ही चौकसी नहीं

करता था, उनके नैतिक और सामाजिक उन्नयन के लिए भी प्रयत्नशील था। जिन लोगों की सेवा के लिए 'नेटाल इंडियन कांग्रेस' बनाई गई थी, उनका राजनैतिक अनुभव और ज्ञान न-कुछ के बराबर था, लेकिन फिर भी वह किसी व्यक्ति-विशेष का एकाधिकारी संगठन नहीं बना । महामंत्री गांधी हर कदम पर सभी का सक्रिय सहयोग प्राप्त करने के लिए अथक परिश्रम करते, जिससे काम में सार्वजनिक उत्साह और रुचि बराबर बनी रहती। सदस्य बनाने और चंदा जमा करने-जैसे मामूली कामों को भी उन्होंने एक महान् अनुष्ठान का रूप दे दिया था। आधे मन से सहयोग देने और अधूरा समर्थन देनेवालों के साथ वह नैतिक दबाव का विनम्र परंतु साथ ही दृढ़ ढंग अपनाते थे। एक बार किसी कस्बे के भारतीय व्यापारी के यहाँ वह इसलिए सारी रात भूखे बैठे रहे कि वह नेटाल कांग्रेस का चंदा बढ़ा नहीं रहा था; आखिर सवेरा होते-होते उन्होंने उसे तीन के बदले छः पौंड देने को राज़ी कर लिया।

लंदन में विद्यार्थी-काल से ही गांधीजी अपने दैनिक खर्च का नियमित हिसाब बड़ी सतर्कता से रखने लगे थे। अब नेटाल इंडियन कांग्रेस के आय-व्यय का हिसाब भी उतनी ही मुस्तैदी से रखने लगे। यहाँ भी किफायतशारी उनका मूल मंत्र था और पाई-पाई का हिसाब इतनी अच्छी तरह रखा गया कि तीस बरस बाद वह अपनी 'आत्मकथा' में लिखते हैं—“मैं समझता हूँ कि आज भी नेटाल कांग्रेस के दफ्तर में 1894 के हिसाब के पूरे ब्यौरेवाली बहियाँ मिल जानी चाहिए।” संस्था के पैसों में से वह स्वयं कुछ भी नहीं लेते थे। वह मानते थे कि पैसा लेकर सार्वजनिक काम करनेवाला संस्था और समाज की स्वतंत्रता और निर्भीकता से सेवा नहीं कर सकता। अवैतनिक सार्वजनिक सेवा को वह जनता के प्रति अपना कर्तव्य ही नहीं, अपनी स्वाधीनता की गांरटी भी समझते थे। ये आरंभिक दिन उनके सार्वजनिक जीवन और राजनैतिक कार्यों के प्रशिक्षण के दिन थे। इसी समय उन्होंने अपने लिए एक राजनैतिक आचरण-संहिता भी बनाई। राजनीति में अपने दल के लिए उचित-अनुचित सभी उपायों का अवलंबन करने का प्रचलित मत उन्हें कदापि स्वीकार नहीं था। वकालत के दौरान तथ्यों के जिस महत्त्व को उन्होंने जाना था, राजनीति में भी उसीपर दृढ़ता से अमल करने लगे। उनकी मान्यता थी कि तथ्य अपने पक्ष में हैं तो सचाई और न्याय भी स्वयं चले आएंगे और तथ्यों को सज़ाने-संवारने या नमक-मिर्च

लगाने की ज़रुरत नहीं हुआ करती। बात या वस्तु-स्थिति को बढ़ा-चढ़ाकर कहने से स्वयं तो बचते ही थे, अपने साथियों-सहकर्मियों को भी रोका-टोका करते। 'नेटाल इंडियन' कांग्रेस उनके निकट भारतीय अल्प-संख्यंकों के राजनैतिक एवं आर्थिक अधिकारों की सुरक्षा का माध्यम ही नहीं, उनके सुधार और उनमें एकता कायम करने का अस्त्र भी थी। गलतियों के लिए वह अपने देशवासियों को भी नहीं बख्शते थे, खामियों के लिए उनकी पूरी आलोचना करते थे। हमेशा इस बात पर ज़ोर देते रहते कि भारतीयों को व्यापार-धंधे में ईमानदारी बरतनी चाहिए और अपने रहन-सहन के ढंग को सुधारना और ऊँचा उठाना चाहिए। वह नेटाल में बसे भारतीयों के सबसे कट्टर हिमायती और मित्र ही नहीं, उनके ज़बर्दस्त आलोचक भी थे।

यहाँ दक्षिण अफ्रीका के प्रवासी भारतीयों की समस्या के इतिहास पर एक दृष्टि डाल लेना बहुत आवश्यक है, क्योंकि समस्या के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य के बिना गांधीजी और नेटाल इंडियन कांग्रेस ने जो काम किया उसके सही महत्त्व को समझना बहुत मुश्किल होगा।

लार्ड मिलनर का कहना था कि यूरोपियन वाशिंदे ज़रा भी नहीं चाहते फिर भी एशियावाले अपने-आपको जबरदस्ती थोपे जा रहे हैं। लेकिन सचाई तो कुछ और ही कहती है। 1860 और उसके बाद के वर्षों में भारतीय प्रवासियों ने वहाँ के गोरे अधिवासियों के आग्रह और निमंत्रण पर ही दक्षिण अफ्रीका में जाना शुरू किया था। इन गोरे वाशिंदो के पास चाय, कॉफी और गन्ने की बड़ी-बड़ी जमींदारियाँ थीं, पर उनपर काम करने लिए मज़दूरों की भारी कमी थी। गुलामी की प्रथा का अंत हो जाने से नीग्रो लोगों को काम करने के लिए मजबूर नहीं किया जा सकता था। इसलिए नेटाल के यूरोपियन वाशिंदों ने भारत सरकार से लिखा-पढ़ी करके उसे इस बात के लिए राज़ी कर लिया कि वह भारतीय मज़दूरों को वहाँ जाने और बसने की इजाज़त दे। गोरे ज़मींदारों के भर्ती-एजेंट मद्रास और बंगाल के सबसे घनी और गरीब आबादीवाले इलाकों में जाने और वहाँ के मुसीबतजदा लोगों को नेटाल के सब्ज-बाग दिखाने लगे। किराया, खाना और मकान मुफ्त। पहले साल दस शिलिंग माहवार तनख्वाह और हर साल एक शिलिंग तरक्की। पाँच बरस काम करने का इकरारनाम (जिसे 'गिरमिट प्रथा' कहते हैं और जिसके अंतर्गत मज़दूर 'गिरमिटिया' कहलाता है) और इकरार पूरा होने पर मुफ्त भारत लौट आने का हक (या अगर चाहें तो वहीं

बसने की छूट)। हज़ारों गरीब और अनपढ़ भारतीय इस दम-दिलासे में आ गए और दूर देश नेटाल की ओर चल पड़े।

भारत से 'गिरमिटिया मज़दूरों' का पहला जहाज सन् 1860 के नवंबर महीने में डरबन पहुँचा। 1890 तक वहाँ लगभग चालीस हज़ार गिरमिटिया मज़दूर भारत से बुलवाए गए। सर डब्ल्यू, डब्ल्यू. हंटर के शब्दों में "उनकी हालत अर्द्ध-गुलामों-जैसी थी।" यह सच है कि सारे जमींदार बुरे, क्रूर और कठोर नहीं थे, लेकिन मालिक के बुरे व्यवहार के विरोध में कोई भी गिरमिटिया अपनी नौकरी नहीं छोड़ सकता था; न उसे नई नौकरी मिल सकती थी। पाँच बरस की अवधि पूरी हो जाने पर जो भारतीय मज़दूर गिरमिट का नया इकरारनामा नहीं करता था उसके रास्ते में हर तरह के रोड़े अटकाए जाते, लेकिन इन सारी कठिनाइयों और बाधाओं के बावजूद अवधि पूरी हो जाने पर बहुत-से भारतीय मज़दूर दक्षिण अफ्रीका में ही बस गए, क्योंकि भारत से उनके सारे रिश्ते खत्म हो चुके थे। वे ज़मीन का छोटा-बड़ा टुकड़ा खरीद लेते, साग-सब्जी पैदा करते, अच्छी तरह गुजर-बसर हो जाती। और अपने लड़के-बच्चों को पढ़ाने भी लगे। गोरे व्यापारियों ने इस नए वर्ग को अपने लिए बड़ा खतरा समझा। वे आंदोलन करने लगे कि जो भी भारतीय मज़दूर अवधि पूरी हो जाने पर गिरमिट का नया इकरारनाम न करें, उन सभी को भारत भेज देना चाहिए। मतलब यह कि नेटाल में भारतीय गुलाम बनकर ही रह सकता था, आज़ाद भारतवासी के लिए वहाँ कोई जगह नहीं थी। 1885 में प्रवासी भारतीयों की स्थिति का अध्ययन करने के लिए एक आयोग नियुक्त किया गया। उस आयोग ने दक्षिण अफ्रीका के यूरोपीय जनमत को वहाँ कृषि या व्यापार में लगे सभी भारतवासियों के प्रति अत्यंत असहिष्णु और उनकी उपस्थिति का घोर विरोधी पाया। लेकिन आयोग ने यह राय दी कि गिरमिट से मुक्त भारतीय दक्षिण अफ्रीका के लिए ज़िम्मेदारी नहीं, वरदान ही है। उसे वहाँ से निकालना उसपर अन्याय तो है ही, उपनिवेश की समूची अर्थ-व्यवस्था के लिए घातक भी होगा। आयोग का यह उदार दृष्टिकोण, जो दक्षिण अफ्रीका के गोरे वाशिंदों के अपने ही हित में था, यूरोपियन ज़मींदारों के गले नहीं उतरा। उन्हें असल डर तो यह था कि भारतीयों के निम्न जीवन-स्तर और सस्ता बेच सकने की सामर्थ्य के कारण गोरे व्यापारी होड़ में उनके आगे टिक न सकेंगे।

1893 में नेटाल को उत्तरदायी शासन का अधिकार मिल गया। इससे वहाँ की रंग-भेद की नीति पर लंदन के उपनिवेश मंत्रालय का पहले जो थोड़ा-बहुत नियंत्रण था वह भी समाप्त हो गया। अब नेटाल के गोरे वाशिंदों का एक प्रतिनिधि-मंडल भारत सरकार के सम्मुख यह प्रस्ताव लेकर पहुँचा कि या तो सभी भारतीय मज़दूरों के लिए गिरमिट की प्रथा लाजमी कर दी जाए या सभी को लाजमी तौर पर वहाँ से भारत बुला लिया जाए और नहीं तो प्रति व्यक्ति पच्चीस पौंड का वार्षिक कर लगाने की अनुमति दी जाए। भारत की गोरा नौकरशाही को नेटाल की असली हालत और भारतीयों की समस्या का ज़रा भी ज्ञान नहीं था और फिर वह दक्षिण अफ्रीका में बसे अपने गोरे देशवासियों की मदद के लिए उतावली भी बहुत थी। बिना सोचे-समझे उसने गिरमिट से मुक्त भारतीय मज़दूर के परिवार के हर सदस्य पर वार्षिक तीन पौंड का कर लगाए जाने की मंजूरी दे दी | उसने इतना भी नहीं सोचा कि जिस इकरारनामे से भारतीय मज़दूर दक्षिण अफ्रीका जाता है उसी इकरारनामे की शर्तें उसे नेटाल में बसने का अधिकार भी देती हैं और वह अपने उस अधिकार का उपयोग कर रहा है, फिर उस पर किसी भी तरह का दंड-कर क्यों लगाया जाना चाहिए ? सिर्फ दस से बारह शिलिंग मासिक मज़दूरी पानेवाले फटेहाल गिरमिटिया मज़दूरों के लिए तो यह कर कमरतोड़ बोझ ही था। गरीब, अनपढ़ और असंगठित होने के कारण वे पूरी तरह असहाय थे और उस पर देश में अकेले भारतीय व्यापारी ही थे, जिनसे वे सहानुभूति और सहायता की आशा कर सकते थे।

भारतीय व्यापारी भारतीय मज़दूर के पीछे-पीछे दक्षिण अफ्रीका पहुँचा था और वहाँ भारतीय मज़दूरों और नीग्रो लोगों में उसका वणिज्-व्यापार धड़ल्ले से चल निकला था। नीग्रो लोग उससे इसलिए खुश थे कि वे गोरे व्यापारी के मुकाबले में विनम्र और आवभगत करनेवाल था और लूटता भी कम था। लेकिन भारतीय व्यापारी के करोबार की यह बढ़ती शीघ्र ही गोरे व्यापारी की आँखों का शूल बन गई। भारतीयों को मताधिकार से वंचित करनेवाला विधेयक असल में भरतीय व्यपारी के घुटने तोड़ने के ही उद्देश्य से पेश किया गया था। नेटाल में केवल वही मत दे सकता था जिसके पास कम-से-कम पचास पौंड मूल्य की स्थायी संपत्ति हो या जो दस पौंड वार्षिक किराया देता हो। इस शर्त के अनुसार वहाँ दस हज़ार गोरे मतदाताओं के मुकाबले

सिर्फ ढाई सौ भारतीयों को ही मत देने का अधिकार था। लेकिन इतने थोड़े-से भारतीय मतदाताओं से ही वहाँ के गोरों की जान घबराने लगी। गोरे तो बिलकुल ही नहीं चाहते थे कि भारतीय या कोई भी काला, साँवला या पीला हब्शी नेटाल की संपदा और वहाँ के शासन में हिस्सा बँटाए। वहाँ के राजनैतिक नेता और कार्यकर्ता खुले आम कहते फिरते थे कि "इस विधेयक का मकसद भारतीयों को काफिर बनाना—गुलाम के दर्ज़े तक पहुँचा देना" और "आगे चलकर जो दक्षिण अफ्रीकी राष्ट्र बननेवाला है उससे उन्हें परे रखना है।" एक दूसरे राजनीतिज्ञ की राय में इस विधेयक का उद्देश्य "नेटाल की अपेक्षा उनकी अपनी मातृभूमि में ही भारतीयों के जीवन को अधिक सुखी बनाना था।

भारतीयों को मताधिकार से वंचित करनेवाला विधेयक नेटाल की विधान-सभा ने पास कर दिया और वहाँ के गवर्नर ने उसपर अपनी मंजूरी भी दे दी। लेकिन लंदन के उपनिवेश मंत्रालय ने उसे यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि यह विधेयक ब्रिटिश साम्राज्य के एक भाग के निवासियों के साथ भेदभाव बरतनेवाला है। लंदन की इस अस्वीकृति का बहुत-कुछ श्रेय गांधीजी के प्रभावशाली प्रचार-आंदोलन को भी देना होगा। नेटाल के गोरे लंदन के इस विशेषाधिकार से निरुत्साहित नहीं हुए। अब उन्होंने दूसरा दाँव चला जिसमें वर्ण-बाधा और रंग-भेद का कहीं उल्लेख भी नहीं था। एक संशोधित विधेयक पारित किया गया, जिसके अनुसार, "गवर्नर जनरल की विशेष अनुमति के बिना जिन देशों (यूरोप के अतिरिक्त) में पार्लामेंटरी ढंग की चुनाव-प्रणाली और उससे बनी जन-प्रतिनिधि संस्थाएं नहीं हैं, वहाँ के मूल निवासियों का नाम मतदाता-सूची में दर्ज़े नहीं" हो सकता था। यह संशोधित विधेयक भी मूल विधेयक की ही भाँति भारतीय को मताधिकार से वंचित करता था।

भारतीय व्यापारियों और प्रवासियों पर तरह-तरह की कोंचने वाली बाधाएँ लगा दी गईं। अब नेटाल में बिना लाइसेंस के कोई व्यापार ही नहीं कर सकता था; यूरोपियनों को लाइसेंस बड़ी आसानी से माँगते ही मिल जाता था, लेकिन भारतीयों को या तो मिलता ही न था या बहुत कोशिशों और खर्चे के बाद मिलता था। हर प्रवासी के लिए किसी एक यूरोपीय भाषा का ज्ञान अनिवार्य कर दिया गया, जिसका नतीजा यह हुआ कि अपनी मर्जी से जानेवालों के लिए दक्षिण

अफ्रीका के दरवाज़े बंद हो गए; लेकिन इकरारनामे के मातहत लाए जानेवाले अर्द्धगुलाम गिरमिटियों के लिए ऐसी कोई शर्त और रोक नहीं थी।

असल में देखा जाए तो इस भारतीय-विरोधी अभियान में नेटाल के गोरे ट्रांसवाल और औरेंज फ्री-स्टेट के अपने बोअर पड़ोसियों का ही अनुकरण कर रहे थे। ट्रांसवाल (बोअर) रिपब्लिक का प्रेसिडेंट क्रूगर तो बड़ा ही झगड़ालू और बदतमीज था। उसने एक भारतीय-प्रतिमंडल से यहाँतक कह दिया, "तुम इस्माइल के वंशज हो, इसलिए तुम्हारा जन्म ही हुआ है ईसू के वंशजों की गुलामी करने के लिए"। उन दिनों प्रिटोरिया में ब्रिटिश सरकार का एक प्रतिनिधि रहता था। जब उससे शिकायत की गई तो उसने कुछ भी करने में अपनी मजबूरी ज़ाहिर कर दी। बाद में जब बोअर-युद्ध छिड़ा तो बोअरों पर लगाए गए अनेक आरोपों में भारतीयों के साथ उनका दुर्व्यवहार भी एक था। लेकिन उस समय दक्षिण अफ्रीका में अंग्रेज़ों से न्याय पाने की भारतीयों की आशा दुराशा ही थी। शीध्र ही उन्हें पता चल गया कि न तो उन्हें बोअरों से न्याय मिल सकता है और न अंग्रोज़ों से।

भारतीयों की कानूनी स्थिति तो बुरी थी ही, लेकिन उन्हें रोज़ गोरों के हाथों जो अपमान सहने पड़ते थे वे तो और भी कष्टदायी थे। भारतीय कोई भी क्यों न हो, 'कुली' नाम से पुकारा जाता था। भारतीय स्कूल मास्टर 'कुली स्कूल मास्टर' था, भारतीय स्टोर-कीपर 'कुली स्टोर-कीपर और भारतीय दुकानदार 'कुली दुकानदार'। गांधीजी को 'कुली बैरिस्टर' कहा जाता था। जिन जहाज कंपनियों के मालिक भारतीय थे उनके जहाजों को 'कुली जहाज' कहा जाता था। भारतीयों का वर्णन आमतौर पर 'गाली के योग्य एशियाई गंदगी, बुराइयों के भंडार, भातखोर और गंदे कीट-पतंग खानेवालों के रूप में किया जाता था। नेटाल के संवैधानिक ग्रंथ में उनका उल्लेख 'अर्द्ध-बर्बर एशियाई या एशिया की असभ्य जाति के लोग' कहकर किया गया था। बिना अनुमतिपत्र के न तो वे फुटपाथ पर चल सकते थे और न रात में घर से बाहर ही निकल सकते थे। पहले और दूसरे दर्जे के टिकट उन्हें दिए नहीं जाते थे। गोरे यात्री के एतराज करने पर उन्हें बिना कहे-सुने रेलगाड़ी के डिब्बे से बाहर धकेल दिया जाता था। कभी-कभी तो उन्हें रेलगाड़ी के फुटबोर्ड पर खड़े-खड़े मुसाफिरी करनी पड़ती थी। यूरोपियन होटलों में वे प्रवेश नहीं कर सकते

थे। 'कैप टाइम्स' नामक अखबार ने ठीक ही लिखा था कि “जिन लोगों के बिना उसका काम एक क्षण भी नहीं चल सकता, उन्हीं से भयंकर घृणा का विचित्र दृश्य नेटाल में हमें देखने को मिलता है। यहाँ से सारे भारतवासियों के चले जाने पर इस उपनिवेश के वाणिज्य और व्यवसाय की जो दुरव्यवस्था होगी उसकी कल्पना करते भी डर लगता है। लेकिन फिर भी भारतीयों को यहाँ बड़ी बुरी तरह दुरदुराया और हीन समझा जाता है ।”

ट्रांसवाल में भारतीय व्यापारी खास जगहों के बाहर न तो रह सकते थे और न व्यापार ही कर सकते थे। 'लंदन टाइम्स' ने इन स्थानों को यहूदियों की बंदी-बस्तियों, 'गेटों', का नाम दिया था। औरेंज फ्री-स्टेट के एक कानून के अनुसार न केवल एशियावासी बल्कि किसी भी रंगीन जाति का कोई आदमी वहाँ व्यापार अथवा कोई भी कारोबार नहीं कर सकता था। 'कैप टाइम्स' अखबार ने लिखा था, “भारतीय जहाँ भी जाता है, काफी अच्छा और उपयोगी काम करता है। किसी भी तरह की सरकार क्यों न हो, वह उसके नियम-कानून का पूरा पाबंद रहता है। बहुत थोड़े में वह अपना काम चला लेता है और स्वभाव से ही परिश्रमी होता है। लेकिन उसकी ये अच्छाइयाँ ही उसकी दुश्मन बन जाती हैं। मेहनत-मज़दूरी के जिस क्षेत्र में भी वह प्रवेश करता है, इन सद्गुणों के कारण दूसरे उसे अपना दुर्दांत प्रतिद्वंद्वी मानने लगते हैं।" कई वर्षों बाद लायनल कर्टिस ने गांधीजी से सच ही कहा था कि यूरोपवासियों को कुपित करनेवाली असली बात भारतीयों के सद्गुण ही थे, उनके दुर्गुण नहीं और उनपर राजनैतिक अत्याचार भी उनके इन सद्गुणों के कारण ही हुए।

---

1. मसानी, आर. पी. : 'दादाभाई नौरोजी', लंदन; पृष्ठ 468।

६ बिना अपराध दंड

गांधीजी के सार्वजनिक कार्यों और वकालत को देखते हुए तो ऐसा ही लगता था जैसे वह नेटाल में बस गए हों। सन् 1896 के मध्य में वह अपने परिवार को लिवा जाने के लिए भारत आए | लगे हाथों उनका उद्देश्य दक्षिण अफ्रीका के प्रवासी भारतीयों के लिए देश में जितना हो सके समर्थन पाना और जनमत बनाना भी था।

जहाज से वह कलकत्ता उतरे और वहाँ से रेल के द्वारा बंबई होते हुए अपने घर राजकोट पहुँचे।

राजकोट में उन्होंने दक्षिण अफ्रीका के प्रवासी भारतीयों की समस्या पर एक पुस्तिका लिखी और उसे छपवाकर देश के प्रमुख समाचारपत्रों एवं गणमान्य नेताओं को उसकी प्रतियाँ भेजीं | इस काम में उनका लगभग एक महीने का समय लग गया। इस पुस्तिका में बातें तो प्राय: वे ही थीं, जो गांधीजी ने नेटाल से प्रकाशित अपनी ही पुस्तिकाओं—'दक्षिण अफ्रीका में बसनेवाले हरेक अंग्रेज़ से अपील' (एन अपील टू एवरी ब्रिटेन इन साउथ अफ्रीका) और 'भारतीय मताधिकार : एक अपील' (दि इंडियन फ्रेंचाइज : एन अपील) में लिखी थीं। लेकिन इसकी भाषा उन दोनों से कुछ नरम थी और चित्रण जान-बूझकर हलका रखा गया था।

फिर इस समस्या पर लोकमत तैयार करने के उद्देश्य से गांधीजी ने देशव्यापी दौरा शुरू किया। सबसे पहले वह बंबई आए और वहाँ बंबई के 'बेताज बादशाह’ सर फीरोज़शाह मेहता से मिले। गांधीजी को इनपर अपने लंदन के विद्यार्थी-काल से ही असीम श्रद्धा और भक्ति थी। सर फीरोज़शाह मेहता के सभापतित्व में गांधीजी का भाषण सुनने के लिए एक सभा का आयोजन हुआ। लिखित भाषण तैयार कर लेने की बात उनसे पहले ही कह दी गई थी। खचाखचभरे सभा-भवन में गांधीजी अपना लिखित भाषण पढ़ने के लिए खड़े हुए, लेकिन दो पंक्तियों के बाद उनसे आगे पढ़ा न गया, गला सूख गया और सारा सभा-भवन आँखों में नाचने लगा। वह बैठ गए और उनका शेष भाषण बंबई के उस समय के प्रसिद्ध वक्ता वाचा ने बड़े ही प्रभावोत्पादक ढंग से पढ़कर सुनाया।

पूना में गांधीजी महाराष्ट्र की राजनीति के दो समेरु गोखले और तिलक से मिले। गोपालकृष्ण गोखले अपना सारा जीवन सार्वजनिक कार्यों के लिए समर्पित कर चुके थे। उनकी तेज़ निगाहें हमेशा देशभक्त नवयुवकों को खोजने-परखने में लगी रहती थीं। दक्षिण अफ्रीका के युवा बैरिस्टर गांधीजी के उत्साह और कार्यनिष्ठा से वह बड़े प्रभावित हुए। गांधीजी तो पहली ही मुलाकात में उनके मुरीद बन गए। गोखले और तिलक की सार्वजनिक और राजनैतिक मामलों में कभी पटरी नहीं बैठती थी। हर समस्या और हर प्रश्न पर एक के विचार पूरब की ओर चलते थे तो दूसरे के पश्चिम की ओर। दक्षिण अफ्रीका के प्रवासी भारतीयों की समस्या पर गांधीजी का भाषण सुनने के लिए दोनों पहली बार एक सार्वजनिक सभा का संयुक्त रूप से आयोजन करने को तैयार हुए, जो एक तरह से अनहोनी-सी ही बात थी। तिलक अपने समय के महान् राजनैतिक नेता और प्रख्यात पत्रकार थे। पहली ही निगाह में वह ताड़ गए कि अफ्रीका के इस युवा बैरिस्टर को भारतीय राजनीति का रंचमात्र भी ज्ञान नहीं है।

नेटाल में गांधीजी अपना सार्वजनिक कार्य और भाषण आदि बड़े आत्मविश्वास और सूझ-बूझ से कर लेते थे, लेकिन भारत में इतने बड़े-बड़े और धुरंधर नेताओं के सामने भाषण करते हुए उन्हें बड़ी घबराहट होती थी। अपनी छोटी उम्र और अनुभवहीनता का विचार बार-बार कोंचने लगता। सर फीरोज़शाह मेहता हिमालय की तरह ऊँचे और दुर्लंघ्य लगते थे, तिलक समुद्र की तरह विशाल और अगाध और गोखले तो मानो गंगा का पावन प्रवाह ही थे। बंबई में तो गांधीजी अपना लिखित भाषण भी पूरा नहीं पढ़ सके थे। ठीक वही हाल हुआ जो पहले मुकदमे के समय खफीफा अदालत में पेश होने पर हुआ था। यह अच्छा ही हुआ कि उन्होंने अपना राजनैतिक जीवन भारत में नहीं, दक्षिण अफ्रीका में आरंभ किया। यदि भारत में शुरू करते तो पग-पग पर बाधाओं से टकराते-टकराते जाने क्या हाल हो जाता। आत्मविश्वास की कमी और अपरिपक्वता के विचार से जो हानि होती, वह तो थी ही, उस समय की भारतीय राजनीति भी उनकी रचनात्मक प्रतिभा के उपयुक्त नहीं थी—सभी क्षेत्रों में दलबंदियों और वैयक्तिक उखाड़-पछाड़ का ज़ोर हो चला था। लेकिन इतना सब होते हुए भी गांधीजी को सभी प्रमुख नेताओं का स्नेह, सहयोग और

समर्थन मिला, क्योंकि भारत के सभी पक्षों और दलों के नेता दक्षिण अफ्रीका के प्रवासी भारतीयों के हितों और अधिकारों के प्रश्न पर प्रायः एकमत थे।

ज्यादातर गिरमिटिया मज़दूर मद्रास प्रेसिडेंसी के ही थे, इसलिए जब गांधीजी मद्रास पहुँचे तो वहाँ उनका ज़ोरदार स्वागत हुआ। सभी पक्षों के नेताओं और समाचारपत्रों से पूरा-पूरा सहयोग मिला, जिनमें प्रभावशाली अंग्रेज़ी दैनिक 'हिन्दू' का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यहाँ गांधीजी की लिखी पुस्तिका हाथों-हाथ बिक गई और उसका नया संशोधित, परिवर्द्धित संस्करण निकालना पड़ा। कलकत्ता के नेताओं ने वैसा उत्साह नहीं दिखाया और वहाँ के अखबारवालों से भी उतना सहयोग नहीं मिला। 'स्टेट्समैन' और 'इंग्लिशमैन' अखबारों ने ज़रूर गांधीजी से भेंट लेकर उसका विवरण छापा। ये दोनों अखबार अंग्रेज़ मालिकों के थे।

कलकत्ता में सार्वजनिक सभा की योजना अभी बन ही रही थी कि गांधीजी को नेटाल से तुरंत लौट आने का तार मिला। उन्हें अपना देशव्यापी दौरा कलकत्ता में ही समाप्त कर देना पड़ा, लेकिन फिर भी काफी काम हो चूका था। प्रवासी भारतीयों की समस्या के प्रति वह अपने देशवासियों की रूचि जाग्रत कर काफी जनमत तैयार कर चुके थे। प्रमुख नगरों में चोटी के प्रभावशाली नेताओं के सभापतित्व में आम सभाएँ की गई थीं और देश के समाचारपत्र-जगत् ने, जिसमें एंग्लो-इंडियन अखबार भी शामिल थे, साम्राज्यवाद की असलियत लोगों पर जाहिर कर दी थी।

गांधीजी के दक्षिण अफ्रीका पहुँचने के पहले ही भारत में उनके कार्यों और भाषणों की तोड़ी-मरोड़ी हुई रिपोर्ट नेटाल पहुँच गई और वहाँ के गोरे वाशिंदे मारे गुस्से के आगबबूला हो उठे। 'रायटर' के लंदन कार्यालय ने एक चार पंक्तियों का तार भेजा था, जिसे नेटाल के सभी समाचारपत्रों ने प्रमुख स्थान पर छापा। वह तार इस प्रकार था—"1 सितंबर । भारत में छपी एक पुस्तिका में कहा गया है कि नेटाल में भारतीयों को लूटा जाता है, उनपर हमले किए जाते हैं और उनके साथ जानवरों-जैसा बर्ताव होता है, जिसकी कोई दाद-फरियाद नहीं। 'टाइम्स ऑफ इंडिया' पत्र ने इन आरोपों की जाँच की सिफारिश की है।"

'रायटर' का मतलब उस पुस्तिका से था, जिसे गांधीजी ने भारत में लिखा, छापा और वितरित किया था। गांधीजी की लेखन-शैली की प्रशंसा में जोहान्सबर्ग का प्रमुख अखबार 'दि स्टार' एक बार लिख चुका था कि उनके लिखने का ढंग "ओजस्वी, मर्मस्पर्शी, संयत और अच्छा है।" 'नेटाल मरकरी' ने भी लेखन में उनके 'संयम और निरुद्विग्नता' की प्रशंसा की थी। भारत में गांधीजी ने जो पुस्तिका लिखी थी उसकी भाषा नेटाल में लिखी उन दोनों पुस्तिकाओं से अधिक 'नरम' थी और उसमें उन्होंने स्थिति के चित्रण को जान-बूझकर 'हलका' रखा था। हर भाषण के एक-एक शब्द को खूब तौल-तौलकर पहले लिख लिया था और तब उन्हें पढ़ा गया था। उनका सत्यपरायणता और अतिशयोक्ति से अपने को बचाने की आदत से कलकत्ता के 'इंग्लिशमैन' अखबार के संपादक इतने प्रभावित हुए कि दक्षिण अफ्रीका के प्रवासी भारतीयों की समस्या पर लिखा अपना अग्रलेख उन्हें पढ़ने को ही नहीं दिया, उसमें काट-छाँट करने की छूट भी दे दी थी।

भारत में गांधीजी ने जो कुछ किया और कहा था उसकी सही रिपोर्ट तो नेटाल पहुँच नहीं पाई और इसी बीच लंदन से 'रायटर' के उस तार ने वहाँ बवंडर पैदा कर दिया। वहाँ के गोरे गांधीजी से बेहद नाराज हो गए। जिस देश ने आश्रय दिया उसी को बदनाम करने, 'नेटाल के यूरोपियनों को गंदगी में खींचने और उनके चेहरों पर कालिख पोतने' के आरोप उनपर लगाए गए। नेटाल को भारतीय प्रवासियों से भर देने के षड्यंत्र का दोषारोपण भी उनपर किया गया। बात यों हुई कि 'कूरलैंड' नामक जिस जहाज से गांधीजी और उनका परिवार यात्रा कर रहा था वह और 'नादेरी' नामक एक दूसरा स्टीमर दोनों एक ही दिन बंबई से रवाना हुए और एक ही समय नेटाल पहुँचे। गांधीजी के पुराने मुवक्किल और मित्र अब्दुल्ला सेठ 'कूरलैंड' के मालिक थे और 'नादेरी' के एजेंट भी वही थे। दोनों जहाजों के कुल मिलाकर आठसौ यात्रियों में से चार सौ के लगभग नेटाल उतरनेवाले थे। दोनों जहाजों का बंबई से एक साथ रवाना होना और 18 दिसंबर 1896 को साथ-साथ डरबन पहुँचना महज एक संयोग था। लेकिन 'रायटर' के तार से नाराज़ नेटाल के गोरों ने इस आकस्मिक संयोग को षड़यंत्र समझ लिया। डरबन के टाउन हॉल में दो हज़ार गोरों ने सभा करके 'मुक्त भारतीयों' को नेटाल की भूमि पर न उतरने देने की सरकार से माँग की।।

जब दोनों जहाजों ने बंदरगाह में लंगर डाल दिए तो यूरोपियनों ने भारतीय यात्रियों को समझाने-बुझाने और लोभ-लालच देने से लेकर डराने-धमकाने तक सभी उपाय खूब आजमाए। उलटे कदम लौट जाने वालों को वापसी किराए का लोभ और इनकार करनेवालों को समुद्र में फेंक देने की धमकियाँ दी गईं। जहाजों के मालिकों को चेतावनी दी गई कि या तो अनचाहे यात्रियों को बंदरगाह से वापस भारत ले जाओ या नेटाल सरकार और वहाँ के गोरों की कोपाग्नि का सामना करने को तैयार हो जाओ। जहाजों को क्वारंटीन में रख दिया गया; लेकिन जब क्वारंटीन की अवधि पाँच दिन से बढ़ाकर तीन सप्ताह कर दी गई तो स्वास्थ्य-रक्षा की अपेक्षा उसके राजनैतिक प्रयोजन में कोई भी संदेह नहीं रह गया। इसमें नेटाल के प्रभावशाली यूरोपियनों का हाथ था और वहाँ का एटर्नी-जनरल हैरी एस्कंब उन लोगों की खुल्लमखुल्ला मदद कर रहा था। भारतीय यात्रियों में ज़्यादातर अनपढ़ थे और पहली बार इतनी लंबी समुद्री यात्रा कर अपने परिवारों के साथ यहाँ तक पहुँचे थे। लेकिन कोई भी गोरों की धमकियों से विचलित नहीं हुआ, क्योंकि गांधीजी उन्हें बराबर धीरज बँधाते और आशा दिलाते रहते थे। असल में बलि का बकरा तो वह ही थे। नेटाल के यूरोपियनों का सारा गुस्सा उन्हीं के कारण था। गांधीजी भी इस बात को महसूस करते थे कि उन्हीं की वजह से सैकड़ों यात्रियों की, जिनका वे नाम-धाम तक नहीं जानते , जान जोखिम में थी और खुद उन्हीं के अपने बाल-बच्चे भी मुसीबत में पड़ गए थे। बड़े दिन (क्रिसमस-डे, 1896) के अवसर पर जहाज के कप्तान के कमरे में एक छोटी-सी सभा हुई और उसमें किसी ने गांधीजी से पूछ लिया कि गोरे जैसी धमकी दे रहे हैं वैसा कर ही गुजरें और ज़ोर-जबर्दस्ती से भारतीयों को नहीं ही उतरने दें तो बताइए, आप क्या करेंगे ? गांधीजी ने जवाब दिया था, "मुझे आशा है कि उन्हें माफ कर देने और उनपर मुकदमा न चलाने की हिम्मत और बुद्धि ईश्वर मुझे देगा। मुझे उनपर ज़रा भी गुस्सा नहीं है। उनकी नासमझी और तंगदिली पर अफसोस ही है।"

जब तेईस दिन का राजनैतिक क्वारंटीन और गोरों की बुरी-से-बुरी धमकियाँ भी भारतीय यात्रियों को डिगा न सकीं तो 1897 की 13 जनवरी को दोनों जहाजों को बंदरगाह में प्रवेश करने और यात्रियों को उतारने की आज्ञा दे दी गई। लेकिन गांधीजी और उनके परिवार को सब यात्रियों

के साथ नहीं उतरने दिया गया। मि. एस्कंब ने कप्तान को कहलवाया कि गांधी और उनके परिवार को शाम तक रोके रहो; अंधेरा होने पर पोर्ट सुपरिंटेंडेंट उन्हें अपनी हिफाजत में लिवा ले जाएंगे। लेकिन दोपहर के समय गांधीजी के मित्र यूरोपियन वकील मि. लाटन उनसे मिलने आए और बताया कि इस समय शांति है, किसी तरह का खतरा नहीं है और हो भी तो आपका 'रात में चोर की तरह' लुक-छिपकर डरबन नगर में प्रवेश करना कोई अच्छी बात नहीं। इसपर यह तय पाया कि गांधीजी की पत्नी और बच्चे तो तुरंत सवारी से उनके मेजबान रुस्तमजी के घर पहुँच जाएं और मि. लाटन और गांधीजी पैदल चलकर वहाँ जाएं। बंदरगाह से बाहर निकलकर गांधीजी थोड़ा ही दूर गए थे कि कुछ यूरोपियन लड़कों ने उन्हें पहचान लिया। तुरंत कुछ लोग इकट्ठे हो गए और भीड़ बढ़ने लगी और उसके साथ-साथ शोर-शराबा और धमकियाँ भी। भीड़ का गुस्सा और बदलते तेवर देखकर मि. लाटन ने रिक्शा मंगवाया, लेकिन गोरों ने रिक्शा चलानेवाले जूलू लड़कों को डरा-धमकाकर भगा दिया। गांधीजी और लाटन आगे बढ़े तो मजमा भी उनके साथ हो लिया और भीड़ बढ़ती चली गई। वेस्ट स्ट्रीट पर पहुँचते-पहुँचते भीड़ मि. लाटन को खींचकर अलग ले गई। अब गांधीजी पर सड़े अंडों और कंकड़-पत्थरों की बौछार होने लगी। एक क्रोधोन्मत्त गोरे ने चीखकर कहा, “अखबार में वह सब तूने ही लिखा था न ?” और कसकर गांधीजी को एक लात मारी। उन्हें चक्कर आ गए । दम लेने के लिए उन्होंने बगल के घर की जाली पकड़ ली और फिर किसी तरह लड़खड़ाते हुए आगे बढ़े। जीवित घर पहुँचने की सारी आशाएं उन्होंने छोड़ दीं; लेकिन जैसा कि उन्होंने बाद में बताया, उस समय भी अपने पर हमला करनेवालों के प्रति उनके मन में कोई रोष नहीं था और न उन्होंने उनको दोष ही दिया। इतने में एक बड़ी ही सुंदर और वीरतापूर्ण बात हुई। पुलिस सुपरिंटेंडेंट मि. अलेक्ज़ेंडर की पत्नी वहाँ आ पहुँची। उन्होंने गांधीजी को पहचाना तो उनकी बगल में आ खड़ी हुईं और उन्हें कंकड़-पत्थर की वर्षा से बचाने के लिए अपनी छतरी खोल ली। गोरों की भीड़ यों तो गुस्से से बौखलाई हुई थी, परंतु गोरी मेम पर हाथ उठाने का किसी का साहस नहीं हुआ। इतने में पुलिस के सिपाही आ गए और उन्होंने अपनी हिफाज़त में गांधीजी को रुस्तमजी के घर पहुँचा दिया।

अभी गांधीजी के घावों की मरहमपट्टी होकर चुकी ही थी कि गोरों की भीड़ ने घर घेर लिया और धमकी देने लगे कि यदि गांधीजी को हमारे हवाले नहीं किया गया तो आग लगा देंगे। सुपरिंटेंडेंट अलेक्ज़ेंडर को पता चला तो वह वहाँ पहुँचकर मकान के दरवाज़े पर खड़े हो गए और भीड़ को हँसी-मजाक में बहलाए रख गांधीजी के पास संदेशा भेजा कि यदि आप घर, माल-मता और स्त्री-बच्चों सहित सब लोगों को ज़िन्दा भुनवाना नहीं चाहते तो चुपचाप वेश बदलकर खिसक जाइए। गांधीजी साफे के नीचे सिर पर पीतल की तश्तरी रखे हिन्दुस्तानी सिपाही की वर्दी में दो खुफिया पुलिसवालों के साथ, जिनमें से एक भारतीय व्यापारी के वेश में था, बगल की गली से होकर पड़ोस की एक दूकान में पहुँचे और गोदाम में लगी हुई बोरों की थप्पियों को अंधेरे में लांघकर दुकान के दरवाज़े की राह भीड़ के बीच में से होते हुए निकले और थाने पहुँच गए।

लेकिन थाने में उनको अधिक समय तक नहीं रहना पड़ा। रायटर ने भारत में गांधीजी के कार्यों की जो संक्षिप्त और गलत-शलत रिपोर्ट दी थी उसीसे नेटाल के गोरे अपना आपा खो बैठे थे। इसलिए जिस दिन आक्रमण हुआ उस सवेरे गांधीजी से मिलने के लिए आए हुए एक पत्र-प्रतिनिधि को अपने पर लगाए गए सभी आरोपों का एक-एक कर खुलासेवार जवाब दे दिया तो लोगों की गलतफहमी, देर से ही क्यों न हो, काफी हद तक दूर हो गई थी।

उधर लंदन से उपनिवेश-मंत्री ने गांधीजी पर हमला करनेवालों को गिरफ्तार कर उनपर मुकदमा चलाने के लिए नेटाल सरकार को तार दिया। गांधीजी ने इसका जो जवाब दिया वह बड़ी ही अद्भुत था। उन्होंने कहा कि अपने व्यक्तिगत मामले में अदालत न जाने का मैंने नियम बना लिया है; और फिर इस मामले में क्रोधावेश में हाथ छोड़ बैठनेवाले दो-चार आदमियों को दोषी मानकर सज़ा दिलाना वाजिब भी न होगा, क्योंकि असली अपराधी तो गोरी जाति के मुखिया और नेटाल की सरकार के वे सदस्य हैं, जो डरबन के गोरों को गुमराह कर उनके गुस्से को भड़काते रहे हैं।

13 जनवरी 1897 का वह दिन बड़ा ही महत्त्वपूर्ण और निर्णायक दिन था। गांधीजी मौत से बाल-बाल बचे थे। उन्होंने जिस संयम, उदारता और क्षमा का परिचय दिया उससे भारतीयों की उनके प्रति श्रद्धा और गोरों में उनकी प्रतिष्ठा काफी बढ़ गई थी। वह नेटाल इंडियन कांग्रेस के

द्वारा भारतीयों के संगठन और सेवा का कार्य बराबर करते रहे | 1899 में जब बोअर-युद्ध छिड़ा तो गांधीजी के सामने यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि इस युद्ध में भारतीयों के लिए किस पक्ष का समर्थन करना उचित होगा ? आगे चलकर यह युद्ध दक्षिण अफ्रीका के इतिहास की धारा को ही मोड़नवाला सिद्ध हुआ।

७. रोटी के बदले पत्थर

1899 में बोअर-युद्ध छिड़ते ही दक्षिण अफ्रीका के नायकत्व के लिए अंग्रेज़ों और वोअरों का पारस्परिक संघर्ष अपने अंतिम चरण में पहुँच गया। इन दोनों गोरी जातियों को आपस में एक-दूसरे का खून बहाते देख भारतीयों को कोई दु:ख नहीं हुआ, क्योंकि उन्हें तो दोनों ही सताते थे—यदि अंग्रेज़ कुछ कम तो बोअर बहुत ज़्यादा। गांधीजी के अहिंसा और शांति-संबंधी विचार अभी परिपक्व नहीं हो पाए थे। उनका खयाल था कि ऐसे संकटकाल में सामान्य नागरिक के लिए यह तय करना कि कौन-सा पक्ष न्याय पर है, न तो संभव होता है और न उचित ही। नेटाल के भारतीयों को मामूली से नागरिक अधिकार भी प्राप्त नहीं थे। परंतु गांधीजी का कहना था कि अधिकारों की मांग करनेवालों के भी कुछ कर्तव्य और दायित्व होते हैं, जिनका उन्हें पालन करना चाहिए। कुछ लोगों का यह खयाल था कि अंतिम जीत तो बोअरों की ही होगी, इसलिए इस समय भारतीय यदि किसी भी पक्ष का साथ न दें तो आगे चलकर फायदे में रहेंगे। गांधीजी को यह विचार पसंद नहीं था, वह इसे हद दर्जे की कायरता मानते थे।

अंत में उन्होंने नेटाल के सभी भारतीयों को अपने विचारों का बना ही लिया। लेकिन वहाँ की सरकार को भारतीयों के सहयोग की कोई परवा न थी; शुरू-शुरू में तो वह उनका सहयोग लेने को भी तैयार न हुई। नेटाल विधान-सभा के एक सदस्य, जेमसन ने तो गांधीजी से यहाँतक कहा, “युद्ध के बारे में तुम लोग जानते ही क्या हो ? फौज के लिए खासा सिर दर्द हो जाओगे। मदद तो कुछ कर नहीं पाओगे, उलटे हमीं को तुम्हारी हिफाज़त की फिक्र करनी होगी।“ इसपर गांधीजी ने जवाब दिया था, “क्या हम कुछ भी नहीं कर सकते ? कम-से-कम घायलों की सेवा-टहल तो कर ही सकते हैं। यह तो ऐसा बड़ा काम नहीं और न इसमें किसी खास अकल या समझ की ज़रुरत ही होती है ।” “होती है, ज़रुर होती है।“ जेमसन ने फरमाया था, “इस काम में भी बड़ी समझ और ट्रेनिंग की ज़रुरत है।”

आखिर में जब टुगेला नदी के किनारे जनरल बुलर की फौजें बुरी तरह पिटने लगीं और अंग्रेज़ सैनिकों के हौसले काफी पस्त हो चले तब कहीं भारतीयों को एक एंबुलेंस टुकड़ी बनाने की आज्ञा मिली। इस टुकड़ी में लगभग 1100 आदमी थे। इंडियन एंग्लिकन मिशन के डॉक्टर

बूथ इसके मेडिकल सुपरिंटेंडेंट थे, लेकिन वास्तव में तो गांधीजी ही इसके नायक और नेता थे। पहली बार इस टुकड़ी को कौलेंसो के मोर्चे पर मैदान में भेजा गया, जहाँ इसने एक सप्ताह तक खूब कड़ी मेहनत की। वहाँ से इसे स्पियाँकोप की लड़ाई में भेजा गया, जहाँ इसने तीन सप्ताह काम किया। इस एंबुलेंस टुकड़ी के जवान 'बैरा' कहलाते थे, क्योंकि उनका काम तोप-बंदूक की मार की हद से बाहर घायलों को उठाना और पैदल ढोकर पच्चीस मील दूर छावनी के अस्पताल में पहुँचाना था। इकरार के अनुसार इनसे मार की हद में काम करने के लिए नहीं कहा जा सकता था, लेकिन फिर भी कई ऐसे मौके आए जब ऐसा अनुरोध किया गया और इन्होंने मार की हद में जाकर भी खुशी-खुशी काम किया।

उस लड़ाई में सेवारत गांधीजी का 'प्रिटोरिया न्यूज' के संपादक मि. विअर स्टेंट ने जो स्फूर्तिदायक शब्द-चित्र अपने अखबार में छापा था, उसके कुछ अंश इस प्रकार हैं—"सारी रात की कड़ी मेहनत के बाद, जिसने कई तगड़े जवानों को ढीला कर दिया था, बड़े सवेरे मेरी भेंट मि. गांधी से हुई। वह सड़क के किनारे बैठे हुए राशन के फौजी बिस्कुट का कलेवा कर रहे थे। उस दिन जनरल बुलर की फौज का हर आदमी थका-मांदा, सुस्त और निराश था, और सारी दुनिया को कोस रहा था। अकेले गांधीजी ही प्रसन्न, अविचलित और संतुलित थे; उनकी वाणी में आत्मविश्वास की झलक और आँखों में करुणा की ज्योति जगमगा रही थी।"

जनरल बुलर ने भारतीय एंबुलेंस टुकड़ी के काम की अपने खरीते में तारीफ की और उसके सैंतीस 'मुखियों' को युद्ध के तमगे दिए गए। अंग्रेज़ों द्वारा बोअर-युद्ध की विजय में भारतीयों की इस सहायता को नगण्य ही गिना जाएगा, पूछे जाने पर स्वयं गांधीजी ने भी शायद यही कहा होता; लेकिन फिर भी अल्पमत के दबे-कुचले लोगों का यह प्रयत्न काफी प्रशंसनीय था और इसकी खूब सराहना की गई। गोरे अखबारों ने तो भारतीयों की प्रशंसा में गीत-प्रशस्तियाँ भी लिखीं और उन्हें 'साम्राज्य के सुपुत्र' तक कहा। गांधीजी को व्यक्तिगत रूप से धन्यवाद देनेवाले गोरों में तो जनवरी 1897 में डरबन में उनपर घातक हमला करनेवाले भारतीय-विरोधी प्रदर्शन के कई सरगना भी थे।

जब लड़ाई के आखिरी नतीजे के बारे में कोई संदेह नहीं रह गया, तो गांधीजी ने भारत लौट जाने का फैसला किया, क्योंकि उनके विचार में दक्षिण अफ्रीका की राजनैतिक परिस्थिति में काफी अच्छा परिवर्तन हो चुका था। लेकिन नेटाल के भारतीय उन्हें आसानी से क्यों छोडने लगे। आखिर इस शर्त पर इजाज़त मिली कि साल-भर के अंदर अगर उनकी ज़रुरत मालूम हुई तो उन्हें दक्षिण अफ्रीका लौट आना होगा।

1901 के आखिर में, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के कलकत्ता-अधिवेशन के ऐन मौके पर गांधीजी भारत में बंबई के बंदरगाह पर उतरे। कलकत्ता-कांग्रेस के बाद वह एक महीने तक गोखले के साथ रहे। 1896 में दोनों की पहली मुलाकात हुई थी और गोखले तभी से गांधीजी की गतिविधियों में दिलचस्पी लेते रहे थे। वह गांधीजी को भारतीय राजनीति में लाना चाहते थे। दोनों एक-दूसरे का बड़ा आदर करते थे। गोखले गांधीजी की ईमानदारी, लगन और काम करने के ढंग से प्रभावित थे, तो गांधीजी गोखले की लोक-सेवा और देश-भक्ति पर निछावर।

गोखले की बड़ी इच्छा थी कि गांधीजी बंबई में बस जाएं, वहीं वकालत करें और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के कार्यों में उनकी मदद करें, इसलिए वह कुछ समय राजकोट में वकालत करने के बाद बंबई चले आए। उन्होंने सांताक्रुज में एक अच्छा-सा बंगला किराए पर ले लिया और थोड़े दिनों में काफी अच्छी वकालत भी जमा ली। गोखले बड़े खुश हुए; उस समय प्रतिभा के धनी और निष्ठावान देशसेवकों की बड़ी कमी थी। गांधीजी-जैसे सुयोग्य, उत्साही और लगनशील कार्यकर्ता को पाकर कौन खुश न होता ! लेकिन गांधीजी और गोखले की सारी योजनाएं धरी रह गईं। दक्षिण अफ्रीका से गांधीजी की बुलाहट का तार आ गया; संकट में घिरे प्रवासी भारतीयों ने उन्हें अपना नेतृत्व करने के लिए तुरंत बुला भेजा था।

इंग्लैंड के उपनिवेश मंत्री मि. चेंबरलेन दक्षिण अफ्रीका के दौरे पर जा रहे थे; वहाँ के प्रवासी भारतीय उन्हें अपनी नई-पुरानी शिकायतें सुनाना चाहते थे, इसीलिए गांधीजी को तत्काल बुलाया गया था।

बोअर-युद्ध के खत्म होने पर ब्रिटिश सरकार ने वहाँ के कायदे-कानून की जाँच-पड़ताल के लिए एक समिति बिठा दी थी और उसे यह काम सौंपा गया था कि जो भी नियम-कानून ब्रिटिश विधान से मेल न खाते हों और महारानी विक्टोरिया की प्रजा के नागरिक अधिकारों में बाधक हों, उन्हें रद्द कर दिया जाए। समिति ने 'महारानी विक्टोरिया की प्रजा' का अर्थ सिर्फ 'गोरी प्रजा' किया, इसलिए प्रवासी भारतीयों के अधिकारों का नए सुधारों में कहीं जिक्र भी नहीं हुआ। उलटे बोअरों के राज्य में जितने भी भारतीय-विरोधी कानून-कायदे थे, उन सबको नए सिरे से एक अलग नियम-संहिता में समेटकर रख दिया।

जब गांधीजी 1902 के दिसंबर महीने में डरबन पहुँचे तो हालत यह थी कि दक्षिण अफ्रीका के प्रवासी भारतीयों को नेटाल में अपनी पुरानी जंजीरें ही नहीं तोड़नी थीं, ट्रांसवाल में गढ़ी हुई नई जंजीरों से भी आज़ाद होना था। गांधीजी के नेतृत्व में नेटाल के भारतीयों का एक प्रतिनिधि-मंडल डरबन में उपनिवेश मंत्री मि. चेंबरलेन से मिला। उन्होंने यथानियम भारतीय प्रतिनिधि-मंडल की सारी बातें बड़ी शांति और सहानुभूति से सुनीं, और अंत में यह सलाह दी कि उपनिवेश तो स्वराज्य-भोगी हैं, अपने घरेलू मामलों में आज़ाद हैं, आपको यहाँ के गोरों से ही समझौता करना चाहिए।

गांधीजी को जिस काम के लिए भरत से बुलाया गया था वह पूरा हो गया। अब वह चाहते तो भारत लौट सकते थे। परिवार, जमे-जमाए धंधे और भारत के सार्वजनिक राजनैतिक कार्य का खिंचाव भी कम नहीं था। लेकिन दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों का संकट इतना बड़ा और विकट और गांधीजी पर उनका विश्वास इतना अधिक और दृढ़ था कि लौट जाने का गांधीजी का मन नहीं हुआ, वह वहीं रुक गए। 1893 में गांधीजी एक साल के लिए दक्षिण अफ्रीका आए थे और आठ बरस तक रह गए; 1902 में वह छह महीने के लिए आए और लौटकर जाने में बारह बरस लग गए। "जबतक घिरे हुए बादल बिखर नहीं जाते या सारी कोशिश के बावजूद और अधिक उमड़कर फट नहीं पड़ते" तबतक दक्षिण अफ्रीका में रहने का गांधीजी ने फैसला कर लिया।

ट्रांसवाल की बड़ी अदालत में वकालत की सनद लेकर वह वहीं बस गए और इस बार उन्होंने जोहान्सबर्ग को अपनी गतिविधियों का केन्द्र बनाया।

यहाँ से गांधीजी के जीवन का नया अध्याय शुरू होता है। बोअर-युद्ध में अंग्रेज़ों की जीत से नेटाल और ट्रांसवाल के गोरे उपनिवेशों की रंग-भेद की भारतीय-विरोधी नीतियाँ खत्म नहीं हुईं; उलटे और भी उग्र हो गई। भारतीयों को गोरों की बराबरी का दर्जा पाने के ही लिए नहीं, छोटे-छोटे-से नागरिक अधिकारों को पाने और पच्चीस-तीस बरसों की तनतोड़ मेहनत से पैदा की हुई संपत्ति के बचाव के लिए भी हर कदम पर लड़ना था। फिर यह बराबरी के जोड़ों की भी लड़ाई नहीं थी, कमज़ोर का ताकतवर से मुकाबल था। कोई नहीं जानता था कि यह लड़ाई कितनी लंबी होगी ! इसक नेतृत्व की जिम्मेवारी अपने ऊपर ली तो गांधीजी ने मन, वचन और कर्म से अपने-आपको इस काम के लिए समर्पित कर दिया; अब उन्हें न धंधे की परव थी और न परिवार की प्रवासी भारतीयों के अधिकारों और मुक्ति की लड़ाई ही उनके लिए सबकुछ थी। इस लड़ाई के दौरान उनके जीवन में ज़बर्दस्त परिवर्तन हुए। वे परिवर्तन केवल बाहर्र रहने-जीने के ढंग तक सीमित नहीं रहे, उन्होंने गांधीजी के अंतर को, विचारों और विश्वास को यहाँतक कि सारे मूल्य-बोध को ही बदल दिया। एक नई दृष्टि, एक नया दर्शन और नए मूल्य-बोध उन्होंने ग्रहण किए।

इस परिवर्तन की कहानी रसप्रद भी है और बोधप्रद भी। यह नैतिक और आत्मिक शक्ति के उन स्रोतों की ओर इंगित करती है, जिनकी बदौलत गांधीजी दो महाद्वीपों के जन-जीवन में इतना अद्भुत और अपूर्व कार्य कर सके।

८. धार्मिक जिज्ञासा

गांधीजी के पिता करमचंद संसारी आदमी थे। धर्म और अध्यात्म में उनकी कोई खास गति नहीं थी। उस जमाने में उनके वर्ग के लोगों का धर्म से जितना वास्ता हो सकता था, उनका भी था। बीमार पड़ने पर हिन्दू पंडितों, जैन मुनियों, पारसी दरवेशों और मुस्लिम औलियों को घर बुलाकर वह उनसे धर्म-चर्चा और वाद-विवाद सुना करते। बचपन में बीमार पिता की तीमारदारी के समय गांधीजी को भी उन चर्चाओं को बहसों को सुनने का मौका मिल जाया करता। उस उम्र में धर्म और अध्यात्म की ऊँची बातें तो ज़रुर उनकी समझ में नहीं आती थीं, परंतु कई धर्मों के विद्वानों के साथ बैठकर मैत्रीपूर्ण ढंग से चर्चा करते देख धार्मिक सहिष्णुता की छाप बालक गांधी के मन पर ज़रुर पड़ती थी।

गांधीजी की माता पुतलीबाई धार्मिक प्रवृत्ति की महिला थीं। साल के बारहों महीने के तीसों दिन वह किसी-न-किसी व्रत, अनुष्ठान और उपवास में लगी रहती थीं। लेकिन फिर भी गांधीजी के परिवार में धर्म की नियमित शिक्षा का कोई प्रबंध नहीं था। गांधीजी-जैसे नीति और धर्म के घोर जिज्ञासु बालक के लिए यह अभाव घोर कमी थी। धर्म के बाहरी आडंबर और दिखावे से उन्हें ज़रा भी संतोष नहीं होता था। एक बार घर में पिताजी की पुस्तकों में मनुस्मृति की पोथी उनके हाथ लग गई। उसमें सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन पढ़ा तो वह उन्हें सही नहीं लगा। लेकिन उनकी शंकओं का समाधान करनेवाला कोई नहीं था। घर में मांस खाना बुरा समझा जाता था, उसपर रोक लगी हुई थी, लेकिन स्मृतिकार मनु उसका समर्थन कर रहा था; यह बात उनके संदेहों और परेशानी को और बढ़ा देती थी। इस सबका लाजमी तौर पर यह नतीजा हुआ कि धर्म और ईश्वर में उनका विश्वास कम होता चला गया।

उन्नीस वर्ष की उम्र में जब गांधीजी लंदन पहुँचे तो हिन्दू धर्म-संबंधी उनका ज्ञान स्वल्प था। उन्होंने बड़ी लज्जा के साथ इस बात को स्वीकार किया है कि अपने थियोसोफिस्ट मित्रों के आग्रह पर सर एडविन आर्नाल्ड-कृत भगवद्गीता के अंग्रेज़ी अनुवाद 'दिव्य संगीत' को पढ़ने तक गीता को उन्होंने न तो संस्कृत में पढ़ा था और न अपनी मातृभाषा गुज़राती में ही । अपने जीवन की मूल प्रेरणा और पथ-प्रदर्शिका गीता से उनका पहला परिचय 'दिव्य संगीत' के ही रूप में हुआ

था। सर एडविन की दूसरी पुस्तक 'एशिया की ज्योति'—गौतम बुद्ध की जीवन कथा—का भी उनपर काफी प्रभाव पड़ा; बुद्ध के त्याग और उपदेशों ने उन्हें अभिभूत कर दिया था।

गांधीजी थियोसोफिकल सोसाइटी के सदस्य तो नहीं बने, लेकिन उसके साहित्य ने उनकी धार्मिक जिज्ञासा को उभारने में ज़रुर मदद की। बाइबिल से भी उनका परिचय पहले-पहल इंग्लैंड में ही हुआ। एक शाकाहारी मित्र ने उन्हें वह पढ़ने के लिए दी थी। 'नए इकरार' (न्यू टेस्टामेंट) से वह बड़े प्रभावित हुए और खासतौर पर 'गिरि-प्रवचन' (सरमन आन-दि माउंट) तो उनके हृदय में ही पैठ गया। 'जो तेरा कुर्ता मांगे उसे अंगरखा भी दे दे, जो तेरे दाहिने गाल पर तमाचा मारे, बायाँ गाल भी उसके सामने कर दे', यह पढ़कर उन्हें गुज़राती कवि श्यामल भट्ट का निम्न छप्पय याद आ गया, जिसे वह बचपन में गाया करते थे :

“पाणी आपने पाय, भलुं भोजन तो दीजे;
आवी नमाये शीश, दंडवत कोडे कीजे।
आपण घासे दाम, काम महोरोनुं करीए;
आप उगारे प्राण, ते तणा दुखमां मरीए।
गुण केडे तो गुण दशगणो, मन, वाचा, कर्मे करी।
अवगुण केडे जे गुण करे, ते जगमां जीत्यो सही ।।[1]

बाइबिल, बुद्ध और श्यामल भट्ट की शिक्षाओं ने उनके हृदय में घर कर लिया था। घृणा के बदले प्रेम और बुराई के बदले भलाई करने की बात भी मन पर अंकित हो गई थी। यद्यपि अभी आचरण में नहीं आ पाई थी, लेकिन अंदर-ही-अंदर फलने-फूलने ज़रुर लगी थी। इंग्लैंड जाने से पहले जिस नास्तिकता रूपी सहारा के रेगिस्तान में[2] वह किशोरावस्था में भटक गए थे, उसे उन्होंने पार कर लिया था।

दक्षिण अफ्रीका पहुँचने के पहले ही साल वे क्वेकर[3] लोगों के संपर्क में आए। गांधीजी की धार्मिक मनोदशा का पता चलते ही वे लोग उन्हें ईसाई बनाने की कोशिशों में लग गए। उन्होंने गांधीजी को ईसाई धर्म और इतिहास से संबंधित किताबो से लाद दिया। वे उन्हें उपदेश देते, उनके साथ और उनके लिए प्रार्थना करते। अंत में वे गांधीजी को प्रोटेस्टेंट ईसाइयों के एक कन्वेंशन में

इस आशा से ले गए कि शायद वहाँ आनेवालों का सामूहिक धर्मोत्साह और श्रद्धा-भावना उनके दिल पर गहरी छाप डालें और वह ईसाई बनने को राज़ी हो जाएं। गांधीजी ने क्वेकर लोगों की सज्जनता, श्रद्धा, उदारता आदि की खूब सराहना की, लेकिन धर्म-परिवर्तन के मामले में बिलकुल साफ-साफ और सच-सच बता दिया कि अंतर से आवाज़ उठे बिना हिन्दू धर्म का परित्याग और ईसाई-धर्म का अंगीकार नहीं कर सकते ।

जब उन्होंने टाल्स्टाय की पुस्तक 'वैकुंठ तुम्हारे हृदय में' (दि किंगडम आफ गॉड इज़ विदिन यू) पढ़ी तो उसके विचारों पर मुग्ध हो गए। इस अकेली पुस्तक से गांधीजी ने ईसाई धर्म के बारे में जितना सीखा और समझा, वह क्वेकर मित्रों की दी हुई ढेर सारी किताबों से भी नहीं जाना जा सका था। इस पुस्तक में टाल्स्टाय ने सभी ईसाई धर्म-संगठनों (कलीसा) की इस बात के लिए कड़ी भर्त्सना की है कि भोली-भाली जनता को अपने जाल में फंसाए रखने के लिए वे ईसा की सच्ची शिक्षाओं का मनमाना , गलत और अकसर उलटा अर्थ किया करते हैं। आज ईसाईयों के आचरण और ईसा के उपदेशों में जो ज़मीन-आसमान का फर्क है उसपर भी इस पुस्तक में खूब रोशनी डाली गई है। अपनी एक दूसरी पुस्तक 'मेरी आस्था' (ह्वाट आई विलीव) में तो टाल्स्टाय ने इस बात पर भी ज़ोर दिया है कि ईसा केवल औपचारिक धर्म के संस्थापक ही नहीं थे, बल्कि उनके उपदेशों में बड़े दार्शनिक, नैतिक और सामाजिक सिद्धांत समाए हुए हैं। टाल्स्टाय जैसे महान् ईसाई-विद्रोही के इन विचारों ने भी गांधीजी को क्वेकर लोगों के प्रभाव से मुक्त रखने में काफी काम किया।

वैसे तो गांधीजी सन् 1901 में भी एक बार एक प्रसिद्ध भारतीय ईसाई के पास 'धर्म-संबंधी जानकारी और विचार-विनिमय' के लिए गए थे, लेकिन उनके द्वारा ईसाई धर्म को अपनाए जाने की संभावना बहुत पहले ही समाप्त हो चुकी थी। उन्होंने हिन्दू धर्म के साथ-साथ दूसरे सभी धर्मों का अध्ययन-मनन किया और अंत में इस निर्णय पर पहुँचे कि धर्म सभी अच्छे हैं, लेकिन साथ ही अपूर्ण भी हैं, क्योंकि "उनकी व्याख्या या तो ठीक से नहीं की गई, या बेमन से की गई।" इस्लाम से उनका परिचय कार्लाइल की पुस्तक 'विभूतियाँ और विभूति पूजा' (हीरोज़ एंड हीरोवरशिप) के एक लेख 'वीर पैगम्बर' (हीरो एज प्रोफेट) के द्वारा हुआ। उन्होंने कुरान का

अंग्रेज़ी अनुवाद और वाशिंगटन इरविंग की लिखी पैगंबर हज़रत मुहम्मद की जीवनी भी पढ़ी। मुहम्मद साहब की गरीबी और विनम्रता और जिस साहस से उन्होंने और उनके शुरू के अनुयायियों ने कठिनाइयों एवं अपमानों का सामना किया था, उस सबका गांधीजी पर कफी गहरा प्रभाव पड़ा।

ईसाई-धर्म और इस्लाम-संबंधी किताबें तो दक्षिण अफ्रीका में ही मिल जाती थीं, लेकिन हिन्दू-धर्म की पुस्तकें उन्हें भारत से मंगवानी पड़ती थीं। धार्मिक विषयों पर वह अपने मित्र रायचंद भाई के साथ पत्र-व्यवहार भी करते थे। रायचंद भाई उन्हें धीरज रखने और गंभीर अध्ययन के द्वारा हिन्दू धर्म के सूक्ष्म और गूढ़ विचारों को समझने, उसकी स्पष्टता को आत्मसात करने और आत्म-साक्षात्कार करने की सलाह देते रहते थे। जब गांधीजी के ईसाई मित्र उन्हें बप्तिता पढ़ाने की कोशिशों में लगे हुए थे, रायचंद भाई के विद्वत्तापूर्ण पत्रों ने ही अंतिम रूप से हिन्दू धर्म में उनकी श्रद्धा को दृढ़ किया।

लेकिन उनके जीवन को सबसे अधिक प्रभावित करनेवाली पुस्तक थी भगवद्गीता। दक्षिण अफ्रीका में विभिन्न टीकाओं के साथ उन्होंने इसे मूल संस्कृत में भी पढ़ा और फिर रोज़ नियम से इसका परायण करने लगे। एक-एक श्लोक रोज़ सवेरे स्नान के समय कंठस्थ करते-करते उन्हें पूरी गीता जबानी याद हो गई। गीता गांधीजी की ‘मार्गदर्शिका', ‘आचरण संहिता', ‘धर्म-कोश', 'आत्मिक प्रेरणा का स्रोत’ और 'संकट में सच्चा मित्र और सहायक' थी। स्वयं उन्हीं के शब्दों में, “जब मुझे प्रकाश की एक किरण भी कहीं दिखाई नहीं देती, मैं उसे भगवद्गीता में खोजता हूँ और उसके किसी श्लोक में निहित आशा का संदेश मेरे भारी-से-भारी दु:ख को चुटकियाँ बजाते दूर कर देता है। अनंत दु:ख, कष्ट और आपदाओं से भरे अपने इस जीवन में जो स्थिर और अविचलित रह सका हूँ उसका सारा श्रेय भगवद्गीता को ही है।‘[4]

गीता के दो शब्द 'अपरिग्रह’ और 'समभाव' में गांधीजी को आत्मविकास की अनंत संभावनाएं दिखाई दीं । 'अपरिग्रह' का अर्थ है आत्मा के लिए भार स्वरूप सभी भौतिक वस्तुओं का परित्याग; धन, संपत्ति और विषयेषणा से छुटकारा; और जिसे छोड़ा न जा सके स्वयं को उसका ट्रस्टी समझकर आचरण करना, न कि मालिक बन बैठना। 'समभाव का अर्थ है सुख और

दु:ख में, हार और जीत में मन की एक-सी वृत्ति; और सफलता की आशा एवं असफलता की आशंका से परे होकर अपना काम करते जाना, जैसाकि गीता में कहा है, 'फल में आसक्त हुए बिना काम करना (कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन) । समभाव को अपनाकर ही गांधीजी "बदतमीज़, मगरूर और भ्रष्ट अधिकारियों, व्यर्थ का विरोध और विवंडा करनेवाले कल के सहकर्मियों और जिन्होंने हमेशा भलाई ही की ऐसे सभी तरह के लोगों" के साथ एक-जैसा व्यवहार कर सके। कई बरसों के बाद उन्होंने ईसाई मिशनरियों के एक दल से कहा था, "हिन्दू धर्म, जिस रूप में मैं उसे समझ सका हूँ, मेरी आत्मा को संतुष्ट और परिपूर्ण करनेवाला है और भगवद्गीता में मुझे जो शांति मिलती है वह तो मैं बाइबिल के गिरिप्रवचन में भी नहीं पाता ।"

प्राणी मात्र एक है, सभी जीव ईश्वर के अवतंस हैं—हिन्दू धर्म के इस प्रचलित विश्वास ने ही अहिंसा में गांधीजी की आस्था को दृढ़ किया। लेकिन हिन्दुओं के किसी अंधविश्वास और किसी मिथ्या रूढ़ि का उन्होंने कभी समर्थन नहीं किया। वह हर धर्म की हर बात को तर्क की कसौटी पर परखा करते थे। अमानवीय और अन्यायपूर्ण प्रथाओं के समर्थन में धर्मग्रंथों के किसी प्रमाण को उन्होंने कभी सच नहीं माना—ऐसी सभी प्रथाओं का वह सदा विरोध ही करते रहे। स्त्रियों की स्वाधीनता और अधिकारों का निषेध करनेवाली मनुस्मृति की व्यवस्था को गांधीजी क्षेपक—बाद में जोड़ी हुई मानते थे, या यह कि मनु के युग में नारियों को अपना उचित पद मिल नहीं पाया था। वेद की ऋचाओं का हवाला देकर अस्पृश्यता का समर्थन करनेवालों को वह सदा फटकारते रहे। उनके हिन्दू धर्म का मूल तत्त्व था: सत्य स्वरूप ईश्वर की परम सत्ता में अडिग आस्था, जीव-मात्र के साथ एकत्व का बोध और ईश्वर-साक्षात्कार के लिए प्रेम अर्थात् अहिंसा के मार्ग का अवलंबन। ऐसी दृढ़ नींव पर आधरित धर्म में संकीर्णता अथवा अन्याय मतों के बहिष्कार की भावना हो ही कैसे सकती है ? गांधीजी की दृष्टि में हिन्दू धर्म की यही तो खूबी है कि "इसमें संसार के सभी पैगंवरों की पूजा के लिए स्थान है। यह ईसाई मिशनरियों के जैसा प्रचारवाला धर्म नहीं है...हिन्दू धर्म तो अपने-अपने विश्वास या मजहब के अनुसार ईश्वर की पूजा का सबको अधिकार देता है; इसीलिए उसका किसी भी धर्म से कोई विरोध नहीं है।" लोगों को ईसाई बनाने के लिए 'अधार्मिक हथकंडे' अपनानेवाले मिशनरियों की वह भर्त्सना करते थे। उनका कहना था कि

पूजा-पाठ और भजन-कीर्तन किसी को सच्चा ईसाई, सच्चा मुसलमान और सच्चा हिन्दू नहीं बनाते; धर्म की सच्ची पहचान है जीवन में उसका आचरण। ईसाई धर्म-प्रचारकों की 'आत्मा के उद्धार' की बातों को वह उनकी दुराग्रहपूर्ण हठवादिता कहते थे। आसम के नागा आदिवासियों के बारे में उनका कहना था—"मेरे पास अपनी नग्नता के सिवा और है ही क्या, जिसे लेकर उनके पास जाऊँ। मेरे लिए उचित यही है कि उन्हें अपनी प्रार्थना में बुलाने के बदले खुद उनकी प्रार्थना में शरीक होऊँ।"

सब धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन, धर्म-ग्रंथों के मनन और धर्माचार्यों से वार्तालाप एवं पत्र-व्यवहार करके गांधीजी अंत में इस निर्णय पर पहुँचे थे कि सच्चे धर्म का वास्तविक संबंध हृदय से है, न कि बुद्धि से; और धर्म पर सच्ची आस्था का मतलब है उसका अक्षरशः आचरण। जिन लगों के निकट धर्म पारस्परिक प्रेम और सहिष्णुता का नहीं घृणा का पर्याय बन गया है वे गांधीजी की धार्मिकता को कभी समझ नहीं सके और न समझ सकेंगे। उनके जीवन-काल में किसी ने उन्हें सनातनी कहा तो किसी ने आर्य समाजी और कइयों ने धर्म-भ्रष्ट; किसी ने बौद्ध, तो किसी ने थियोसोफिस्ट और किसी ने ईसाई तो किसी ने 'क्रिश्चियन मुसलमान।' वास्तव में देखा जाए तो वह सभी कुछ थे और शायद इन सबसे कुछ अधिक भी थे। उन्हें विभिन्न धार्मिक सिद्धांतों में एक अंतर्निहित एकता दिखाई देती थी। एक बार किसी ने उन्हें ईसा के दामन में आकर अपनी आत्मा की रक्षा करने की सलाह दी तो उन्होंने जवाब दिया था, "ईश्वर किसी तिजौरी में बंद नहीं है कि उसके पास केवल एक छोटे-से छेद के जरिए ही पहुँचा जा सके। यदि हृदय पवित्र और मन अहंकार से शून्य है तो उसके पास पहुँचने के अरबों रास्ते खुले हुए हैं।[5]

---

1. जो हमें पानी पिलाए, उसे हम अच्छा भोजन कराएं। जो आकर हमारे सामने सिर नवाए, उसे हम दंडवत् प्रणाम करें। जो हमारे लिए एक पैसा खर्च करे, उसका हम मुहरों की कीमत का काम करें। जो हमारे प्राण बचाए, उसका दुःख दूर करने के लिए हम अपने प्राण तक निछावर कर दें। जो हमारा उपकार करे उसका तो हमें मन, वचन और कर्म से दसगुना उपकार करना ही चाहिए। लेकिन जग में सच्चा और सार्थक जीना उसी का है, जो अपकार करनेवाले के प्रति भी उपकार करता है।

2. 'आत्म-कथा' सस्ता साहित्य मंडल ।

3. ईसाइयों का एक संप्रदाय, जो सादगी और सरल व्यवहार पर बहुत ज़ोर देता है।
4. नटेसन : महात्मा गांधी के लेख और भाषण (अंग्रेज़ी); मद्रास (चतुर्थ संस्करण), पृष्ठ 1061 |
5. महादेवभाई की डायरी (अंग्रेज़ी संस्करण), खंड 1; 4 सितंबर, 1932 का उल्लेख।

९. विचारों में गंभीर परिवर्तन

"अपनी और अपने परिवार की ही हितचिन्ता करना और हर प्रकार की आपत्ति-विपत्ति से बचते रहना" यह था उन्हीं के अपने शब्दों में 'मत-परिवर्तन से पहले टाल्स्टाय का जीवन-दर्शन। परिवर्तन तो आगे चलकर गांधीजी के विचारों में भी हुआ, लेकिन उससे पहले भी कभी उन्होंने अपने-आपको अपनी और अपने परिवार की हितचिन्ता तक ही सीमित नहीं रखा। डरबन और जोहान्सबर्ग में भी उनके घर के दरवाज़े सदैव सबके लिए खुले रहते थे। अपने सहायकों और क्लर्कों को उन्होंने हमेशा अपने साथ और अपने परिवार के सदस्यों की ही तरह रखा। इसके अलावा रोज़ घर में कोई-न-कोई भारतीय या यूरोपियन मेहमान भी अक्सर बना रहता था। लेकिन गांधीजी के घर में कभी किसी के साथ भेद-भाव नहीं बरता गया। परायों और मेहमानों की यह भीड़-भाड़ कस्तूरबा के लिए अक्सर कष्टदायी हो जाया करती थी। अपनी 'आत्मकथा' में गांधीजी ने कुछ विस्तार से उस प्रसंग का वर्णन किया है, जब कस्तूरबा ने पंचम (अछूत) जाति के एक मद्रासी ईसाई क्लर्क का पेशाब का बरतन उठाने से इनकार कर दिया था। गांधीजी का आग्रह था कि यह काम कस्तूरबा को करना चाहिए और प्रसन्नतापूर्वक करना चाहिए, अन्यथा वह घर से निकल जाएं। अपने क्रोध और नैतिक जोश में उस समय गांधीजी को इस बात का खयाल भी नहीं रहा कि उनका ऐसा आग्रह कस्तूरबा के लिए कितना कष्टदायी हो सकता है। कई वर्षों बाद उन्होंने स्वीकार किया कि वह उस समय 'जानलेवा प्रेमी पति' थे।

बाद में गांधीजी ने जिन्हें 'सुख-चैन' के दिन कहा, उन दिनों में भी धन कमाना कभी उनका लक्ष्य नहीं रहा। एक होनहार बैरिस्टर के नाते वह वकालत में यशस्वी होना और परिवार की आर्थिक सहायता करना तो अवश्य चाहते थे, लेकिन अनीति को अपनाकर आमदनी बढ़ाने को ज़रा भी तैयार नहीं थे। जब उनसे कहा गया कि तीन-चार हज़ार महीना कमानेवाले नामी-गिरामी वकील भी मुकदमे पाने के लिए दलाली देते हैं, तो उन्होंने जवाब दिया था, "मुझे कहाँ उनकी बराबरी करना है ! मुझे तो हर महीने तीनसौ रुपए मिल जाएं तो बहुत हैं। पिताजी को इससे अधिक कहाँ मिलते थे ?" शुरू-शुरू में तो उनकी यह हालत हुई कि बंबई के एक स्कूल में पचहत्तर रुपए महीने पर घंटा-भर पढ़ाने के लिए तैयार हो गए थे। उनकी बैरिस्टरी का सितारा तो

दक्षिण अफ्रीका में जाने पर ही चमका। 1894 में वह वहाँ सिर्फ तीनसौ पौंड के वर्षासन में रहने को राज़ी हुए थे। लेकिन धीरे-धीरे उनकी आय बढ़ती गई और वार्षिक पाँच हज़ार पौंड हो गई। यह सच है कि उनके सार्वजनिक और राजनैतिक कार्यों ने उनकी वकालत को जमाने और बढ़ाने में काफी मदद की, लेकिन साथ ही इन कामों में उनका बहुत-सा समय भी लग जाता था। फिर वह सब मुकदमे लेते भी नहीं थे। यदि मुवक्किल का पक्ष सच्चा न होता तो वह उसका मुकदमा लड़ने से साफ इनकार कर देते थे। यहाँ तक कि विचाराधीन मुकदमे में भी अगर उन्हें यह पता चल जाता कि मुवक्किल ने असलियत को छिपाकर झूठी बात बताई है तो वह भरी अदालत में उस मुकदमे से अपना हाथ खींच लेते थे। बचपन की मामूली-सी चोरी का अपना पश्चात्ताप और प्रायश्चित्त-स्वरूप सच्चे मन से उसे स्वीकार करने पर पिताजी की उदार क्षमाशीलता की छाप गांधीजी के हृदय पर अमिट रूप से अंकित हो गई थी और उनका दृढ़ विश्वास हो गया था कि हर गलती को मान लेना और उस प्रायश्चित्त करना चाहिए। पारसी रुस्तमजी डरबन के प्रसिद्ध अमीर व्यापारी और गांधीजी के घनिष्ठ मित्र थे। एक बार वह चुंगी-चोरी के मामले में फँस गए और गांधीजी से सलाह लेने के लिए आए। बचाव के कागज़-पत्र तैयार करने के बदले गांधीजी ने उन्हें चुंगी-चोरी ही नहीं अपनी दूसरी सारी चोरियों को स्वीकार कर जुर्माने की रकमसहित पूरा कर स्वेच्छा से चुकाने की सलाह दी। इतना ही नहीं, गांधीजी के अनुरोध पर रुस्तमजी ने प्रायश्चित्त स्वरूप चुंगी-चोरी की कहानी लिखकर शीशे में मढ़वा ली और अपने दफ्तर में टंगवा दी, जिससे उनके वारिसों को शिक्षा मिलती रहे।

गांधीजी से अधिक योग्य और धनी वकीलों की उनके समकालीनों में कमी नहीं थी, लेकिन वकालत में उनके जैसी मानवीय उदारता शायद ही किसी में होगी। मेहनताना मार जानेवाले मुवक्किलों को उन्होंने वसूली के लिए कभी अदालत में नहीं घसीटा; आदमी को परखने में अपनी भूल को ही वह इस तरह के नुकसान के लिए जिम्मेवार समझते थे। एक बार अपने किसी साथी वकील की इस शिकयत का कि मुवक्किल रविवार के दिन भी चैन नहीं लेने देते, गांधीर्ज ने यह जवाब दिया था, “दु:खियों के लिए तो रविवार को भी चैन नहीं हुआ करता।“

गांधीजी उन दिनों डरबन की अदालत में वकालत करते थे। एक दिन वह कमीज पर जी कालर लगकर गए उसमें से मांड़ी झड़ रही थी। वकीलों को उनकी हँसी उड़ाने का अच्छा मसाला मिल गया। वह कालर किसी धोबी की लापरवा धुलाई का नतीज हीं था। असल में गांधीजी ने पहली बार खुद अपने हाथों कपड़े धोए थे और वह कालर उन्हीं की धुलाई-कला का पहला नमूना था। इसी तरह एक बार उनके बेतरतीब कटे-छँटे बालों को देखकर उनके साथी वकील हँसते-हँसते लोट-पोट हो गए थे। तब गांधीजी ने उन्हें बताया कि गोरे नाई ने बाल काटने से इनकार कर दिया, इसलिए स्वयं उन्हें अपने हाथों बाल काटने पड़े हैं। सादगी, स्वावलंबन और सेवा की दिशा में धुलाई और हज्जामगिरी ही नहीं, उन्होंने कंपाउंडरी भी सीखी। एक धर्मादा अस्पताल में बाकायदा कंपाउंडरी सीखकर वह दक्षिणी अफ्रीका के सबसे गरीब भारतीय गिरमिटिया मज़दूरों की सेवा करने लगे। इतना ही नहीं, किताबों से उन्होंने दाई और प्रसव का काम भी सीखा और अपने अंतिम बच्चे के जन्म के समय प्रसव-संबंधी सारे काम खुद ही किए। नाई, धोबी, कंपाउंडर और दाई के अलावा वह स्कूल-मास्टर भी थे। गोरों के लिए खुले हुए स्कूलों में यद्यपि वह अपने बच्चों को भेज सकते थे, लेकिन दूसरे भारतीय बच्चे वहाँ पढ़ नहीं सकते थे। जो अधिकार सब भारतीय बच्चों को नहीं उसका अकेले अपने बच्चों के लिए उपयोग करना गांधीजी को उचित नहीं लगा। वह अपने बच्चों को खुद पढ़ाने लगे। जोहान्सबर्ग में घर से दफ्तर आने-जाने में जो दस मील का फासला होता था, उसमें गांधीजी बच्चों को साथ ले लेते और पैदल चलते हुए बातचीत में जो-कुछ सिखाया-पढ़ाया जा सकता था, उन्हें सिखाते-पढ़ाते। लेकिन यह क्रम भी रोज़ निभ नहीं पाता था। जिस दिन कोई मुवक्किल या कोई सहकर्मी साथ हो लेता उस दिन पढ़ाई की छुट्टी हो जाती थी | बच्चों की माँ इस तरह की पढ़ाई का बराबर विरोध करती; लेकिन गांधीजी अपने बच्चों को गोरों के स्कूल में भेजने को राज़ी ही न थे।

1904 में तो सादगी की यह धुन अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गई। उस वर्ष एक दिन शाम को गांधीजी जोहान्सबर्ग से डरबन जाने के लिए रेल में सवार हुए तो उनके पत्रकार मित्र मि. पोलक ने रस्किन की एक किताब 'अंटू दिस लास्ट'[1] उन्हें पढ़ने के लिए दी। गांधीजी ने किताब शुरू की तो उसमें ऐसा मन रमा कि सारी रात बैठे पढ़ते रहे और उसे समाप्त करके ही छोड़ा।

इस पुस्तक में रस्किन ने परंपरागत अर्थशास्त्रियों को इसलिए आड़े हाथों लिया है कि वे कभी मानव-कल्याण की दृष्टि से अर्थशास्त्र पर विचार नहीं करते और औद्योगीकरण की इसलिए बुराई की है कि वह अपने साथ गरीबी और सामाजिक अन्याय को लाता और पनपाता है। रस्किन के इन और ऐसे ही दूसरे विचारों ने गांधीजी के मन में गहरी उथल-पुथल मचा दी और उनके सारे दृष्टिकोण को ही बदल दिया। खासतौर पर रस्किन ने अपनी इस पुस्तक में शारीरिक श्रम की महत्तावाले सादे जीवन का जो आदर्श पेश किया था। उससे गांधीजी बहुत ही प्रभावित हुए। इस पुस्तक के बारे में वह अपनी आत्मकथा में लिखते हैं, “जो चीज़ मुझमें गहराई से भरी हुई थी उसका स्पष्ट प्रतिबिम्ब मैंने रस्किन के इस ग्रंथरत्न में देखा।”

दूसरे दिन शाम को जब रेलगाड़ी डरबन पहुँची तो गांधीजी रस्किन के विचारों को अमल में लाने का इरादा पक्का कर चुके थे। डरबन में 'इंडियन ओपिनियन' प्रेस के गोरे प्रबंधक और अपने मित्र मि. एलबर्ट वेस्ट के साथ गांधीजी ने प्रेस को एक खेत पर ले जाने की योजना बनाई, जिससे प्रेस और पत्र से संबंधित सारे लोग सही अर्थों में पसीने की कमाई पर जीवन-यापन कर सकें। गन्ने के खेतों के बीच सौ एकड़ ज़मीन का एक टुकड़ा एक हज़ार पौंड में खरीदा गया। उसमें नन्हा-सा पानी का झरना था, फलों के कई पेड़ थे और साँपों का घोर उपद्रव भी था। वह ज़मीन फिनिक्स स्टेशन से ढाई मील और डरबन से तेरह मील के फासले पर थी। इस संस्था के पहले निवासियों में सर्वश्री पोलक और वेस्ट के अतिरिक्त गांधीजी के कुछ चचेरे भाई और भतीजे भी थे, जो उन्हीं के साथ भारत से दक्षिण अफ्रीका आए थे। प्रेस के लिए पचहत्तर फुट लंबा और पचास फुट चौड़ा एक छप्परनुमा हाल बनाया गया और संस्थावासियों के रहने के लिए नालीदार चद्दरों की दीवारों और छतोंवाले आठेक मकान, बल्कि कहना चाहिए कि कमरे खड़े कर लिए गए।

अब 'इंडियन ओपिनियन' फिनिक्स से निकलने लगा। पत्र की छपाई और ग्राहकों को भेजे जानेवाले दिन उस बस्ती में काम की धूम मची रहती। गांधीजी और मि. पोलक प्रूफ जाँचने का काम करते थे, प्रिंटर मशीन पर काम करते और बच्चे छपे पन्नों की भंजाई और एक-एक अखबार को लपेटने के काम में जुट जाते थे।

गांधीजी की कुटिया फिनिक्स बस्ती के सामूहिक जीवन की धुरी थी। हर रविवार को सारे संस्थावासी उनके कमरे में प्रार्थना के लिए इकट्ठे होते। गीता और बाइबिल का पारायण होता, ईसाइयों के प्रार्थना गीत और गुज़राती भजन गाए जाते और थोड़ी देर के लिए लोग-बाग वर्ण और जाति के भेद भावों को भुलाकर इस धरती से परे किसी ऊँचे धरातल पर पहुँच जाया करते थे। गांधीजी के लेए तो यह शहर के भीड़-भड़क्के, लोम-लालच और नफरत से दूर मनचाहा शांत और एकांत स्थान था। यहाँ वह अपने-जैसे विचारवालों के साथ मिल-जुलकर शारीरिक परिश्रम करते हुए अपनी आत्मिक उन्नति के उपायों पर मजे से चिन्तन-मनन कर सकते थे।

लेकिन गांधीजी के लिए फिनिक्स में रहने का सुख-संतोष अधिक दिन बदा नहीं था। उनके जिम्मे सार्वजनिक और वकालत के दोनों ही काम इतने अधिक थे कि जोहान्सबर्ग लौटना ज़रूरी हो गया। जोहान्सबर्ग में गांधीजी के घर और उसके निवासियों का श्रीमती मिली ग्राहम पोलक ने अपनी पुस्तक 'गांधी : दि मैन'[2] में काफी विचार से और रोचक वर्णन किया है। ये गोरी महिला मिस्टर पोलक की धर्मपत्नी थीं और उन दिनों दोनों पति-पत्नी गांधीजी के साथ ही उनके घर में रहते थे। वह घर सामुदायिक जीवन का छोटा-सा नमूना ही था। उदारमना गांधीजी उस परिवार के कर्त्ता अथवा कुलपति थे। परिवार के सभी सदस्यों की सुख-सुविधा का खयाल रखने के अलावा और कोई विशेषाधिकार उन्होंने अपने लिए माना नहीं था। वह हमेशा खुश रहते और दूसरों को खुश रखते थे। प्रतिदिन सवेरे घर के बच्चे हाथचक्की से आटा पीसने में अपने माता-पिता का हाथ बँटाते और उनकी प्रसन्न किलकारियों और कहकहों से घर गूँज जाया करता था। शाम को भोजन का समय तो और भी आनंददायी होता। हँसी- मजाक और साधारण बातचीत के बीच गंभीर चर्चा भी चलती रहती और कस्तूरबा के अल्प अंग्रेज़ी ज्ञान से लोगों का मनोरंजन हो जाता था। भोजन के बाद गांधीजी धर्म और दर्शन के गूढ़ तत्त्वों पर प्रवचन करते और गीता पढ़कर सुनाते थे।

गांधीजी का उस काल का बड़ा ही भावपूर्ण व्यक्ति-चित्रण उनके पहले जीवनी लेखक, जोहान्सबर्ग के बैप्टिस्ट मतावलंबी पादरी, जोसेफ जे. डोक ने अपनी पुस्तक 'एम.के. गांधी'[3] में किया है। वह गांधीजी से पहले-पहल दिसंबर 1907 में मिले थे, और लिखते हैं—

"...अपने सामने एक छोटे, दुबले-पतले पर फुर्तीले आदमी को देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। चेहरे से वह सुसंस्कृत लगता था और मेरी ओर उत्सुकता से देख रहा था। उसकी त्वचा का रंग काला था और आँखें भी काली थीं, लेकिन उसके चेहरे को आलोकित करनेवाली वह मुस्कराहट और उसकी वह सीधी निर्भय दृष्टि सामनेवाले के दिल को बरबस ही जीते ले रही थी। उसकी उम्र के बारे में मेरा अंदाज बिलकुल सही निकला। वह ठीक अड़तीस बरस का था। लेकिन काम के अतिशय बोझ और चिन्ताओं के कारण सिर के बाल यहाँ-वहाँ से सफेद होने लग गए थे। वह बहुत बढ़िया अंग्रेज़ी बोल रहा था और कुल मिलाकर बड़ा ही शालीन और सभ्य व्यक्ति मालूम पड़ता था।

"उस भारतीय नेता की ओर जिस बात ने मुझे तत्काल आकर्षित किया वह थी उसके आत्मविश्वास की दृढ़ता, हृदय की महानता और उसकी पारदर्शी निश्छलता। हम लोग पहली ही भेंट में मित्र बन गए...

"हमारे इस भारतीय मित्र का आध्यात्मिक और वैचारिक धरातल सामान्य लोगों से बहुत ऊँचा है, और दुनियादारी तो जैसे इसे छू भी नहीं गई है। इसलिए इसके कामों को अक्सर गलत समझा और सनक करार दिया जात है। जो इससे परिचित नहीं उन्हें इसके हर काम में कोई-न-कोई बुरा हेतु अथवा यों कहें कि 'पूरबवासियों की मक्कारी' छिपी नज़र आती है। लेकिन जो जानते हैं वे तो इसके आगे शर्म से पानी-पानी हो जाते हैं।

"जहाँतक मैं जान सका हूँ, रुपए-पैसे का इसे ज़रा भी लोभ नहीं है। इस बात को लेकर इसके देशवासी इससे बहुत असंतुष्ट हैं और उनकी शिकायत है कि यह कुछ भी नहीं लेता। उनका कहना है कि अपने प्रतिनिधि के रूप में इंग्लैंड जाने के लिए हमने इसे जो पैसा दिया था उसे यह बिना खर्च किए ही लौटा लाया; नेटाल में हमने इसे भेंट में जो वस्तुएँ दी थीं, उन्हें इसने हमारे सार्वजनिक कोष में जमा कर दिया। इसे गरीबी पसंद है और यह गरीब ही रहना चाहता है।

"उन लोगों को इसकी अद्भुत निःस्वार्थता पर आश्चर्य होता, गुस्सा आता है और साथ ही वे इसे प्यार भी करते हैं—वह प्यार जो इसपर उनके विश्वास और गर्व का द्योतक है। यह उन

असाधारण व्यक्तियों में से है, जिनके सत्संग से ज्ञान की वृद्धि होती है और परिचय से जिनके प्रति प्रेम भक्ति प्रस्फुटित होती है।

---

1. इसका हिन्दी अनुवाद 'सर्वोदय' के नाम से 'सस्ता साहित्य मंडल' से प्रकाशित हुआ है। गांधीजी ने स्वयं इसका अनुवाद गुज़राती में 'सर्वोदय' के ही नाम से किया था ।
2. ‘मानव गांधी'
3. डोक, जोसेफ जे.; ‘एम.के. गांधी'; मदरास, पृष्ठ 6-8।

१०. सत्याग्रह की खोज

जैसा कि सर एलन बर्न्स[1] ने कहा है, दक्षिण अफ्रीका की घरेलू नीति का ह्रास होते होते वह उस 'गरीब गोरे' की हिमायत भर रह गई, जो रंगीन जातियों को अपमानित और अपदस्थ करनेवाली शासन-प्रणाली की ही उपज है। संस्कृतियों के अंतर और रहन-सहन के तरीकों के बे-मेल होने की बड़ी-बड़ी बतें तो सिर्फ ऊपरी दिखावा है, असली कारण तो रहा है गोरों और कालों की आर्थिक प्रतिद्वंद्विता। 1919 के भारतीय सुधारों में दोअमली शासन-पद्धति (डायर्की) की खोज और प्रचार करनेवालों में प्रमुख लायनल कर्टिस 1903 में ट्रांसवाल में अधिकारी था। गांधीजी के साथ अपने एक वार्तालाप के बारे में उसका कहना है—

"उन्होंने (गांधीजी) मुझे अपने देशवासियों की अच्छाइयाँ—मेहनती स्वभाव, किफायतशारी, सहनशीलता आदि बताना शुरू किया। मुझे याद है कि उनकी बात सुन लेने के बाद मैंने कहा था, 'मि. गांधी, आप नाहक जागे हुए को जगाने की कोशिश कर रहे हैं। इस देश के गोरों को भारतीयों के दुर्गुणों से ज़रा भी डर नहीं लगता, हमें असली डर तो आप लोगों की अच्छाइयों से है।"[2]

नेटाल के जिन गोरों ने अपनी खानों और गन्ने के खेतों में काम करने के लिए खुद होकर हज़ारों गिरमिटिया मज़दूरों को भारत से बुलवाया था, अब वे ही किसानों और व्यापारियों के रूप में एक भी स्वतंत्र भारतीय को अपने बीच में रहने देना नहीं चाहते थे। उधर बोअर-युद्ध के बाद ट्रांसवाल के गोरों ने अपने यहाँ "एशियावासियों के अतिक्रमण" का हौआ खड़ा कर रखा था। लेकिन वह कितना निस्सार था, इसका पता उस समिति के प्रतिवेदन से चल गया, जिसे ब्रिटिश उच्चायुक्त ने 1905 में ट्रांसवाल में भारतीयों के चोरी-छुपे आ बसने के आरोप की सत्यता का पता लगाने के लिए नियुक्त किया था। वास्तविक स्थिति यह थी कि बोअर-युद्ध शुरू होने पर जो बहुत-से भारतीय परिवार ट्रांसवाल से चले गए थे, युद्ध की समाप्ति पर उनके लौट आने के बाद भी, 1903 में, वहाँ के भारतीयों की कुल संख्या 1899 से कम ही थी।

गोरों के इस निराधार भय को कि प्रवासी भारतीय काफी बड़ी तादाद में दक्षिण अफ्रीका में बसने के लिए घुसे चले आ रहे हैं, बहुत बढ़ा-चढ़ाकर पेश किया जाता था। यद्यपि गोरों का यह भय निरर्थक था, पर गांधीजी उनकी भावनाओं को समझते थे, और इसलिए उनके संदेह को निर्मूल करने के लिए भारतीय मज़दूरों की आमद पर पूरी रोक लगाने तक पर राज़ी थे। उनका कहना था कि नए गिरमिटिया मज़दूरों को भले ही न आने दिया जाए, लेकिन पढ़े-लिखे भारतीयों का सीमित संख्या में आना न रोका जाए, क्योंकि भारतीय व्यापारियों को क्लर्की और मुनीमी के कामों में ऐसे लोगों की आवश्यकता थी। दूसरे मामलों में भी गांधीजी भारतीयों और गोरों के बीच इसी तरह आधेआध पर समझौता चाहते थे। उनका कहना था कि भारतीयों के लिए लाइसेन्स लेकर व्यापार करने का नियम भले ही रहे और स्थानीय शासन ही लाइसेन्स दे, परंतु इस काम पर देख-रेख उच्च न्यायालय की हो। ज़मीन की मिल्कियत और रहने की जगह के अधिकार के बारे में भारतीय स्थानीय और स्वायत्त शासन के नियमों को मानने को तैयार हैं, लेकिन वे नियम भारतीयों पर ही नहीं, गोरों पर भी, अतलब यह कि दोनों पर समान रूप से, लागू होने चाहिए। गांधीजी ने भारतीयों के लिए मताधिकार की माँग नहीं की। दक्षिण अफ्रीका-स्थित ब्रिटिश उच्चायुक्त से उन्होंने कहा था, “हमें (भारतीयों को) राजनैतिक सत्ता नहीं चाहिए। हम केवल इतना ही चाहते हैं कि ब्रिटिश साम्राज्य की अन्य प्रजाओं के साथ शांति और मेल-मिलाप से तथा इज्ज़त और आत्म-सम्मानपूर्वक हमें रहने दिया जाए।“ लेकिन दक्षिण अफ्रीका के गोरे यही तो नहीं चाहते थे। जैसाकि जनरल स्मट्स ने बाद में अपनी एक घोषणा में कहा था कि सरकार ने फैसला कर लिया है कि “कितनी ही कठिनाइयाँ क्यों न आएं इसे गोरों का मुल्क बनाकर रहेंगे, और इस मामले में अपने इरादे से रंचमात्र भी नहीं डिगेंगे।”

लेकिन गांधीजी की समझौते की, 'जीओ और जीने दो’ की यह नीति ज्यादा समय चलने न पाई। ट्रांसवाल में भारतीयों के पंजीकरण के प्रश्न को लेकर स्थिति ने एकदम विकत रूप घारण कर लिया। वहाँ अभी तक परवानों पर दस्तखत लेने और जो दस्तखत न कर सकें उनके अंगूठे लगवाने का नियम था। बाद में फोटू लेने और नए परवाने निकलवाने की बात और जोड़ दी गई। जब गांधीजी 'जूलू-बलवे' में साम्राज्य के एक नागरिक की हैसियत से अपना कर्तव्य पूरा करके

लौटे तो उन्होंने पाया कि भारतीयों के पंजीकरण का तरीका बहुत ही अपमानजनक और सतानेवाला कर दिया गया है। ट्रांसाल की धारा-सभा में पेश किए जानेवाले भारतीय पंजीकरण विधेयक का मसविदा 22 अगस्त, 1906 के 'ट्रांसवाल गजट' में जब उन्होंने पढ़ा तो सन्न रह गए। ट्रांसवाल में रहनेवाले हर भारतीय पुरुष, स्त्री और आठ बरस या इससे ऊपर की उम्र के बच्चों के लिए पंजीकरण करवाना और परवाना लेना आवश्यक कर दिया गया था। हर प्रार्थी को अपनी सारी अंगुलियों और अंगूठे के निशान देना ज़रूरी था। छोटे बच्चों की अंगुलियों के निशान देने की जिम्मेवारी उनके माता-पिता पर डाली गई थी; अगर माँ-बाप ने इस जिम्मेवारी को पूरा न किया हो तो सोलह बरस का होने पर बच्चे को स्वयं यह फर्ज़ अदा करना चाहिए, नहीं तो उसे जुर्माने, जेल या देशनिकाले तक की सज़ा दी जा सकती थी। किसी भी भारतीय से अदालत में, माल-दफ्तर में, बल्कि कहीं भी और किसी भी समय, यहाँतक कि राह चलते हुए भी परवाना दिखलाने के लिए कहा जा सकता था। परवाने की जाँच के लिए पुलिस-अफसर भारतीयों के घरों में भी घुस सकते थे। इस परवाने के कानून का नामकरण ‘कुत्ते के गले का पट्टा' (डाग्स कालर) ठीक ही किया गया था। इस अपमानजनक सख्ती का कारण बताया गया था ट्रांसवाल में भारतीयों की बेतहाशा गैर-कानूनी आमद को रोकना; जबकि बेतहाशा आमद नाम की कोई चीज़ ही वहाँपर नहीं थी, क्योंकि वहाँ प्रवेश संबंधी कानून पहले ही काफी सख्त थे। 1905 और 1906 में वहाँ की सरकार ने डेढ़ सौ भारतीयों पर अनधिकृत प्रवेश के मुकदमे चलाकर सभी को सज़ा भी दी थी। एक मामले में तो गोरे मैजिस्ट्रेट ने बेचारी भारतीय पत्नी को उसके पति से जुदा कर सात घंटे के अंदर देश से निकल जाने की सज़ा सुनाई थी; और एक दूसरे मामले में ग्यारह बरस के बच्चे पर तीस पौंड जुरमाने या तीन महीने की कैद की सज़ा ठोंक दी गई थी।

सच पूछा जाए तो ट्रांसवाल के पढ़े-लिखे और संपन्न भारतीयों को अपमानित करना और उनका वहाँ रहना मुश्किल कर देना ही इस नए कानून का असली मंशा था। गांधीजी को यह समझते देर न लगी कि यदि यह विधेयक पारित होकर अधिनियम बन गया और भारतीयों ने इसे स्वीकार कर लिया तो 'तो इस देश में उनकी हस्ती ही मिट जाएगी।‘ उनकी राय में इस कानून के आगे सिर झुकाने की अपेक्षा भारतीयों का मर-मिटना ही बेहतर था। पर मरें कैसे ? वे किस खतरे

में कूदें या कूदन का साहस करें कि उनके सामने विजय या मृत्यु इन दो के सिवा तीसरा रास्ता रह ही न जाए ? गांधीजी के सामने ऐसी संगीन दीवार खड़ी हो गई कि उन्हें कोई रास्ता ही नहीं सुझाई दिया।

इस प्रकार 1906 की सर्दियों में दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों का भविष्य पूरी तरह अंधकारमय था। बोअर-युद्ध में अंग्रेज़ों की विजय से भारतीयों की हालत में कोई भी सुधार नहीं हुआ था। बोअरों के शासनकाल में तो उनके हाथ-पाँव यों ही बंधे हुए थे। अब दक्षिण अफ्रीका के नए शासन में साझेदारी थी, लेकिन सिर्फ अंग्रेज़ों और बोअरों के बीच; भारतीयों की स्थिति तो पहले से भी हीन और विपन्न थी। नागरिक अधिकारों के लिए गांधीजी ने नेटाल और ट्रांसवाल में बारह बरस तक जो कुछ किया था, उस सबपर पानी फिर गया था। दक्षिण अफ्रीका, भारत और इंग्लैंड के जनमत को जगाकर प्रवासी भारतीयों की स्थिति को सुधारने की उनकी सारी आशाएं विफल हो गई थीं। दक्षिण अफ्रीका में वह अपने प्रचार-कार्य से सिर्फ मुट्ठी-भर यूरोपियनों, ईसाई पादरियों और आदर्शवादी नौजवान अंग्रेज़ों को अनुकूल कर सके थे; प्रवासी भारतीयों के प्रश्न को राजनीति का नहीं 'अपनी और अपने बाल-बच्चों की मक्खन-रोटी का सवाल' समझनेवाले बहुसंख्यक गोरों पर उनके प्रचार-कार्य का कोई भी उल्लेखनीय प्रभाव नहीं पड़ा था। भारत में इस सवाल पर सभी की काफी सहानुभूति थी; सभी विचारों के नेता इस प्रश्न पर एकमत थे; हर साल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस अपने अधिवेशनों में रंग-भेद के विरोध में प्रस्ताव पारित करती थी। लेकिन भारत के नेताओं की भी अपनी मजबूरियाँ थीं और उनकी सारी सहानुभूति केवल जबानी होकर रह गई थीं। सर फिरोज़शाह मेहता ने 1901 में कलकत्ता-कांग्रेस-अधिवेशन में जाते हुए गांधीजी से रेल में ठीक ही कहा था; "हमें ही अपने देश में क्या अधिकार है ? और जबतक यहाँ सत्ता हमारे हाथ में नहीं आ जाती, मेरा विश्वास है कि उपनिवेशों में तुम्हारी हालत सुधर नहीं सकती।"

इंग्लैंड में गांधीजी को प्रवासी भारतीयों के अधिकारों के संघर्ष में अकेले लंदन 'टाइम्स' का प्रबल समर्थन कभी-कभार ज़रूर मिल जाया करता था। वहाँ का उपनिवेश-मंत्रालय तो हर समय दक्षिण अफ्रीका के गोरों की ठकुरसुहाती किया करता और उपनिवेशों के 'स्वराज्य-भोगी'

होने का राग' अलापने लगता, जिसका साफ मतलब यह होता था कि उपनिवेश अपने घरेलू मामलों में मनचाहा करने को, ब्रिटिश साम्राज्य की भारतीय प्रजा को दमन की चक्की में पीसने तक को स्वतंत्र है।

ऐसी स्थिति में दक्षिण अफ्रीका के प्रवासी भारतीयों को पंजीयन के काले कानून का विरोध अकेले अपने बलबूते पर ही करना था। वहाँ की धारा-सभा में उनकी कोई आवाज़ नहीं थी—न मत देने का अधिकार था, न प्रतिनिधि भेजने का। 11 सितंबर, 1906 को जोहान्सबर्ग की एंपायर नाटकशाला में सभा की गई। “सभा-भवन ठसाठस भरा हुआ था।”[3] मुख्य प्रस्ताव गांधीजी ने ही तैयार किया था, जिसका आशय यह था कि प्रवासी भारतीय जनजीवन के काले कानून के आगे कभी सिर नहीं झुकाएंगे। जब एक वक्ता ने अपने भाषण में कहा कि “मैं खुदा की कसम खाकर कहता हूँ कि हरगिज़ इस कानून के ताबे न होऊँगा” तो गांधीजी “चौंके और सावधान हो गए।” तत्काल इस प्रतिज्ञा के “परिणाम भी उनके सामने एक क्षण में” आ गए और “घबराहट की जगह जोश पैदा हो गया।” गांधीजी प्रतिज्ञाओं के अनुभवी थे और उनके मीठे फल चख चुके थे। विलायत जाते समय उन्होंने जो तीन प्रतिज्ञाएँ की थीं उनका उनके जीवन-निर्माण में काफी बड़ा हाथ था; और इधर कुछ ही दिन पहले सेवा-व्रत के लिए उन्होंने परिवार और धन-संपत्ति से अपना नाता तोड़ने की प्रतिज्ञाएं की थीं। इसलिए परिणाम की चिन्ता किए बगैर, ईश्वर की साक्षी में, एक अनुचित और अन्यायपूर्ण कानून का विरोध करने की प्रतिज्ञा ने गांधीजी के सामने उस संगीन दीवार को ढहा दिया, जो उनकी दृष्टि को बाँधे हुए थी। उन्हें उतनी ही खुशी और राहत हुई जितनी किसी गणितशास्त्री को पेचीदा सवाल के एकाएक हल हो जाने पर होती है। लेकिन गांधीजी का हल अकस्मात् पाया हुआ हल नहीं था; वह तो जीवन-भर इसकी तैयारियों में लगे रहे थे। बचपन से ही सत्य उनके जीवन का प्रमुख मार्गदर्शक और अवलंब रहा था और वह हर स्थिति में सत्य पर आचरण और सत्य के प्रयोग करते थे। मनुष्य को दुर्बल बनानेवाले सभी रोगों, लगावों और निष्ठाओं को वह ठुकरा चुके थे। उस ऐतिहासिक अवसर पर उन्होंने जिस साहस और विश्वास का परिचय दिया, वह आकस्मिक नहीं उनके जीवन में दीर्घकालीन अनुशासन का ही परिणाम था। जोहान्सबर्ग की उस ठसाठसभरी एंपायर नाटकशाला में उपस्थित अपने देशवासियों को संबोधित

करते हुए उन्होंने बिलकुल ही निर्भय होकर कहा था, "मुझ-जैसों के लिए तो सिर्फ एक ही रास्ता होगा, मर मिटना; पर इस कानून के आगे सिर न झुकाना। ऐसा होने की कोई संभावना तो नहीं है, पर मान लीजिए कि सब गिर गए और मैं अकेला ही रह गया, तो भी मेरा विश्वास है कि प्रतिज्ञा का भंग मुझसे हो ही नहीं सकता ।"[4]

उन्होंने श्रोताओं को यह भी बता दिया कि हो सकता है कि कानून का विरोध करनेवालों को जेल में जाना पड़े, भूख प्यास सहनी पड़े, कोड़े खाने पड़ें, जुर्माना हो और कुर्की में माल-असबाब नीलाम हो जाए और प्राणों से भी हाथ धोना पड़े। इसलिए उन्होंने वहाँ उपस्थित सभी को अपना हृदय टटोलने के लिए कहा और सचेत कर दिया कि जिसमें अंत तक डटे रहने की शक्ति न हो वे प्रतिज्ञा न करें। लेकिन अंत में सारी सभा ने "खड़े होकर, हाथ उठाकर और ईश्वर को साक्षी करके प्रतिज्ञा की कि यह कानून (एशियावासियों के पंजीयन का कानून) पास हो गया तो हम उसके आगे सिर न झुकाएंगे ।" विरोध के इस आंदोलन को कौन-सा नाम दिया जाए, यह गांधीजी ने उस समय नहीं बताया; शायद वह खुद भी नहीं जानते थे। हाँ, इसमें तो उन्हें कोई संदेह ही नहीं था कि आंदोलन का रूप कोई भी क्यों न हो, वह होगा अहिंसक ही। उस समय तो वह इतना ही समझ पाए थे कि राजनैतिक और सामाजिक बुराइयों से लड़ने के लिए किसी नई वस्तु का जन्म हुआ है। शुरू में उन्होंने इसे 'पैसिव रेजिस्टेंस' (निष्क्रिय प्रतिरोध) कहा, लेकिन इंग्लैंड की महिलाओं ने मताधिकार पाने की अपनी लड़ाई में इसी नाम (पैसिव रेजिस्टेंस) का उपयोग कर उग्र शब्दों और शारीरिक बल-प्रदर्शन, यहाँतक कि हिंसा का भी प्रयोग किया था, इसलिए गांधीजी को यह नाम उचित नहीं लगा और उन्होंने इसे छोड़ दिया। फिर उपयुक्त नाम के लिए गांधीजी ने आंदोलन के मुख-पत्र 'इंडियन ओपिनियन' में एक प्रतियोगिता आयोजित की। प्रवासी भारतीयों के शुभ संकल्प के रूप में एक पाठक ने 'सदाग्रह—सद् या शुभ आग्रह—शब्द सुझाया, जो गांधीजी को पसंद आया। उन्होंने इसे सुधारकर 'सत्याग्रह'—सत्य पर आग्रह—कर लिया। लेकिन इस आंदोलन का पूरा शास्त्र—इसका सिद्धांत और कार्यपद्धति तो बाद में कई बरसों में जाकर धीरे-धीरे विकसित हुई; क्योंकि सत्याग्रह-आंदोलन के प्रणेता गांधीजी तो सिद्धांत को कार्य का अनुचर मननेवालों में थे।

यह नया सत्याग्रह आंदोलन उनके विलक्षण जीवन-विकास के सर्वथा अनुरूप और उपयुक्त ही था। 1908 में सत्याग्रह की उत्पत्ति के बारे में पूछे जाने पर गांधीजी ने जो कुछ बताया वह श्री डोक के शब्दों में इस प्रकार से है—

"जहाँतक गांधीजी का संबंध है वह तो इस सिद्धांत (पैसिव रेजिस्टेंस) की उत्पत्ति और विकास का कारण कुछ और ही बतलाते हैं। उनका कहना है, "बचपन में मदरसे में सीखा हुआ नीति-विषयक एक छप्पय मेरे मनपर हमेशा के लिए अंकित हो गया। उसका सार है कि पानी पिलानेवाले को बदले में भोजन भी करा दिया जाए तो बड़ा काम नहीं किया; बड़ी बात तो तब है जब बुराई का बदला भलाई से दिया जाए। छुटपन में इस छप्पय का मुझपर बड़ा असर हुआ था; और मैं इसकी सीख पर अमल करने की कोशिश भी करता रहा। उसके बाद दूसरा असर मुझपर 'गिरि-प्रवचन' का हुआ।"[5]

डोक के यह पूछे जाने पर कि असर के लिहाज से तो भगवद्गीता का नंबर उससे पहले होना चाहिए, गांधीजी ने जवाब दिया, "नहीं, यह सच है कि मैं भगवद्गीता को संस्कृत में भी समझ लेता हूँ, लेकिन इस सिद्धांत को खोजने की दृष्टि से मैंने उसका अध्ययन नहीं किया। 'पैसिव रेजिस्टेंस' के मामले में मेरी आँखें 'नए इकरार' ने ही खोलीं और उसी की बदौलत इसकी सच्चाई और कीमत मेरी समझ में आई। 'गिरी-प्रवचन' के 'दाएं गाल पर तमाचा मारनेवाले के सामने बायाँ गाल भी कर दो' और 'अपने दुश्मनों को भी प्यार कर' और 'उनके लिए प्रार्थना कर, जिससे वे भी तेरे पिता परमेश्वर की सच्ची संतान बन सकें' आदि अंशों को जब मैंने पढ़ा तो मुझे बहुत ही ज़्यादा खुशी हुई। बाइबिल में मेरे मन के भावों की गूँज सुनाई पड़ेगी, इसकी तो मुझे उम्मीद भी नहीं थी। 'गिरी प्रवचन' ने मेरे इन भावों की ताईद की, भगवद्गीता ने उन्हें गहरा किया और टाल्स्टाय की 'बैकुंठ तुम्हारे हृदय में' किताब ने उन्हें पक्का और कायमी रूप दिया।'[6]

---

1. बर्न्स, सर एलन : 'कलर प्रेजूडिस' (वर्ण-विद्वेष), लंदन, 1948, पृष्ठ 73।
2. एस. राधाकृष्णन द्वारा संपादित महात्मा गांधी के जीवन और कृतित्व पर निबंध (महात्मा गांधी) : एसेज़ एण्ड रिफ्लेक्शन्स आन हिज़ लाइफ एण्ड वर्क), लंदन, 1939, पृष्ठ 67।

3. ‘दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास'; सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, 1959; पृष्ठ 129।
4. ‘दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास', सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, 1959; पृष्ठ 135।
5. श्यामल भट्ट का छप्पय; देखिए इस पुस्तक का अध्याय 8, पृष्ठ 59—अनुवादक।
6. डोक, जोसेफ जे.; 'एम.के. गांधी’, पृष्ठ 88।

११. पहला सत्याग्रह-आंदोलन

प्रवासी भारतीयों ने एकराय होकर कड़ा विरोध किया, फिर भी ट्रांसवाल की धारा-सभा ने एशियावासियों का पंजीयन विधेयक (परवाने का काला कानून) पारित ही कर दिया। उसमें से सिर्फ स्त्रियों से संबंध रखनेवाली दफा निकाल दी गई थी, बाकी विधेयक जिस रूप में प्रकाशित किया गया था, लगभग उसी रूप में पारित हुआ। उसपर बादशाह की मंजूरी भी मिल गई और 1 जुलाई, 1907 से नए कानून के जारी होने की घोषणा कर दी गई।

भारतीयों की पुकार को अनसुना कर दिया गया था। काला कानून लादा जाने को था। उसका विरोध करने की जो प्रतिज्ञा की गई थी, अब गांधीजी को उसे पूरा कर दिखाना था। उन्होंने आंदोलन चलाने के लिए एक पैसिव रेजिस्टेंस संघ या सत्याग्रह मंडल बनाया। 1906 के सितंबर महीने में एंपायर नाटकशाला की ऐतिहासिक सभा में काले कानून का विरोध करने की प्रतिज्ञा वहाँ मौजूद सभी लोगों ने की थी, लेकिन अब कुछ लोग ढीले पड़ रहे थे। उन्हें अलग हो जाने का मौका देने के लिए गांधीजी ने फिर प्रतिज्ञा करवाई। जो 'इंडियन ओपिनियन' बरसों से गांधीजी को घाटा देता चला आ रहा था, वह इस समय प्रवासी भारतीयों को राजनैतिक शिक्षा देने में बड़ा काम आया। दक्षिण अफ्रीका में इस साप्ताहिक पत्र ने वही काम किया, जो आगे चलकर 'नवजीवन' और 'हरिजन सेवक' ने भारत में किया। 'इंडियन ओपिनियन' को गांधीजी के सहकर्मी और साथी ही नहीं, उनके विरोधी भी पढ़ते थे, क्योंकि वह इसमें अपनी सारी योजनाएं खोलकर रख दिया करते थे। इसकी लोकप्रियता का अंदाज इसी से लगाया जा सकता है कि इसकी ग्राहक-संख्या 3500 थी। जिस देश में पढ़नेवाले भारतीयों की संख्या बीस हज़ार से अधिक न हो और जहाँ अखबार को घर-घर पहुँचाना पड़े वहाँ के लिए यह ग्राहक-संख्या वास्तव में बहुत बड़ी बात है।

सरकार ने खास-खास शहरों में परवाना दफ्तर खोल दिए और हुक्म निकाल दिया कि 31 जुलाई 1907 तक ट्रांसवाल में रहनेवाले सभी हिन्दुस्तानियों को परवाने ले लेने चाहिए, नहीं तो कानून के अनुसार कार्रवाई कर कड़ी सज़ा दी जाएगी। पैसिव रेजिस्टेंस संघ ने भारतीयों को परवाना-दफ्तरों का बहिष्कार करने का आदेश दिया। सब जगह पोस्टर लग गए, जिनके नारे

थे—“राजेश्वर की भक्ति से भी बड़ी होती है परमेश्वर की भक्ति...भारतीयों आज़ाद हो जाओ !” गांधीजी ने बड़ी सावधानी से और काफी विस्तार में सभी परवाना-दफ्तरों पर पिकेटिंग की योजना बनाई थी। इस काम के लिए स्वयंसेवक भर्ती किए गए, जिनमें 12 से 18 बरस की उम्र के नौजवान काफी संख्या में थे और उन्हें परवाना-दफ्तरों के बाहर तैनात कर दिया गया। उनका काम था परवाना लेने के लिए आनेवाले भारतीयों को विनम्रतापूर्वक समझा-बुझाकर लौटा देना। स्वयंसेवकों को कड़ी ताकीद कर दी गई थी कि वे किसी के भी साथ जबर्दस्ती न करें, गुस्सा न हों और किसी का दिल न दुखाएं; जो परवाना लेने पर अड़ जाएं उनके साथ तो भूलकर भी बुरा व्यवहार न हो और अगर पुलिस पकड़े तो स्वयंसेवक खुशी-खुशी गिरफ्तार हो जाएं। आंदोलनकारियों की ओर से तो ज़ोर-जबर्दस्ती ज़रा भी न थी, लेकिन जनमत का दबाव और दूसरों की निगाह में नक्कू बन जाने का डर ही काफी था। परवाना-दफ्तरों से मिलकर रात में घरों पर चोरी-चोरी परवाने लेने की भी कुछ घटनाएं हुईं; पर वैसे देखा जाए तो कुल मिलाकर बहिष्कार पूरा और असरकारक रहा। सरकार ने पंजीयन की तिथि भी बढ़ा दी, फिर भी 30 नवंबर 1907 तक केवल 511 भारतीयों ने परवाने लिए थे।

28 दिसंबर 1907 को गांधीजी और उनके 26 प्रमुख साथियों को जोहान्सबर्ग की अदालत का 'कारण बताओ’ सम्मन मिला कि कानून के मातहत तुमने परवाने नहीं लिए, इसलिए तुम्हें ट्रांसवाल से देशनिकाला क्यों न दिया जाए ? मुकदमा चला और गांधीजी को दो महीने की सादी कैद की सज़ा दी गई। सरकार ने सोचा था कि आंदोलन के नेता को गिरफ्तार कर लेने से लोगों का मनोबल टूट जाएगा और वे घुटने टेक देंगे, लेकिन यह उसकी बड़ी भूल थी। गांधीजी के पकड़े जाते ही भारतीयों में जेल जाने की होड़ मच गई। जेल और सज़ा का डर ही किसी को नहीं रहा। आंदोलनकारियों ने जेल का नाम ही रख दिया बादशाह एडवर्ड का होटल। जोहान्सबर्ग की जेल में मुश्किल से पचास आदमियों को रखने की जगह थी और गिरफ्तार सत्याग्रहियों की संख्या हो गई 155। सारे बंदी जमीन पर सोते और उन्हें खाना जो दिया जाता था वह तो कुत्ते भी सूंघकर छोड़ देते। लेकिन फिर भी उत्साह सभी में अपार था। बंदियों ने मशक्कत का काम माँगा,

पर लगभग सभी को सादी कैद की सज़ा मिली थी, इसलिए जेल अधिकारियों ने किसी को कोई काम नहीं दिया।

गांधीजी अभी जेल में व्यवस्थित नहीं हो पाए थे कि एक दिन उनके गोरे मित्र मि. अलबर्ट कार्टराइट उनसे जेल में मिलने के लिए आए। मि. कार्टराइट जोहान्सबर्ग के अंग्रेज़ी दैनिक 'ट्रांसवाल लीडर’ के संपादक और भारतीयों के पक्ष का समर्थन करनेवाले उदारशय व्यक्ति थे। वह अपने साथ जनरल स्मट्स का बनाया हुआ समझौते का एक मसविदा भी लेते आए थे, जिसका आशय यह था कि यदि भारतीय जनता स्वेच्छा से परवाना ले ले तो सरकार पंजीयन के काले कानून को रद्द कर देगी। उसके दो दिन बाद जनरल स्मट्स ने कैदी की ही हालत में ही गांधीजी को मिलने के लिए प्रिटोरिया के अपने दफ्तर में बुला भेजा। जनरल ने भारतीयों के धीरज और दृढ़ता की सराहना की, यह कहकर अपनी मजबूरी ज़ाहिर की कि गोरे लोग इस तरह का कानून चाहते हैं और अंत में आश्वासन दिया कि अगर भारतीय स्वेच्छा से परवाने ले लें तो सरकार पंजीयन कानून को रद्द कर देगी। इसपर गांधीजी ने कुछ सुझाव दिए, जिन्हें जनरल स्मट्स ने मंजूर कर लिया। मुलाकात के अंत में गांधीजी ने पूछा, “अब मुझे कहाँ जाना है ?” जनरल ने हँसकरे जवाब दिया, “आप तो अभी से आज़ाद हैं। आपके साथियों को कल सवेरे छोड़ने के लिए टेलीफोन करता हूँ।”

उस वक्त शाम के कोई सात बजे होंगे। गांधीजी के पास तो एक घेला भी न था। जनरल स्मट्स के सचिव से किराए के पैसे उधार लेकर वह स्टेशन दौड़े गए। जोहान्सबर्ग को जानेवाली गाड़ी बस छूटने को ही थी। जोहान्सबर्ग पहुँचने के तुरंत ही बाद उन्होंने जनरल स्मट्स के साथ हुए अनौपचारिक समझौते पर विचार करने के लिए भारतीयों की एक बैठक बुलाई। उसमें गांधीजी की खूब आलोचना हुई। क्या व सरकार के हाथ में खेल नहीं रहे हैं ? हम स्वेच्छा से परवाना लें, उसके पहले ही परवाना कानून को रद्द क्यों नहीं कर देते ? अगर ट्रांसवाल की सरकार अपनी बात से मुकर गई तो क्या होगा ? गांधीजी ने बड़ी शांति से लोगों को समझाया कि सत्याग्रही को तो अपने विरोधियों की बात पर भी भरोसा करना होता है; और अगर सरकार अपनी बात से मुकर ही गई तो हम फिर सत्याग्रह शुरू कर सकते हैं। इस सभा में पश्चिमोत्तर प्रदेश के एक पठान

ने उलटे-सीधे कई सवालों की झड़ी लगा दी और गांधीजी पर यहाँतक आरोप लगाया कि उन्होंने कौम के साथ दगा की है और पंद्रह हज़ार पौंड लेकर उसे जनरल स्मट्स के हाथों बेच दिया है।

गांधीजी सार्वजनिक सभा में यह घोषणा कर चुके थे कि जनरल स्मट्स के साथ किए गए समझौते के अनुसार वह स्वयं स्वेच्छा से परवाना लेने के लिए जाएंगे। 10 फरवरी, 1908 को वह अपने घर से परवाना लेने दफ्तर की ओर चले। वॉन ब्रांडिस स्ट्रीट में पठान मीर आलम और उसके साथियों ने गांधीजी पर लाठियों से हमला कर दिया। वह 'हे राम !' कहते हुए बेहोश होकर गिर पड़े। उस दिन यदि लाठियों के कुछ वार गांधीजी के साथियों ने अपने ऊपर न झेल लिए होते और राह चलते गोरों ने बीच-बचाव न किया होता तो गांधीजी के वहीं मर जाने में कोई भी संदेह नहीं था।

लहूलुहान गांधीजी को लोग-बाग पास की एक दुकान में उठा ले गए। होश में आते ही जो पहला सवाल उन्होंने किया वह मीर आलम के बारे में था। उन्होंने तीमारदारी के लिए आए हुए अपने मित्र पादरी डोक से पूछा, “मीर आलम कहाँ है ?” उन्होंने बताया, “वह दूसरे हमलावरों के साथ गिरफ्तार कर लिया गया है।“ गांधीजी ने कहा, “उन्हें छोड़ देना चाहिए।“ डोक ने जवाब दिया, “यह सब तो होता रहेगा, लेकिन आप यहाँ एक पराए दफ्तर में पड़े हैं; आपका होंट फट गया है और गाल से खून बह रहा है। पुलिस आपको अस्पताल ले जाना चाहती है, लेकिन आप मेरे यहाँ चले चलिए तो श्रीमती डोक और मैं आपकी जितनी सेवा हमसे हो सकती है करेंगे।" गांधीजी ने अस्पताल के बदले पादरी डोक के यहाँ जाना ही पसंद किया।

स्मट्स के साथ किए गए समझौते को पूरा करने के लिए गांधीजी ने अपने जीवन को खतरे में डाल दिया था। लेकिन उस धूर्त बोअर जनरल ने ऐसा विश्वासघात किया कि गांधीजी और समझौते के मध्यस्थ मि. अलबर्ट कार्टराइट भी दिग्मूढ़ रह गए। काले कानून को रद्द करना तो दूर रहा ट्रांससाल की सरकार ने अपनी मर्जी से लिए हुए परवाने को कानून के अनुकूल मान लिया और उसमें एक दफा ऐसी रख दी, जिससे परवाना लेनेवाले पर काला कानून लागू न हो। इसका साफ मतलब यह था कि नए आनेवाले हिन्दुस्तानियों पर काला कानून लागू रहे। गांधीजी ने इसके विरोध में 'विश्वासघात' शीर्षक देकर 'इंडियन ओपिनियन' में लेख लिखे। दोस्तों ने उन्हें

बुद्धू बन जाने का ताना भी मारा। गांधीजी ने जनरल स्मट्स को पत्र लिखकर उनसे और मि. अलबर्ट कार्टराइट से हुई अपनी बातचीत की याद दिलाई। लेकिन जनरल साहब साफ मुकर गए; ऐसा आश्वासन देने की बात उन्हें याद ही नहीं आ रही थी।

१२. दूसरी बार सत्याग्रह

भारतीय बुरी तरह हारे थे। उन्होंने 'कुत्ते के गले का पट्टा' राज़ी खुशी अपने गले में पहन लिया था, और जिस कानून को वे रद्द कराने के लिए लड़े थे वह वैसा-का-वैसा बरकरार था। अपनी मर्जी से परवाना लेने के लिए भारतीयों ने जो दरख्वास्तें दी थीं, सरकार ने उन्हें लौटाने से इनकार कर दिया था। इसपर गांधीजी ने घोषणा की कि भारतीय जनता अपनी मर्जी से किए गए परवानों की होली जलाएगी और उसके "नतीजों को विनय और दृढ़ता के साथ सहन करेगी।"

1907 की सर्दियोंवाले सत्याग्रह की रूपरेखा तो उस आंदोलन ने आप ही तय कर दी थी। इस पर गांधीजी ने आंदोलन चलाने के अपने ज्ञान और भारतीय जनता की अपनी बढ़ी हुई जानकारी के आधार पर दूसरे सत्याग्रह-आंदोलन की योजना बनाई। ट्रांसवाल के बहुत-से भारतीयों ने अपने ऐच्छिक परवानों को एक जगह इकट्ठा किया और उनकी होली जला दी। 'डेली मेल' के जोहान्सबर्ग-स्थित संवाददाता ने इस होली की तुलना 'बोस्टन की चाय पार्टी,[1] से की थी। ट्रांसवाल के भारतीयों का संघर्ष संभवत: अमरीका के स्वाधीनता-संग्राम जितना ऐतिहासिक न हो, लेकिन ऐच्छिक परवानों की होली जलाना निस्संदेह वीरतापूर्ण विरोधकार्य था। गांधीजी की हार पर खुशी मनानेवाले जनरल स्मट्स के अब बेचैन होने की बारी थी। ऐच्छिक परवानों की होली का वह जलसा उस समय और भी शानदार हो उठा जब पठान मीर आलम ने, जो जेल से छूट आया था, अपना असल परवाना जलाने को दे दिया; ऐच्छिक परवाना तो उसने लिया ही नहीं था और बड़े प्रेम से गांधीजी से हाथ मिलाया। उन्होंने उसे यकीन दिलाया कि उनके मन में उसके प्रति कभी कोई गुस्सा या द्वेष नहीं रहा।

इसी बीच ट्रांसवाल की विधान-सभा ने 'इमिग्रैंट्स रेस्ट्रिक्शन एक्ट' यानी नई बस्ती पर रोक लगानेवाला कानून और पास कर दिया। इसका असली मंशा नए आनेवाले हिन्दुस्तानियों को ट्रांसवाल में दाखिल होने से रोकना था। गांधीजी ने तुरंत सरकार को सूचित कर दिया कि इस नए हमले को भी सत्याग्रह में शामिल किया जाएगा। जनरल स्मट्स के गांधीजी पर नए-नए सवाल उठाने का आरोप लगाने का आरोप मिल गया। उन्होंने गांधीजी को यह कहकर बदनाम किया कि इस आदमी को अंगुली थमाओ तो पहुँचा पकड़ने लगता है और भारतीयों को ऐसे नेता से सावधान

हो जाने के लिए भी कहा। जबकि सचाई यह थी कि गांधीजी सत्याग्रह के क्षेत्र के फैलाव को रोकने में अपना पूरा ज़ोर लगाए हुए थे; दूसरे उपनिवेशों के भारतीय निवासी तो ट्रांसवाल के अपने भारतीय भाइयों की सहानुभूति में आंदोलन छेड़ने को तैयार बैठे थे, लेकिन गांधीजी बड़ी कठिनाई से उन्हें रोके हुए थे।

इस बार भी जेल जानेवालों की कमी नहीं थी। 1908 के अगस्त महीने में नेटाल के कुछ प्रमुख भारतीयों ने ट्रांसवाल की सीमा को पार किया; वहाँ बसने का उनका पुराना अधिकार था, लेकिन वे बसने के लिए नहीं, परवाना-कानून का विरोध करने के लिए सीमा पार करके आए थे। उन्हें गिरफ्तार कर जेल में डाल दिया गया। ट्रांसवाल में जेल जाने का सबसे आसान तरीका था बगैर परवाने के फेरी करना। जिन फेरीवालों के पास परवाने थे उन्होंने दिखाने से इनकार कर दिया और जेल जाने लगे। भारतीय व्यापारियों और बैरिस्टरों को यह तरकीब खूब पसंद आई। सब-के-सब रातों रात फेरीवाले बन गए | बगैर परवानों के सब्जी की फेरी करने लगते और जेल पहुँच-जाते। लेकिन इस बार सरकार सब सत्याग्रहियों को कड़ी कैद की सज़ा दे रही थी। जेल में सख्ती भी खूब की जाती थी। चौदह और सोलह बरस के बच्चों से पत्थर तुड़वाए जाते, सड़कें झड़वाई जातीं और तालाब खुदवाए जाते। नागप्पा नाम का अट्ठारह बरस का एक नौजवान तो सर्दियों में बड़े सवेरे काम पर लगाए जाने के कारण डबल निमोनिया होकर जेल में मर ही गया।

1908 के अक्तूबर महीने में दुबारा जेल जाने पर गांधीजी को भी वे सारी सख्तियाँ झेलनी पड़ीं। पहली रात तो उन्हें खतरनाक अपराधियों के साथ बितानी पड़ी, जो देखने-मात्र से 'डरावने, हत्यारे, दुष्ट और लंपट मालूम पड़ते थे।' मन:-शांति के लिए गांधीजी सारी रात गीता के श्लोक बोलते रहे। ऐसी कठिन जेल उन्होंने जीवन में कभी नहीं भोगी थी। सबेरे सात बजे उन्हें कैदियों की एक गैंग में लगा दिया जाता, जो दिन-भर कुदाली से पथरीली ज़मीन की खुदाई किया करती। इस गैंग का मुकादम बड़ा ही निर्दयी था। खुदाई करते-करते बेचारे कैदियों की कमर दुहारी हो जाती, हाथों में छाले पड़ जाते और कई तो असह्य कष्ट से मूर्छित भी हो जाते थे। पर गांधीजी डटे रहते और अपने साथियों को बराबर हिम्मत बंधाया करते। शाम को और इतवार के दिन वह भगवद्गीता और रस्किन, थोरो तथा अन्य दार्शनिकों के जो ग्रंथ जेल में मिल जाते थे, पढ़ा करते।

जेल के कड़े प्रतिबंध गांधीजी को आत्मविकास और जन-सेवा के लिए अपनाए गए संयमपूर्ण जीवन और ब्रह्मचर्य के सर्वथा अनुकूल प्रतीत होते थे। उनके भावी जीवन की प्रबल शक्ति का स्रोत, उनके व्यक्तित्व और चरित्र की इस्पाती दृढ़ता इन जेलखानों में ही पैदा हुई थी। श्रीमती पोलक के शब्दों में—"उनके जेल से लौटने पर हर बार हमें उनमें एक अद्भुत विकास और चारित्रिक प्रगति देखने को मिलती थी, जो निश्चय ही जेल-जीवन का परिणाम हुआ करती थी।"[2]

जेल, देश-निकाला और भारी-भारी जुर्माने सत्याग्रह-आंदोलन को कुचल न सके। लेकिन हमेशा तो वह जोश बना नहीं रह सकता था, धीरे-धीरे शिथिलता आती गई। भारतीय जनता की, और खासतौर से उसके मालदार तबकों की हालत उन सैनिकों-जैसी हो चली जो बहुत दिनों की लगातार लड़ाई से ऊब या थक जाते हैं। गतिरोध हो गया था। अब भारतीय ज़ोरदार मुकाबले के लिए तैयार नहीं थे, लेकिन हथियार उन्होंने फिर भी नहीं डाले थे।

1909 में गांधीजी इंग्लैंड की असफल यात्रा से लौटे तो उन्होंने समझ लिया कि अधिकारों की यह लड़ाई काफी लंबी चलेगी। भारतीय जनता पर सरकारी दमन का असर होने लगा था। कई व्यापारियों को भारी नुकसान उठाना पड़ा था और वे आंदोलन से अलग हो गए थे। जेल जानेवाले सत्याग्रहियों की तादाद कम हो गई थी और थोड़े-से चुने हुए पक्के लोग ही गिरफ्तार हो रहे थे। सत्याग्रह-मंडल ऐसे सत्याग्रहियों के कुनबों को भरण-पोषण के लिए हर महीने पैसा देता था, लेकिन अब मंडल के पास पैसा कम होता जा रहा था। सन् 1906 में राजनीति में आने के बाद से गांधीजी की वकालत लगभग बंद-सी ही थी और उनके पास जो-कुछ जमा-पूंजी थी वह सारी-की-सारी आंदोलन की भेंट चढ़ चुकी थी। सत्याग्रहियों के मुसीबतजदां कुनबों की मदद के ही लिए नहीं आंदोलन से संबंधित जोहान्सबर्ग और लंदन के दफ्तरों को चलाने और 'इंडियन ओपिनियन' को चालू रखने के लिए भी पैसों की बड़ी ज़रुरत थी। आखिर एक टिक सकनेवाला ही इस लंबी लड़ाई में जीत सकता था। सरकार के पास सब साधन थे और अंत तक टिके रहने की सामर्थ्य थी। भारतीय सत्याग्रही खुद भूखा रहकर और अपने परिवार को भूखा मारकर कबतक लड़ता ? खर्च को काफी हद तक कम किए बिना सत्याग्रह की लड़ाई को लंबे समय तक चला पाना असंभव ही था। इसलिए गांधीजी ने सत्याग्रही कैदियों के परिवारों को किसी सहकारी

खेत पर बसाने का निश्चय किया। इस काम के लिए डरबन की फिनिक्स बस्ती उनके ध्यान में थी। लेकिन जोहान्सबर्ग आंदोलन का केन्द्र था और वहाँ से फिनिक्स रेल द्वारा पूरे तीस घंटे का रास्ता था; इसलिए फिनिक्स का विचार त्याग देना पड़ा।

ऐसे समय एक जर्मन स्थपति मि. केलनबेक ने गांधीजी की मदद की। ये सज्जन गांधीजी के साथी और सहयोगी थे। उन्होंने जोहान्सबर्ग से 21 मील दूर 1100 एकड़ जमीन खरीदी और सत्याग्रहियों को बिना किसी भाड़े-लगान के काम में लाने का अधिकार दे दिया। इस ज़मीन में एक हज़ार के लगभग फलवाले पेड़ थे और छोटा-सा मकान भी बना हुआ था। इस जगह का नाम रखा गया 'टाल्स्टाय-फार्म' और वहाँ जो माल-मसाला और मज़दूर मिल गए उन्हीं की मदद से गांधीजी और केलनबेक टिन-चद्दरों की एक छोटी-सी बस्ती खड़ी करने के काम में लग गए। 'टाल्स्टाय-फार्म' पर रहनेवालों की तादाद पचास से पचहत्तर के बीच रही होगी, और उनमें भारत के हर हिस्से के हिन्दू और मुसलमान और पारसी और ईसाई थे। वहाँ सबको एक ही रसोई से शाकाहारी भोजन मिलता था। बहुत थोड़े में और बहुत मुश्किलों में वहाँ के लोग अपनी गुजर-बसर करते थे; सच पूछा जाए तो जेल से भी ज़्यादा कठोर उनका जीवन था। वहाँ के हर निवासी को, जिनमें बच्चे भी शामिल थे, मेहनत-मज़दूरी करनी पड़ती थी। उस बस्ती को स्वावलंबी बनाने की हर कोशिश की गई थी। मि. केलनबेक की देखरेख में एक छोटा-सा कारखाना चलता था, जिसमें ज़रूरत की छोटी-बड़ी कई चीज़ें बनाई जाती थीं। मि. केलनबेक जर्मन साधुओं के मठ में चप्पल बनाना सीख आए थे और उन्होंने यह हुनर गांधीजी और फार्म के दूसरे निवासियों को सिखा दिया था। उस समय का वर्णन करते हुए गांधीजी लिखते हैं, "हम सभी मज़दूर बन गए थे, इससे पहनावा रखा मज़दूरों का, पर यूरोपीय ढंग का—यानी मज़दूरों के पहनने का पतलून और उसी तरह की कमीज़। इस पहनावे में जेल का अनुकरण था।"[3] जिसे अपने निज़ी काम से या सैर के लिए शहर जाना होता वह जोहान्सबर्ग तक आने-जाने की यात्रा पैदल करता था। गांधीजी यद्यपि चालीस साल के हो गए थे और सिर्फ फल खाते थे, लेकिन एक दिन में 40-42 मील चलना उनके लिए मामूली बात थी; एक बार तो उन्होंने दिन-भर में पूरे पचपन मील की मंजिल की और फिर भी नहीं थके।

गांधीजी के उत्साह का पार न था; उनकी "हिम्मत और श्रद्धा टाल्स्टाय-फार्म में पराकाष्ठा को पहुँची हुई थी।"[4] प्राकृतिक उपचार में उनकी आस्था दृढ़ होती गई; अपनी आरोग्य-विषयक पुस्तक भी उन्होंने इसी समय लिखी । स्वयं उनका कहना है, "फार्म में एक भी बीमारी के मौके पर न तो हमने डॉक्टर बुलाया और न दवा का ही उपयोग किया।" केलनबेक उनके विश्वस्त साथी थे और सभी प्रयोगों में बड़े उत्साह से हिस्सा लेते थे। दोनों मिलकर अहिंसा को अपनाने के नए-नए उपाय सोचा करते और अक्सर साँपों पर भी अहिंसा के प्रयोग करते थे। फार्म के बच्चों की पढ़ाई के लिए एक स्कूल भी खोला गया था। अपने बच्चों पर शिक्षण-संबंधी जो प्रयोग कर चुके थे, उन्हीं के अनुसार गांधीजी वहाँ के बच्चों को पढ़ाते थे। वह मस्तिष्क की अपेक्षा हृदय और चरित्र की शिक्षा पर अधिक ज़ोर देते थे; और शारीरिक श्रम तो उन्होंने अपने छात्रों के पाठ्यक्रम में अनिवार्य ही कर दिया था।

टाल्स्टाय-फार्म के बच्चे खुशी-खुशी गड्ढे खोदते, पेड़ काटते, बोझा ढोते और बढ़ईगिरी तथा मोची का काम सीखते थे। शिक्षक की जिम्मेदारियों और कर्तव्य के बारे में गांधीजी की बहुत ऊँची धारणा थी, "मैं झूठ बोलता रहूँ और अपने शिष्यों को सच्चा बनाने की कोशिश करूँ तो वह बेकार जाएगी। डरपोक शिक्षक अपने शिष्यों को वीरता नहीं सिखा सकता...मैंने देखा कि मुझे अपने साथ रहनेवाले लड़के और लड़कियों के सामने पदार्थ-पाठ रूप होकर रहना चाहिए। इससे मेरे शिष्य मेरे शिक्षक बन गए; और अपने लिए नहीं तो उनके लिए मुझे भला रहना चाहिए, यह भी मैंने समझा।"[5]

उन दिनों उनके आत्म-निग्रह और संयम में जो वृद्धि हुई, उसका बहुत कुछ श्रेय गांधीजी ने टाल्स्टाय-फार्म-शिक्षण-संबंधी उत्तरदायित्वों के प्रति अपनी सजगता को दिया है। लेकिन उस फार्म का सत्याग्रह की लड़ाई के विकास में भी काफी मूल्यवान योगदान रहा है। जेल जानेवाले सत्याग्रहियों के परिवारों को तो वहाँ आश्रय मिला ही, जब गांधीजी ने सत्याग्रह का आखिरी दौर शुरू किया तो अपनी मर्जी से त्याग और गरीबी का जीवन अपनाकर शक्तिशाली ट्रांसवाल सरकार से लगातार जूझ रहे वहाँ के मुट्ठी-भर देशभक्तों की शानदार मिसाल ने शेष सारी भारतीय जनता

को संघर्ष में कूदने के लिए अनुप्रमाणित भी किया और टाल्स्टाय-फार्म के कठोर संयम और दृढ़ अनुशासन में रहे हुए स्त्री, बच्चों और पुरुषों को तो जेल का डर हो ही नहीं सकता था।

सत्याग्रह की वह लड़ाई पूरे चार साल तक चलती रही। इसी बीच भारतीय देशभक्त जेल जाते और जेल से छूटकर आते रहे। भारतीय समाज के मालदार तबके में तो उतना जोश नहीं था, लेकिन गांधीजी के नेतृत्व में जो थोड़े-से चुने हुए पक्के लोग काम कर रहे थे उनके उत्साह और मनोबल में कोई कमी नहीं होने पाई थी। उधर भारत का जनमत भी इस प्रश्न पर विक्षुब्ध हो रहा था। कलकत्ते की बड़ी कौंसिल में गोखले ने गिरमिटियों का दक्षिण अफ्रीका भेजना बंद कर देने का प्रस्ताव पेश किया था और वह स्वीकार भी हो गया था। भारत में बादशाह जार्ज पंचम के दरबार का समय निकट आता जान इंगलैंड की सरकार भी मामले को सुलझाकर भारतीयों के खुश करने के पक्ष में थी। इस सबका नतीजा यह हुआ कि 1911 के फरवरी महीने में दक्षिण अफ्रीका की सरकार ने घोषणा की कि वह रंगभेदवाली रोक को उठा लेगी, एशियावासी होने के कारण ट्रांसवाल में भारतीयों के प्रवेश पर जो प्रतिबंध लगा हुआ है वह नहीं रहेगा, उसके बदले सिर्फ उनकी शिक्षा-संबंधी योग्यता की कड़ी जाँच का प्रतिबंध रहेगा।

27 मई 1911 को 'इंडियन ओपिनियन' ने घोषणा की कि सरकार के साथ एक अस्थायी समझौता हो गया है और इसलिए सभी भारतीयों एवं चीनियों को अपने काम-धंधे में लग जाना चाहिए। पहली जून को सभी सत्याग्रही कैदी रिहा कर दिए गए। यह समझौता 1912 के अंत तक बना रहा।

1912 की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना थी गोखले की दक्षिण अफ्रीका की यात्रा। पिछले पंद्रह वर्षों से उनका गांधीजी से पत्र-व्यवहार चला आता था और कलकत्ते की बड़ी कौंसिल के भीतर और बाहर से भी वह दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों के अधिकारों की लड़ाई का हर तरह से समर्थन करते रहे थे। उनकी यात्रा की योजना ब्रिटिश सरकार की मंजूरी से ही बनी थी, वह दक्षिण अफ्रीका में सरकारी अतिथि बनकर आए थे और वहाँ की सरकार ने उन्हें रेल-यात्राओं के लिए सैलून दिया था। गांधीजी ने कैपटाउन पहुँचकर गोखले का स्वागत किया और उनकी पूरी महीने भर की यात्रा के दौरान साथ रहकर उनके दुभाषिए और अनुचर का काम किया। गोखले जहाँ भी गए उनक

शाही ढंग से स्वागत किया गया। वह जिस स्टेशन पर उतरते उसे खूब सज़ाया जाता, रोशनियाँ की जातीं और उनके चलने के लिए गलीचे बिछाए जाते। हर जगह उन्हें मानपत्र और किश्तियाँ भेंट की गईं। यूनियन की राजधानी प्रिटोरिया में उन्होंने यूनियन सरकार के मंत्रिमंडल से भेंट की और उसके बाद गांधीजी से कहा, "तुम्हें एक बरस के अंदर हिंदुस्तान लौट आना है। सब बातों का फैसला हो गया। काला कानून रद्द हो जाएगा। इमिग्रेशन कानून से वर्ण-भेदवाली दफा निकाल दी जाएगी। तीन पौंड का कर उठा दिया जाएगा।" इसपर गांधीजी ने जवाब दिया था, "मुझे इसमें पूरी शंका है। इस मंत्रिमंडल को जितना मैं जानता हूँ उतना आप नहीं जानते"

दक्षिण अफ्रीका से गोखले की पीठ अभी मुड़ी ही थी कि यूनियन सरकार की धोखाधड़ी ज़ाहिर हो गई। जनरल स्मट्स ने यूनियन पार्लामेंट में कहा कि "नेटाल के यूरोपियन यह कर उठाने को तैयार नहीं हैं, इसलिए यूनियन सरकार गिरमिटयुक्त भारतीय मज़दूरों और उनके परिवारों पर लगाए गए तीन पौंड के कर को रद्द करने का कानून पास करने में असमर्थ है।"

सरकार के इस वचन-भंग ने सत्याग्रह-आंदोलन में नई जान फूँक दी।

---

1. इंग्लैंड से चाय की जो पेटियाँ अमरीका भेजी गई थीं, उन्हें अमरीकियों ने बोस्टन के बंदरगाह में जल-समाधि देकर इंग्लैंड के अधीन न रहने के अपने निश्चय की घोषणा की थी। अमरीका के स्वाधीनता-संग्राम की यह घटना इतिहास में 'बोस्टन की चाय-पार्टी' के नाम से प्रख्यात है ।—अनुवादक ।
2. पोलक, एम.—गांधी : दि मैन' (मानव गांधी), पृष्ठ 94।
3. 'दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास', सस्ता साहित्य मंडल, 1959 पृष्ठ 294 ।
4. वही, पृष्ठ 292 ।
5. 'आत्मकथा' : सस्ता साहित्य मंडल।

१३. आखिरी दौर

गांधीजी ने आंदोलन का अंतिम दौर शुरू करने और उसमें अपने को होम देने का फैसला कर लिया। भारत में गोखले को पता चला तो उन्होंने गांधीजी से उनकी शांति सेना के संख्या-बल के बारे में पूछताछ की। गांधीजी ने कम-से-कम सोलह और अधिक-से-अधिक छियासठ सत्याग्रही सैनिकों के नाम उन्हें लिख भेजे। गोखले-जैसे अनुभवी नेता को इतनी कम संख्या से ज़रूर आश्चर्य हुआ होगा और यह बात उनकी समझ में नहीं आ सकी होगी कि इतने थोड़े लोगों से शक्तिशाली ट्रांसवाल सरकार को कैसे झुकाया जा सकेगा। गांधीजी की राजनीति को, जो हज़ारों लोगों को आंदोलन में खींच लाई थी, शुरू-शुरू में तो अवश्य गोखले जान नहीं पाए होंगे।

इस बार गांधीजी ने आंदोलन का सूत्रपात सोलह सत्याग्रहियों से किया, जिनमें कस्तूरबा भी थीं। इन सत्याग्रहियों ने नेटाल की फिनिक्स बस्ती से चलकर ट्रांसवाल में प्रवेश किया। सरकार ने बिना परवाना ट्रांसवाल में प्रवेश करने का आरोप लगाकर इन्हें 22 सितंबर को गिरफ्तार कर जेल भेज दिया। कुछ दिनों बाद ट्रांसवाल-स्थित टाल्स्टाय-फार्म से ग्यारह महिलाओं का जत्था बिना परवाना नेटाल में प्रवेश करने के लिए रवाना किया गया। इन्हें न्यू कैसेल पहुँचना था, जो नेटाल में कोयले की खानों का केन्द्र था। गिरफ्तारी से पहले इन महिलाओं ने खानों में काम करनेवाले भारतीय मज़दूरों को काम छोड़ देने के लिए कहा और उन्होंने कहना मानकर हड़ताल कर दी।

कोयला खानों की हड़ताल बहुत बड़ी बात थी। हालत को काबू में रखने के लिए गांधीजी फौरन न्यू कैसेल पहुँच गए। मज़दूरों को हिंसा और अव्यवस्था पर उतर आने से रोकना भी बहुत ज़रूरी था। खान-मालिकों ने गांधीजी को बातचीत के लिए डरबन बुलाया। मालिकों की ओर से कहा गया, “आपका तो इसमें कुछ जाता नहीं है। पर इन बहकाए हुए मज़दूरों का जो नुकसान होगा, उसे क्या आप भर देंगे?” गांधीजी ने परम शांति से जवाब दिया, “मज़दूरों ने सोच-समझकर और अपने नुकसान को जानते हुए यह हड़ताल की है। जहाँतक नुकसान का सवाल है, आदमी के लिए आत्म-सम्मान खोने से बड़ा नुकसान कोई हो नहीं सकता, जिसे ये मज़दूर तीन पौंड के कर के रूप में बरसों से भुगतते आ रहे हैं।" वहाँ से लौटकर गांधीजी ने खान-मालिकों की

धमकियों की बात हड़ताली मज़दूरों को बता दी, लेकिन मज़दूर डटे रहे; उन्हें अपने 'गांधी भाई' पर पूरा भरोसा था। अब मालिक दमन पर उतर आए। उन्होंने मज़दूरों की पानी और बिजली बंद कर दी। इसपर मज़दूर मालिकों के क्वार्टरों से अपने बोरिए-बिस्तरे उठाकर बाहर निकल आए। पहले तो गांधीजी की समझ में नहीं आया कि हज़ारों बेघर और बेकार हड़ताली मज़दूरों का वे क्या करें ? न्यू कैसेल के भारतीय व्यापारी सरकारी कोष के डर से उन मज़दूरों की मदद करने से कतराते थे। एक भारतीय ईसाई परिवार हड़ताली मज़दूरों को खाना खिलाने के लिए राज़ी हो गया। लेकिन हज़ारों मज़दूरों को यों कितने दिन खिलाया जा सकता था ? फिर इतनी बड़ी तादाद में बेपढ़े-लिखे और बेकार मज़दूरों का शहर में योंही पड़े रहना खतरे से खाली भी न था। गांधीजी ने उन्हें हिजरत करने की सलाह दी और हड़तालियों की उस सारी फौज को पैदल ट्रांसवाल ले जाने का फैसला किया। उन्हें ऐसा विश्वास था कि रास्ते में ही सरकार सारे मज़दूरों को पकड़कर जेल में बंद कर देगी; लेकिन अगर किसी वजह से नहीं पकड़े जा सके तो सब लोगों को टाल्स्टाय-फार्म पहुँचा दिया जाएगा और वहाँ मेहनत-मज़दूरी करके वे अपनी गुजर-बसर का इंतजाम कर लेंगे।

सिर्फ डेढ़ पौंड डबल रोटी और एक औंस शक्कर के राशन पर उन मज़दूरों ने न्यू कैसेल से नेटाल के सरहदी गाँव चार्ल्स टाउन तक छत्तीस मील का सफर दो दिन में तय किया। वहाँ से ट्रांसवाल की सरहद ज़्यादा दूर नहीं थी। एक सप्ताह के बाद 6 नवंबर 1913 को इस काफिले ने सीमा को पार करना शुरू किया। इन हिजरतियों में 2037 पुरुष, 127 स्त्रियाँ और 57 बच्चे थे। 'सनडे पोस्ट' अखबार के अनुसार “गांधी के नेतृत्व में चलनेवाला वह विशाल हिजरती दल एक तरह का शंभु-मेला ही था। देखने में तो सभी कमज़ोर, बल्कि मरियल; टाँगें सूखकर लकड़ी हो रही थीं; मगर डेढ़ पाव रोटी के राशन पर शेरों के दमखम से दर्राते चले जाते थे। असंयम और अनुशासन-भंग की घटनाएं भी ज़रूर हुईं, लेकिन कुल मिलाकर उन ग़रीब अनपढ़ मज़दूरों का साहस, अनुशासन और कष्टसहिष्णुता चकित कर देनेवाली थी। वे राजनीति का ककहरा भी नहीं जानते थे, परंतु अपने नेता में उनका अडिग विश्वास था और उसका हर शब्द उनके लिए वेद-वाक्य था। रास्ते में एक नाले को लाँघते हुए एक बच्चा माँ के हाथ से छूटकर धारा में डूब गया।

पर उस वीर माता ने दिल छोटा नहीं किया। बोली, “मरे हुए का शोक करके क्या करेंगे ? जीवितों की सेवा करना हमारा धर्म है। और आगे बढ़ गई।

वोक्सरस्ट में गांधीजी को गिरफ्तार कर लिया गया। बालफोर में सारे हिजरतियों को गिरफ्तार कर नेटाल पहुँचा देने के लिए स्टेशन ले जाया गया, जहाँ तीन स्पेशल ट्रेनें इसी काम के लिए खड़ी थीं। लेकिन हड़तालियों ने अपने ‘गांधी भाई के हुकुम' के बिना रेलों में बैठने से इनकार कर दिया। हालत बहुत संगीन हो गई। लेकिन नेताओं के समझाने-बुझाने का असर हुआ और वे लोग राज़ी हो गए। रास्ते में उन्हें खाना नहीं दिया गया और नेटाल पहुँचते ही मुकदमा चलाकर जेल की सज़ा ठोंक दी गई। सरकार ने बंद खानों को चलाने और हड़तालियों को सज़ा देने की एक नई तरकीब सोच निकाली | हड़ताली जहाँ-जहाँ से आए थे उन्हीं स्थानों को एक नया कानून बनाकर जेलों में बदल दिया गया और खानों के गोरे कर्मचारियों को उन जेलों का दरोगा बना दिया। सज़ा के तौर पर उन खानों में हड़तालियों से जबर्दस्ती काम करवाने का सरकार ने फैसला कर लिया था। लेकिन मज़दूर बहादुर थे। उन्होंने काम करने से इनकार कर दिया। इसपर उनकी लातों, घूँसों और कोड़ों तक से पिटाई की गई। इस अमानुषी अत्याचार की खबर चारों ओर आग की तरह फैल गई और पश्चिमोत्तर नेटाल के सभी खेतों और खानों के गिरमिटिए हड़ताल पर उतर आए। यूनियन सरकार के आतंक का नंगा नाच शुरू हो गया—'आग और खून' की नीति पर अमल होने लगा। ग़रीब भारतीय मज़दूरों के निर्मम दमन में गोरों का जातीय अहंकार और उनके आर्थिक हित एक हो गए—सशस्त्र घुड़सवार सैनिक निहत्थे, असहाय गिरमिटेयों को खानों और खेतों में काम करने के लिए खदेड़ने लगे।

उधर वोक्सरस्ट-जेल में गांधीजी से पत्थर खुदवाने और झाड़ू लगवाने का काम करवाया जाता था। फिर उन्हें वहाँ से प्रिटोरिया की जेल में भेजा गया और दस फुट लंबी, सात फुट चौड़ी कालकोठरी में बंद कर दिया गया। उजाला इसमें रात को कैदी की निगरानी के समय ही पहुँचता था, बाकी चौबीसों घंटे घुप्प अंधेरा छाया रहता। यहाँ न तो गांधीजी को बेंच दी गई और न वह किसीसे बात ही कर सकते थे; और छोटे-मोटे जो कष्ट दिए गए उनकी तो कोई गिनती ही नहीं। यहाँतक कि अदालत की पेशी पर हथकड़ी और बेड़ी डालकर ले जाया गया।

दक्षिण अफ्रीका की सरकार के इस बर्बर दमन ने भारत में खलबली मचा दी और सारा देश भड़क उठा। गोखले को तार और पत्रों में पल-पल की खबर दी जा रही थी। बीमार होते हुए भी उन्होंने धन-संग्रह और नैतिक समर्थन के लिए देशव्यापी दौरा किया। भारत के लाट पादरी बिशप लेफ्राय ने अखबारों में खुला पत्र लिखकर प्रवासी भारतीयों का समर्थन किया। उस समय के वाइसराय लार्ड हार्डिंज़ पर सारे देश की नाराज़ी का बड़ा गहर असर हुआ; उन्हें बताया गया कि "सिपाही-विद्रोह के बाद ऐसा देशव्यापी आंदोलन दूसरा नहीं हुआ।" उन्होंने अपने एक भाषण में यूनियन सरकार की कड़ी आलोचना की। दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रही भारतीयों के साथ भारत देश की पूर्ण सहानुभूति की घोषणा करते हुए उन्होंने यहाँतक कहा कि, "मेरे-जैसे गैर-भारतीयों की सहानुभूति भी वहाँ के भारतीयों के साथ है।"[1] इतना ही नहीं, इससे दो कदम आगे जाकर उन्होंने दक्षिण अफ्रीका सरकार के दमन और अत्याचारों की निष्पक्ष जांच की भी माँग की।

जनरल स्मट्स अपने बुरे इरादों और दक्षिण अफ्रीका के गोरों की हठ-धर्मी में, जिसे खुद उन्होंने बढ़ावा दिया था, बुरी तरह फँस गए थे। उनकी हालत 'साँप-छछूंदर की-सी हो गई।'[2] इज्ज़त बचाने के लिए कुछ तो करना ही था, सो एक जाँच-आयोग बिठाकर जान छुड़ाई । लेकिन जाँच-आयोग के तीनों सदस्यों में भारतीय तो एक भी न था और तीनों गोरों में दो खुल्लमखुल्ला भारतीयों के कट्टर विरोधी थे। गांधीजी ने स्पष्ट कह दिया कि हमें ऐसे आयोग से न्याय की रंच-मात्र भी आशा नहीं; उचित है कि इस आयोग का फिर से गठन किया जाए। उधर गोखले ने मध्यस्थता में सहायता करने के लिए मि. एंड्रूज और पियर्सन को दक्षिण अफ्रीका भेजा ।

जिन खास माँगों पर भारतीयों ने सत्याग्रह किया था वे मंजूर कर ली गईं। गिरमिट-मुक्त मज़दूरों पर से तीन पौंड का कर उठा लिया गया; भारतीय हिन्दू और मुस्लिम पद्धति में किए गए विवाहों की वैधता मान ली गई; अंगूठे की छापवाले अधिवासी प्रमाण-पत्र को दक्षिण अफ्रीका में दाखिल होने और रहने का परवाना मंजूर किया गया।

जनरल स्मट्स के पुत्र ने लिखा है कि "मेरे पिता ने गांधी को ऐसी पटकनी दी कि वह चारों खाने चित्त हो गया और अपनी असफलता से खिन्न होकर भारत लौटने के मंसूबे गढ़ने लगा।"[3]

लेकिन बाप की राय बेटे से बिलकुल भिन्न है; 1939 में जनरल स्मट्स ने लिखा था कि “यह मेरे भाग्य की विडंबना ही कही जाएगी कि जिस आदमी का मैं उस समय भी सबसे अधिक आदर करता था उसी का मुझे विरोधी बनना पड़ा।” सत्याग्रह आंदोलन के बारे में उनका कहना था, “गांधीजी थोड़ा-सा विश्राम और जेल का एकांत चाहते थे, वह उन्हें मिल गया। उनके लिए सबकुछ उनकी योजना के अनुसार ही हो रहा था। कानून और व्यवस्था के संरक्षक के रूप में मुसीबत तो मेरी थी—एक ऐसे कानून को अमल में लाना पड़ रहा था, जिसके पीछे जनता का कोई खास बल नहीं था; और फिर उसी कानून को वापस लेने की हार और जिल्लत भी सहनी पड़ी। मज़ा तो था गांधीजी का, क्योंकि उनका षड्यंत्र सफल हो गया था।”[4]

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि इस कारावास में गांधीजी ने जनरल स्मट्स के लिए एक जोड़ी चप्पल खुद बनाई थी; और जैसाकि ऊपर के उद्धरण से पता चलता है जनरल स्मट्स के मन में भी गांधीजी के प्रति किसी तरह का व्यक्तिगत द्वेष या घृणा का भाव नहीं था। जब लड़ाई खत्म हो गई तो “दोनों के बीच शांति और सौहार्द का सुखद वातावरण पुनः निर्मित हो गया।“

---

1. हार्डिंज़ आफ पेनशस्ट : 'माई इंडियन ईयर्स', लंदन, 1948, पृष्ठ 91।
2. ‘दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास', मंडल, 1959, पृष्ठ 372।
3. स्मट्स, जे.सी. : 'जैन क्रिश्चियन स्मट्स', पृष्ठ 106।
4. राधाकृष्णन, एस. द्वारा संपादित : 'महात्मा गांधी', लंदन, 1939, पृष्ठ 277-78।

१४. दक्षिण अफ्रीका की प्रयोगशाला

गांधीजी के इतने प्रयत्नों के बाद भी दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों की समस्या स्थायी रूप से हल न हुई; बीमारी कुछ समय के लिए रुक ज़रूर गई, पर निर्मूल न हुई। आगे चलकर तो रंग-भेद और वर्ग-विद्वेष ने इतना विकराल और घिनौना रूप धारण कर लिया और मदांध गोराशाही इस सीमा तक निर्लज्ज और आततायी हो गई जिसका सन् 1914 के पहले के वर्षों में कल्पना तक नहीं की जा सकती थी। परिणाम यह हुआ कि जिन माँगों को लेकर गांधीर्ज ने आठ साल तक सत्याग्रह किया और अंत में विजयी हुए वे अब केवल इतिहास का विषय बनकर रह गई हैं।

लेकिन महत्त्व इस बात का नहीं है कि गांधीजी ने दक्षिण अफ्रीका को क्या दिया और उसके लिए क्या किया, बल्कि इस बात का कि दक्षिण अफ्रीका ने उन्हें क्या दिया और उनके विकास में किस हद तक हाथ बँटाया। वह वहाँ सहायक वकील की हैसियत से एक व्यापारी पेढ़ी के मुकदमें में मदद के लिए सिर्फ 105 पौंड वार्षिक मेहनताने पर गए थे; फिर वहीं रह गए, सालाना पाँच हज़ार पौंड तक की वकालत जमा ली और उसे अपनी मर्जी से छोड़ भी दिया। पहले दिन बंबई की खफीफा अदालत में एक मामूली-से मुकदमे में उनसे जिरह करते भी नहीं बना था; दक्षिण अफ्रीका में उन्होंने एक नया राजनैतिक संगठन बना डाला और एक अनुभवी नेता की कुशलता से उसे चलाकर भी दिखाया। वहाँ के गोरे अफसरों और कूटनीतिज्ञों के के द्वेषभाव तथा भारतीय व्यापारियों एवं मज़दूरों की असहायावस्था ने उनके सोए हुए तेज़ को उद्दीप्त कर दिया—अंतस्थ शौर्य और साहस को जगा दिया, और जैसा कि उन्होंने दादाभाई नौरोजी को लिखा था, वहाँ इस दिशा में काम करनेवाले वह ही अकेले आदमी थे। मताधिकार और प्रतिनिधित्व से रहित नेटाल के भारतीयों का अस्तित्व ही खतरे में था; ऐसे समय में गांधीजी ने उनकी सहायता की । बदले में पुरस्कार तो क्या ही मिलना था, धंधा चौपट हो जाने और जान से मार दिए जाने की संभावनाएं ही अधिक थीं। लेकिन दक्षिण अफ्रीका में वकालत और सार्वजनिक कार्य आरंभ करना गांधीजी के लिए कुल मिलाकर शुभ ही रहा। भारत में उतने सारे महान् नेताओं और दिग्गज वकीलों की भीड़भाड़ में उन्हें कौन पूछता ! अपने देश में नेतृत्व का गुण उनमें शायद ही विकसित हो पाता। पच्चीस वर्ष की उम्र में जब उन्होंने दक्षिण अफ्रीका में

नेटाल इंडियन कांग्रेस की स्थापना की तो क्षेत्र बिलकुल खाली पड़ा था; श्रीगणेश उन्हींने किया और आगे भी सबकुछ उन्हीं को करना था। जिन विचारों का किसी भी सुस्थापित राजनैतिक संगठन में मखौल ही उड़ाया जाता, उन्हें आजमाने की वहाँ पूरी-पूरी स्वतंत्रता थी। सत्य और प्रतिज्ञाओं का राजनीति से भला क्या वास्ता ? बाद में यह प्रश्न भारत में भी बार-बार उठाया गया और यदि गांधीजी विचलित नहीं हुए तो इसका कारण यही था कि दक्षिण अफ्रीका में काफी समय पहले वह राजनीति से इनका संबंध जोड़ चुके थे और उस संबंध को पुख्ता भी कर चुके थे। ऐसी जगह काम शुरू करना, जहाँ पहले से किसी तरह का राजनैतिक काम न हो और अड़ंगा लगानेवाले धुरंधर नेता भी न रहें, अवश्य उस आदमी के लाभ की बात है, जो राजनीति और शास्त्र-ज्ञान में बिलकुल कोरा हो और आचरण से ही जिसके सिद्धांत निर्मित होते हों। नेटाल और ट्रांसवाल भारत के छोटे-से-छोटे प्रदेशों के बराबर भी नहीं हैं। लेकिन वहाँ के अनुभव आगे चलकर भारतीय स्वाधीनता-संग्राम की बड़ी-बड़ी लड़ाइयों में हमेशा गांधीजी को प्रेरणा देते और बराबर काम आते रहे। नेटाल और ट्रांसवाल में उन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों का जो पारस्परिक सहयोग देखा, उससे हिन्दू मुस्लिम एकता में उनकी आस्था हमेशा के लिए दृढ़ हो गई। परवाने के काले कानून के खिलाफ सत्याग्रह के उतार-चढ़ाव वह देख चुके थे, इसलिए भारतीय स्वाधीनता-संघर्ष के ज्वार-भाटों से कभी व्यग्र और विचलित नहीं हुए। हज़ारों ग़रीब और अनपढ़ मज़दूरों को कोड़ों की मार, गोलीबार और जेल की यातनाओं का सामना करके भी हिजरत में शरीक होते देखा था, इसलिए देश की लाखों-लाख जनता के लिए सत्याग्रह की उपयुक्तता में उन्हें कोई संदेह नहीं रह गया था।

जो जीवन के निर्माण का काल होता है, उसका अधिकांश गांधीजी ने दक्षिण अफ्रीका में ही बिताया था। उनकी नीतियों ने और उनके विचारों और व्यक्तित्व ने भी वही रूप-रेखा ग्रहण की। नैतिक और धार्मिक प्रश्नों में यों तो उनकी रुचि बचपन से थी, लेकिन इन विषयों का विधिवत् अध्ययन करने का अवसर उन्हें दक्षिण अफ्रीका में ही मिला। प्रिटोरिया के क्वेकर मित्र एड़ी-चोटी का पूरा ज़ोर लगाकर भी उन्हें ईसाई न बना सके, पर उन्होंने उनकी धर्म-संबंधी जिज्ञासा को ज़रूर तीव्र कर दिया था। उसके बाद तो ईसाई, हिन्दू और दूसरे धर्म-सिद्धांतों का भी उन्होंने गंभीर

अध्ययन और मनन किया। गीता से अपरिग्रह का पाठ पढ़कर उन्होंने ऐच्छिक ग़रीबी को अपनाया। 'निःस्वार्थ सेवा और 'अनासक्त कर्म' के आदर्शों ने दृष्टि की विशदता के साथ ही उनके सार्वजनिक जीवन में अतुलित शक्ति और दृढ़ आस्था का संचार भी किया।

सीमित अध्ययन से जितना लाभ गांधीजी ने उठाया उतना शायद ही किसी ने उठाया होगा। पुस्तक उनके लिए घड़ी-भर का मन-बहलाव नहीं, अनुभवों का संचित कोष हुआ करती थी। पुस्तक के विचारों से सहमत होते तो उन्हें आत्मसात् कर लेते और तदनुसार आचरण भी करते, असहमत होते तो उससे हमेशा के लिए अपना मन हटा लेते थे। रस्किन की पुस्तक 'अन्टू दिस लास्ट' से इतने प्रभावित हुए कि नेटाल की राजधानी छोड़कर जूलूलैंड के जंगल में जा बसे, ऐच्छिक ग़रीबी को गले लगाया और सही अर्थों में पसीने की कमाई खाने का प्रयत्न करने लगे। टाल्स्टाय की पुस्तकों का प्रभाव तो और भी ज़बर्दस्त हुआ। आँख मूंदकर अनुकरण तो उन्होंने अवश्य नहीं किया, लेकिन यह तो स्वीकार करना ही होगा कि उनके अपरिपक्व विचारों को प्रौढ़ता टाल्स्टाय की कृतियों के अध्ययन से ही मिली। आधुनिक राज्य की संगठित अथवा प्रच्छन्न हिंसा और नागरिक के सविनय अवज्ञा अथवा असहयोग के अधिकार-संबंधी अपने विचारों का समर्थन गांधीजी को टाल्स्टाय की किताबों में मिला। आधुनिक सभ्यता, और औद्योगीकरण से लेकर यौन-संबंधों और शिक्षा आदि अनेक विषयों की टाल्स्टाय ने जो मीमांसा की उससे गांधीजी पूरी तरह सहमत थे। दोनों में पत्र-व्यवहार भी हुआ। जीवन की देहली पर खड़े नवयुवक गांधी ने अपने पत्रों में अपार श्रद्धा और कृतज्ञता निवेदित की है; गार्हस्थिक कष्टों से त्रस्त, आसन्न मृत्यु की छाया में खड़े वयोवृद्ध टाल्स्टाय ने अपने पत्रों में अत्यधिक हर्ष और प्रसन्न विस्मय व्यक्त किया है। और यह तो प्रायः सभी जानते हैं कि टाल्स्टाय के बाद गांधीजी ने अपने जीवन में उनके कई विचारों पर प्रयोग और परीक्षण किए थे।

गांधीजी की पुस्तक 'हिन्द स्वराज्य'[1] पर, जिसे उन्होंने 1909 में लंदन से दक्षिण अफ्रीका लौटते हु हुए जहाज पर लिखा था, रस्किन और टाल्स्टाय के विचारों की स्पष्ट छाप है। इस पुस्तक को पश्चिम के सुझाए हुए 'बम-पिस्तौल' के रास्ते पर चलकर मातृभूमि को स्वतंत्र करने के इच्छुक

भारतीय क्रांतिकारियों की 'हिंसा की नीति' के जवाब में गांधीजी का सारगर्भित राजनैतिक घोषणापत्र ही समझना चाहिए।

गोखले ने 1912 में 'हिन्द स्वराज्य' को पढ़कर यह भविष्यवाणी की थी कि साल-भर भारत में रह लेने के बाद गांधीजी स्वयं ही अधकचरे विचारोंवाली अपनी इस पुस्तक को नष्ट कर देंगे। लेकिन गांधीजी ने ऐसा कुछ नहीं किया। 1921 में 'नवजीवन' में उन्होंने लिखा कि ‘हिन्द स्वराज्य' में सिर्फ एक ही शब्द निकाला गया है और वह भी एक महिला के आग्रह पर। आगे उसी लेख में उन्होंने पाठकों को यह चेतावनी दी है कि “यह समझने की ज़रा भी गलती न की जाए कि 'हिन्द स्वराज्य' में जिस तरह के स्वराज्य की कल्पना की गई है, मैं उसे लाने की कोशिश कर रहा हूँ। मैं जानता हूँ कि भारत अभी उस तरह के स्वराज्य के लिए तैयार नहीं है।...उस तरह के स्वराज्य के लिए मैं खुद को ज़रूर तैयार कर रहा हूँ। बाकी जो आंदोलन है वह तो भारत की जनता जिस तरह का पार्लामेंटरी स्वराज्य चाहती है उसी को पाने के लिए है।“

‘हिन्द स्वराज्य' का आदर्श तो अकेले गांधीजी और उनके कुछ बहुत ही निकट के सहयोगियों का अपना आदर्श था। रेल, अस्पताल, स्कूली शिक्षा, कल-कारखाने, चुनाव संस्थाएं और पाश्चात्य सभ्यता की यांत्रिकता, तड़क-भड़क, विलासप्रियता आदि को गांधीजी बुरा कहते थे। लेकिन ये चीज़ें हमारे देश में आ गई थीं और तरक्की करती जाती थीं। गांधीजी को अपने जीवन में इन्हें बर्दाश्त करना पड़ा, लेकिन एक आवश्यक बुराई के रूप में ही उन्होंने इनसब चीज़ों को बर्दाश्त किया। वह अकसर कहा करते कि “पाश्चात्य सभ्यता और उसकी भौतिक देन न हमारे देश के उपयुक्त है और न हमारा देश उसके लिए तैयार ही है।” गांधीजी के ये विचार उनके पक्के अनुयायियों और सहयोगियों को भी या तो समय से बहुत पिछड़े हुए या समय से बहुत आगे के मालूम पड़ते थे। 'हिन्द स्वराज्य' का आदर्श अव्यावहारिक हो सकता था, लेकिन एक इसी बात से गांधीजी के निकट उसकी सचाई कम नहीं हो जाती थी। राजनीति, धर्म अथवा यौन-संबंध—समस्या किसी भी तरह की क्यों न हो, वह बड़ी निडरता से अपने विचार व्यक्त करते, उन विचारों के अनुसार आचरण भी करते, और परिणामों के लिए भी उतनी ही निडरता से तैयार रहते थे। उन्होंने अपने विचारों को कभी किसी पर लादा नहीं—यहाँतक कि अपने पक्के अनुयायियों और

दृढ़-समर्थकों पर भी नहीं। इतना ज़रुर चाहते थे कि जिसको विश्वास हो जाए, बात जिसके गले उतर जाए वह मान ले और वैसा ही आचरण भी करे। अपने सिद्धांतों और विचारों के मामले में नितांत अकेले रह जाने की भी उन्होंने कोई चिन्ता न की।

1893 में जो आत्म-विश्वास-रहित अनुभवहीन युवक डरबन के बंदरगाह पर उतरा था, 1914 में दक्षिण अफ्रीका से लौटनेवाला व्यक्ति उससे बिलकुल ही भिन्न था। दक्षिण अफ्रीका में उसे एक क्षण का भी चैन नहीं मिला था। उस महाद्वीप पर कदम रखते ही उसे गोरों की रंग-भेद और वर्ण-विद्वेष की नीति के विरोध में जुट जाना पड़ा था। इस समाचार को लेकर जो लंबी लड़ाई लड़ी गई उसने गांधीजी को संपन्न अनुभवों की प्रौढ़ता प्रदान की और वह अपना एक मौलिक राजनैतिक दर्शन विकसित कर सके और सामाजिक एवं राजनैतिक आंदोलन की एक नई शैली का निर्माण भी, जिसे उन्होंने सत्याग्रह का नाम दिया और जिसने भारतीय राजनीति के आनेवाले तीस वर्षों में बड़े ही महत्त्व का काम किया।

---

1. ‘सस्ता साहित्य मंडल', नई दिल्ली से प्रकाशित ।

१५. उम्मीदवारी

“भारत मेरे लिए अनजाना देश है।” दक्षिण अफ्रीका से चलते समय गांधीजी ने विदाई-समारोह में ये शब्द कहे थे। 1888 में वह इंगलैंड गए और 1914 में उन्होंने दक्षिण अफ्रीका छोड़ा, इन छब्बीस वर्षों में वह चार साल से भी कम समय भारत में रहे थे।

लेकिन हिन्दुस्तान के लिए वह अपरिचित नहीं थे। 1912 में, दक्षिण अफ्रीका की यात्रा से लौट आकर गोखले ने अपने देशवासियों को बताया था कि गांधीजी “ज़रूर उस धात के बने हैं जिससे वीरों और शहीदों को गढ़ा जाता है, बल्कि यह कहना ज़्यादा सही होगा कि वह अपने आत्मबल से आस-पास के मामूली लोगों को भी वीर और शहीद बना देते हैं।”

9 जनवरी, 1915 को जब गांधीजी बंबई के अपोलो बंदर पर उतरे तो एक राष्ट्रीय वीर-जैसा ही उनका स्वागत हुआ। तीन दिन बाद जहाँगीर पेटिट के महलनुमा भवन में उनके सम्मान में एक शानदार स्वागत-समारोह किया गया। उसमें बंबई के 'बेताज के बादशाह' सर फीरोज़शाह मेहता ने, जो कभी गांधीजी के दक्षिण अफ्रीका के आंदोलन को संदेह की दृष्टि से देखते थे, “भारतीय स्वाधीनता संग्राम का वीर” कहकर उनका अभिनंदन किया।

उस समय की भारत-सरकार भी पीछे न रही। 1915 के नए साल के खिताबों में उन्हें सरकार की ओर से केसरेहिन्द स्वर्णपदक प्रदान किया गया। वह 'खतरनाक' राजनैतिक कार्यकर्ता नहीं समझे गए थे, क्योंकि उनका गोखले जैसे उदार नेता से संबंध था और भारत लौटने से पहले जब वह इंग्लैंड गए थे तो वहाँ उन्होंने यूरोप के मोर्चों पर सेवा करने के लिए लंदन के भारतीयों का एक एंबुलैंस दल भी संगठित किया था। दक्षिण अफ्रीका में उन्होंने एक ऐसा आंदोलन ज़रूर चलाया था, जिसमें लोगों ने कानून की अवहेलना की और जेल गए थे; लेकिन उस आंदोलन का जितना राजनैतिक उतना ही मानवीय भी था। सभी भारतीयों और वर्ण-द्वेष अथवा राजनैतिक कारणों से जिनका मन दूषित नहीं हो गया था, ऐसे सभी अंग्रेज़ों की सहानुभूति उस आंदोलन से थी; फिर भारत के वाइसराय लार्ड हार्डिंज ने सत्याग्रह-आंदोलन का समर्थन कर दिया तब तो वह और भी ‘विद्रोही’ न रहा।

गांधीजी के भारत पहुँचते ही गोखले ने उनसे यह वचन ले लिया कि वह पूरे एक साल तक भारत की राजनैतिक परिस्थिति पर अपनी राय ज़ाहिर नहीं करेंगे। यह एक साल गांधीजी के लिए 'उम्मीदवारी का समय' या 'परीक्षण का काल' था।

निर्वाह-योग्य वेतन पर देश और समाज की सेवा में पूरा समय और शक्ति लगानेवाले कुछ चुने हुए समाज-सेवियों और विद्वानों का एक मंडल गोखले ने भारत सेवक समिति (सर्वेंट्स आफ इंडिया सोसाइटी) के नाम से स्थापित किया था। वह गांधीजी को इस समिति का सदस्य बनाना चाहते थे। गांधीजी तुरंत राज़ी हो गए, लेकिन समिति की छोटी-सी अंतरंग मंडली को पश्चिमी सभ्यता और आधुनिक विज्ञान के प्रति उनका आलोचनात्मक रुख, सामाजिक और आर्थिक समस्याओं को धार्मिक पैमाने से नापने–जोखने की उनकी प्रवृत्ति और राजनैतिक संघर्ष के लिए सत्याग्रह का उपयोग आदि बातें पसंद न थीं; समिति के उद्देश्यों और गांधीजी के इन विचारों में उन्हें गहरा अंतर दिखाई देता था। समिति की सदस्यता के लिए आवेदन-पत्र देकर गांधीजी पोरबंदर और राजकोट होते हुए महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के विश्वविख्यात शांतिनिकेतन की यात्रा पर रवाना हो गए।

लेकिन वहाँ से उन्हें तुरंत लौटना पड़ा। पूना में गोखले की मृत्यु हो गई थी, जिसके समाचार गांधीजी को तार द्वारा शांतिनिकेतन में मिले। क्षण-भर के लिए तो वह स्तंभित ही रह गए। गोखले उनके लिए क्या थे इसका पता उनकी 'आत्मकथा' के इस वाक्य से चलता है—"भारतवर्ष के तूफानी समुद्र में कूदते हुए मुझे एक कर्णघार की आवश्यकता थी और गोखले-सरीखे कर्णधार के नीचे मैं सुरक्षित था ।"[1] उन्होंने साल-भर तक गोखले की मृत्यु का शोक पाला और जूते नहीं पहने। अपने गुरु और पथ-प्रदर्शक गोखले की आज्ञा और इच्छानुसार उन्होंने समिति में दाखिल होने की एक बार फिर कोशिश की। लेकिन समिति की अंतरंग मंडली में उन्हें सदस्य बनाने के सवाल पर अब भी वैसा ही गहरा मतभेद था। तब श्रीनिवास शास्त्री को, जो गोखले के बाद समिति के अध्यक्ष बनाए गए थे, एक पत्र लिखकर गांधीजी ने समिति की सदस्यता का अपना आवेदन-पत्र वापस ले लिया। वह अपना विरोध करनेवालों को धर्म-संकट में नहीं डालना चाहते थे।

1915 का पूरा साल गांधीजी व्यक्ति और समाज के सुधार और उन्नति के बारे में ही लिखते और बोलते रहे, लेकिन भारत के राजनैतिक प्रश्नों पर इस बीच उन्होंने, गोखले के आदेशानुसार, एक शब्द भी न कहा। इसका एक कारण यह भी था कि वह देश की राजनैतिक स्थिति का पूरी तरह अध्ययन कर लेना चाहते थे।

दक्षिण अफ्रीका के संघर्ष के कुछ साथी और संबंधी भी गांधीजी के साथ भारत आ गए थे। वह इंग्लैंड में थे तभी उनके भतीजे मगनलाल गांधी के नेतृत्व में 18 लड़कों का एक दल यहाँ पहुँच गया था। पहले वह गुरुकुल कांगड़ी में और फिर गुरुदेव के शांतिनिकेतन में रहे | गुरुदेव ने उन्हें बहुत स्नेह से रखा और “लड़कों को भेजकर दोनों की साधना में जीवित संपर्क स्थापित करने का” अवसर देने के लिए गांधीजी को धन्यवाद भी दिया। लेकिन गांधीजी तो इन सबको बसाने के लिए अपना ही आश्रम चाहते थे, जहाँ दक्षिण अफ्रीका के फिनिक्स की ही तरह वह सेवा, सादगी और त्याग का जीवन बिता सकें।

गोखले ने आश्रम के लिए आर्थिक सहायता का वचन दिया था, लेकिन फरवरी 1915 में उनकी मृत्यु हो गई | आश्रम के लिए निमंत्रण तो राजकोट, कलकत्ता, हरिद्वार और भारत के हर भाग से आए, परंतु गांधीजी ने अहमदाबाद को पसंद किया। वहाँ के उद्योगपतियों ने आश्रम की सहायता करने का वचन दिया था। अहमदाबाद गुज़रात का प्रमुख नगर था और वहाँ बैठकर गांधीजी अपने प्रदेश की ज़्यादा अच्छी तरह सेवा कर सकते थे। लेकिन सबसे बड़ा कारण तो यह था कि देश का प्रधान वस्त्रोद्योग केन्द्र होने से कताई-बुनाई के प्रयोगों की वहाँ बड़ी सुविधा थी, और गांधीजी कताई-बुनाई को ही देश के दरिद्र ग्रामीणों के उद्धार का अचूक सहायक उद्योग मानते थे।

अपनी पुस्तक 'सत्याग्रह-आश्रम का इतिहास'[2] में गांधीजी ने आश्रम को “धार्मिक आचरणवाला सामूहिक जीवन” कहा है। उन्होंने 'धार्मिक' शब्द का प्रयोग किसी संकुचित अर्थ में नहीं किया है। गांधीजी के आश्रम में संप्रदायगत धार्मिकता और उससे जुड़े हुए अनुष्ठानों आदि के लिए कोई गुंजाइश हो ही नहीं सकती थी। ‘धार्मिक आचरण' से उनका अभिप्राय उन एकादश-व्रतों से है, जिनका पालन प्रत्येक आश्रमवासी के लिए अनिवार्य था। उन एकादश व्रतों में सत्य,

अहिंसा और ब्रह्मचर्य मानव-आत्मा को विकसित करनेवाले सार्वदेशिक और सार्वलौकिक गुण हैं; सभी देशों के निवास चाहें तो इनपर आचरण करके अपनी आध्यात्मिक उन्नति कर सकते हैं। अस्पृश्यता-निवारण, शरीरश्रम और अभय की आवश्यकता उस समय के भारत की विशिष्ट राजनैतिक और सामाजिक स्थिति के कारण समझी गई थी। जाति-पांति से जर्जर समाज में अछूतों और अंत्यजों को छूना भी पाप समझा जाता था; हाथ से काम करने को हिकारत की निगाह से देखा जाता था; विदेशी सरकार का आतंक जनता पर हावी हो रहा था।

ये व्रत निरे यांत्रिक ढंग से नहीं, बुद्धिपूर्वक रचनात्मक ढंग से पालन करने के लिए बनाए गए थे, जिनकी सहायता से व्यक्ति अपना नैतिक और आध्यात्मिक विकास कर सके। सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय (चोरी न करना) आदि सदगुणों का महत्त्व वैसे तो पुरातन काल से चला आता है, लेकिन मनुष्य जाति जबतक इन्हें अपने दैनिक आचरण का अंग नहीं बना लेती, इनकी आवश्यकता और इनका मूल्य और महत्त्व बने रहेंगे।

सबसे पहले गांधीजी के सत्य को लें। वह इसे कितना अधिक महत्त्व देते थे, इसका पता उनकी इस बात से चलता है कि "सत्याग्रह आश्रम की स्थापना ही सत्य की खोज, सत्य के प्रयोग और सत्य पर आचरण के लिए की गई है।" लेकिन सत्य कोई बना-बनाया तैयार नुस्खा नहीं है। जो एक के लिए सत्य है, वह दूसरे के लिए नहीं भी हो सकता। गांधीजी इसे स्वीकार करते थे, इसीलिए उनका कहना था, "अपनी आत्मा की रोशनी में सत्य को पहचानकर उसपर अमल करना सही भी है और हरेक का कर्तव्य भी ।"

अहिंसा केवल यही नहीं है कि दूसरों को मारा-पीटा न जाए। यह तो अहिंसा की सिर्फ नकारात्मक धारणा हुई, जिसका स्वाभाविक परंतु मूर्खतापूर्ण निष्कर्ष यह होगा कि खाने, पीने और साँस लेने में भी असंख्य जीवों की हत्या होती है ! वास्तव में अहिंसा की मूल प्रेरणा है प्राणी मात्र के प्रति दया और प्रेम-भाव और इसीको सही तौर पर समझने और अपनाने की ज़रूरत है। एक बार गांधीजी ने साबरमती आश्रम में असह्य यंत्रणा से छटपटा रहे बछड़े के वध की आज्ञा दे दी तो भारत-भर के सनातनियों में हो-हल्ला मच गया था। लेकिन गांधीजी तो जीवधारियों को शारीरिक आघात न पहुँचाने को ही अहिंसा नहीं मानते थे। वह बहुत अच्छी तरह जानते थे कि

बंदूक, बम और तलवारें मानव-जीवन का उतना विनाश नहीं करतीं, जितना ईर्ष्या, द्वेष और वैर-भाव; ये बुराइयाँ तो मानवता को शिकंजे में कसकर और तड़पा-तड़पाकर मारती हैं। इसीलिए गांधीजी की अहिंसा का लक्ष्य मनुष्य-मात्र को कायिक और मानसिक दोनों तरह की हिंसा से मुक्त करना था।

ब्रह्मचर्य का व्रत उन लोगों के लिए था, जो अपने को आजन्म जनसेवा के लिए संकल्पित कर देते थे। यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या गांधीजी मानव की प्रकृत चेष्टा और स्वाभाविक इच्छा पर कठोर नियंत्रण नहीं लगा रहे थे? लेकिन यह नहीं भूलना चाहिए कि उन्होंने ब्रह्मचर्य को शरीर-श्रम, समाज-सेवा, प्रार्थना और शयन तथा भोजन के कठोर नियमों के साथ संयम और अनुशासन के अंतर्गत स्थान दिया था।

अस्तेय अर्थात् चोरी न करने का व्रत तो इस तरह के आश्रम में एक स्वयंसिद्ध बात लगती है, लेकिन देखा जाए तो इसका सामाजिक अभिप्राय बहुत ही गहरा था। गांधीजी ने गीता से अपरिग्रह का आदर्श ग्रहण किया था। उस आदर्श के अनुसार तो "आदमियों को चिड़ियों के समान होना चाहिए, जिनके न घर होता है, न कपड़े-लत्ते और पास में एक जून का खाना।" लेकिन जिस समाज में हम रहते हैं उसमें तो इस स्थिति को पाना संभव नहीं है, इसलिए गांधीजी का कहना था कि मनुष्य को अपनी आवश्यकताएं घटाकर कम-से-कम कर देनी चाहिए। वह खुद धन-संपत्ति तो पहले ही छोड़ चुके थे और अपनी भौतिक आवश्यकताओं को भी बहुत कम कर दिया था, यहाँतक कि अपने भोजन और रहने की कुटिया को अपने से अधिक दूसरे भूखों और आवासहीनों के लिए ज़रूरी मानते थे; और अपने लिए इन चीज़ों को दूसरे ज़रूरतमंदों की आवश्यकताओं का 'अपहरण' या चोरी समझते थे।

एक बार साबरमती आश्रम में चोरी हुई और चोर कस्तूरबा का संदूक चुरा ले गए। इस घटना से गांधीजी के सामाजिक विचारों को समझने में काफी सहायता मिलती है। उन्होंने थाने में चोरी की रिपोर्ट नहीं की; चोरी के लिए अपने को ही ज़िम्मेदार ठहराया और इस विचार से चिन्तित हो उठे कि चोरों का यह विश्वास सच हो गया कि आश्रम में चुराने लायक चीज़े थीं और वह (गांधीजी) पास-पड़ोस के लोगों को, जिनमें चोर भी शामिल थे, आश्रम की भावना के साथ

एकाकार नहीं कर सके थे। उन्हें इस बात का भी आश्चर्य हुआ कि कस्तूरबा के पास कोई संदूक भी था। जब बा ने बताया कि उसमें अपने पोते-पोतियों के कपड़े थे तो गांधीजी ने कहा, “अपने कपड़े-लत्तों की खबरदारी वे खुद रखें या उनके माँ-बाप, तुम्हें क्या मतलब !” उस दिन के बाद से गांधीजी के साथियों में कस्तूरबा का ही सामान सबसे कम होता था।

सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय, अस्वाद, अपरिग्रह, अभय, अस्पृश्ता-निवारण, शरीरश्रम, सर्व-धर्म-समभाव और स्वदेशी—ये थे गांधीजी के एकादश-व्रत। सभी व्रतों का अपना प्रयोजन और अपना महत्त्व था। इन नामोल्लेख से ही पता चल जाता है कि साबरमती-आश्रम के निवासियों का जीवन कितना सादा, संयमित और व्यस्त था। वहाँ कुछ-न-कुछ शारीरिक श्रम तो सभी को करना पड़ता था। कताई और बुनाई के विभाग थे, गौशाला थी और थोडी-बहुत खेती-बाड़ी भी थी। जूठे बरतनों की सफाई और कपड़ों की धुलाई हर आश्रमवासी खुद करता था। नौकर वहाँ कोई था ही नहीं । आश्रम का वातावरण किसी महंत के मठ या अखाड़े का नहीं, दयालु पर कसकर काम लेनेवाले कर्त्ता या कुलपति की छत्रछाया में एक बड़े परिवार का-सा था। गांधीजी उस परिवार के बापू थे और कस्तूरबा बा या माँ। खासा पंचमेल समुदाय वहाँ इकट्ठा हो गया था। छोटे-छोटे बच्चे थे तो अस्सी-अस्सी बरस के बूढ़े भी, यूरोपीय और अमरीकी विश्वविद्यालयों के स्नातक थे तो संस्कृत के प्रकांड पंडित भी, गांधीजी के कट्टर भक्त थे तो गांधीजी की हर बात में और हर कदम पर संदेह करनेवाले शंकालु भी। आश्रम एक ऐसी प्रयोगशाला थी, जहाँ के निवासियों पर गांधीजी अपनी नैतिक और आध्यात्मिक परिकल्पनाओं का परीक्षण किया करते थे। दुनिया के भीड़-भड़क्के से दूर जैसा लोगों के लिए परिवार होता है गांधीजी के आश्रम भी ठीक वैसा ही था। वह परिवार रक्त या संपत्ति के कमज़ोर बंधनों से नहीं, समान उद्देश्यों में निष्ठा के दृढ़ धागों से बंधा हुआ था। इस परिवार के कुलपति महान् जनवादी थे और उन्होंने सवेरे और शाम की प्रार्थनाओं के भजन, गीत और श्लोकों का चुनाव करने के लिए भी एक समिति नियुक्त कर दी थी। जब कोई प्रार्थना या शिकायत की जाती तो वह हँसकर कह देते थे, “भाई, मैं तो आश्रम का मेहमान हूँ।" अपने आश्रम और सारे देश पर भी वह केवल नैतिक अधिकार के बल

पर ही शासन करते थे। जब कोई गलती हो जाती या कोई आश्रमवासी गंभीर अपराध कर बैठता तो वह सारा दोष अपने सिर पर ले लेते थे और उपवास करके उसका प्रायश्चित करते थे।

आश्रम की प्रयोगशाला में गांधीजी दूसरों पर ही नहीं स्वयं अपने पर भी प्रयोग करते थे। उसका आश्रम अहिंसक युद्ध के सैनिक नर-नारियों के प्रशिक्षण की सैनिक अकादमी भी थी। 1915 के आरंभ में गांधीजी ने सी. एफ. एंड्रूज़ से तो यही कहा था कि पाँच साल तक सत्याग्रह करने का अवसर आता दिखाई नहीं देता; लेकिन अपने आश्रम में वह युवक और युवतियों की मन और भावनाओं को पूरी तरह वंश में रखने की शिक्षा बराबर दिए जा रहे थे। गांधीजी सत्याग्रहियों के लिए ऐसी शिक्षा बहुत ज़रूरी समझते थे, जिससे विपरीत संयोगों में भी वे अपना आपा न भूलें और घृणा तथा हिंसा को अपने पर हावी न होने दें। साबरमती-आश्रम में आगे चलकर 1920 और 30 के सत्याग्रह-आंदोलनों में वही काम किया जो फिनिक्स और टाल्स्टाय-फार्म ने दक्षिण अफ्रीका में किया था। इस आश्रम ने रचनात्मक कार्यक्रम के लिए भी कार्यकर्त्ता दिए, जो आंदोलनों के बीच की शिथिलता में राष्ट्र के मनोबल को बनाए रखते थे।

---

1. ‘आत्मकथा’: मंडल।
2. 'मंडल' से प्राप्य।

१६. भारतीय राष्ट्रीयता

जब गांधीजी ने भारतीय रंगमंच पर प्रवेश किया तो राष्ट्रीय आंदोलन इस देश के शिक्षित और व्यवसायी वर्गों में अपनी जड़ें जमा चुका था। वकालत की पढ़ाई के लिए गांधीजी के इंग्लैंड जाने के लगभग तीन साल पहले, दिसंबर 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का पहला जलसा बंबई में हो चुका था। इंग्लैंड में और वहाँ से भारत लौट आने के बाद भी गांधीजी की राजनीति में कोई दिलचस्पी नहीं थी। 1894 से पूरे बीस बरस तक वह दक्षिण अफ्रीका के प्रवासी भारतीयों की अस्तित्व-रक्षा की लड़ाई में लगे रहे थे। वहाँ से भारत लौट आने के कुछ ही वर्षों के अंदर, जिस राष्ट्रीय आंदोलन को वह केवल दूर से देखते रहे थे, उसके संचालन के सारे सूत्र उनके हाथ में आ गए और मृत्युपर्यंत उन्हीं के हाथों में रहे। 1915 में जब गांधीजी ने भारतीय राजनीति में प्रवेश किया उस समय के उसके स्वरूप और उसपर गांधीजी की छाप को ठीक से समझने के लिए राष्ट्रीय आंदोलन की तात्कालिक पृष्ठभूमि पर एक विहंगम दृष्टी डाल लेना आवश्यक है।

भारत पर हमेशा अंग्रेज़ों का अधिकार बना नहीं रहेगा, इस बात को टामस मनरो और माउंटस्टार्ट एल्फिंस्टन-जैसे अंग्रेज़ प्रशासक बहुत पहले ही समझ गए थे। पश्चिमोत्तर सीमांत की ओर से भारत पर हमले तो अंग्रेज़ों के आने से पहले भी कई हुए और यहाँ सात सौ वर्षों से अधिक समय तक विदेशी राज्य करते रहे। परंतु वे भारतीय समाज में खपकर उसी का एक अंग बन गए थे। टामस मनरो के कथनानुसार अत्यधिक हिंस्र और क्रूर विदेशी आक्रमणकारी भारत में आए, लेकिन 'सारी जनता को सिरे से अविश्वसनीय समझने' की सीमा तक भारतीयों से घृणा करनेवाला सिवाय अंग्रेज़ों के और कोई न आया। सर हेनरी लारेंस ने भी 'काले लोगों' को उन्हीं के अपने देश में फालतू जगह घेरनेवाले और महज गोरे शासकों की सुख-समृद्धि के साधन समझने की अंग्रेज़ प्रशासकों की दूषित मनोवृत्ति की बड़ी कटु आलोचना की थी।

1857 के सिपाही-विद्रोह ने तो गोरे-कालों के बीच की इस खाई को और भी गहरा कर दिया। उस विद्रोह में किसी पक्ष ने अपने विरोधियों के साथ दया का व्यवहार नहीं किया और दोनों ओर से ज़बर्दस्त जुल्म ढाए गए। विद्रोहियों का सामना कर गदर को कुचलनेवालों की वीरता और कष्टों का अंग्रेज़ों ने गुणगान किया तो शक्तिशाली विदेशी शासन के खिलाफ हथियार उठाने और

लड़ते-लड़ते शहीद हो जानेवालों की याद और गुणगान भारतीय करते रहे। गदर अपने पीछे भय, आतंक और गहरें संदेहों का वातावरण छोड़ गया। गवर्नर जनरल लार्ड कैनिंग ने महारानी विक्टोरिया को “बिना भेदभाव के घोर प्रतिहिंसात्मक दंड” के दौर-दौरे की बात लिखी; फिर भी गोरे उसे व्यंग्य से 'दयालु कैनिंग' कहते थे, क्योंकि वह उनकी अपेक्षानुसार भारतीयों को दंड नहीं दे रहा था ! यही सब देखकर तो 'टाइम्स' का संवाददाता इस दुःखद निष्कर्ष पर पहुँचा था कि “दोनों जातियों में पारस्परिक विश्वास शायद पनप ही सकेगा”। गोरे फौजीशाहों और नौकरशाहों को पारस्परिक विश्वास को पनपाने की कोई चिन्ता भी न थी, उन्हें चिंता इस बात की थी कि इस मुल्क पर उनकी पकड़ इतनी मजबूत हो जानी चाहिए कि यह फिर कभी सिर उठा ही न सके। इसके लिए सेना में गोरों का अनुपात काफी तादाद में बढ़ा दिया गया, भारतीय सैनिकों में फूट डालने के लिए उनमें पारस्परिक वैमनस्य को बढ़ावा दिया जाने लगा। काले सिपाही ऐसे प्रदेशों से छाँट-छाँटकर भर्ती किए गए, जिनकी स्वामिभक्ति निस्संदेह थी और जिन्होंने गदर में गोरों की दिल खोलकर मदद की थी। रियासतों से नरमी का बर्ताव किया गया और रियायतें दी गई, जिससे वे भविष्य में विद्रोह को रोकने में सहायता दें। एक नई खाई ने गोरी नौकरशाही और भारतीय जनता को बिलकुल अलग-अलग कर दिया था। एक ओर था प्रभुता का उन्मत्त अहंकार और हेकड़ी, दूसरी ओर थी ज़बर्दस्त दीनता और गुलामी। हालत यहाँतक गिर चुकी थी कि गदर के बाद साठ वर्षों में किसी भी अधिकारी अथवा गैर-अधिकारी अंग्रेज़ से राजा राममोहनराय की तरह बराबरी के दावे से मिलने और बात करनेवाला कोई भारतीय पैदा ही न हुआ।

लोगों को निहत्थे करके और गोरी सैनिक टुकड़ियों की ताकत बढ़ाकर भारत में शांति स्थापित कर दी गई थी। संगीन की नोकों पर शांति भले ही कायम कर दी जाए, पर उन नोकों पर उसे हमेशा के लिए बिठाकर तो रखा नहीं जा सकता। विदेशी शासन के खिलाफ जनता के रोष को और सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक शक्तियों के उभार को कैंटूनमेंटों और शांत-एकांत दुनिया और 'सिविल लाइनों' में बसनेवाले गोरे रोक नहीं सकते थे।

उन्नीसवीं शताब्दी में अंग्रेज़ों के आधिपत्य के बाद भारत में कुल 31 अकाल पड़े—सात शुरू के पचास वर्षों में और चौबीस बाद के पचास वर्षों में। 1870 से 80 के बीच पूर्वी बंगाल और

दक्षिण के किसानों की हालत इतनी खराब हो गई और उनमें इतना असंतोष फैला कि सरकार को मजबूर होकर किसानों की रक्षा और अकाल में उनकी सहायता के कानून बनाने पड़े। असंतोष की यह गूँज शहरों में भी सुनाई देने लगी थी। जान स्टुअर्ट मिल आदि स्वतंत्र विचारकों की कृतियों से प्रभावित भारत का नवशिक्षित वर्ग अपने देश में भी ब्रिटिश उदारतावाद के सिद्धांतों को लागू हुआ देखना चाहता था; अंग्रेज़ों की कथनी और करनी का भेद उससे छिपा न रहा।

आरंभ में तो रवीन्द्रनाथ ठाकुर भी अंग्रेज़ों के प्रशंशक थे। अपने बचपन में उन्होंने इंग्लैंड में जान ब्राइट के भाषण सुने थे और उनके विश्वव्यापी महान् उदारतावाद से बड़े प्रभावित हुए थे। युवक मदनमोहन मालवीय भी अंग्रेज़ों की पार्लामेंटरी प्रथा के प्रशंशक और भक्त थे। जब मैकाले ने भारत में पाश्चात्य शिक्षा-पद्धति का श्रीगणेश किया तो यहाँ के ब्रिटिश अधिकारियों का माथा ठनका था और उन्हें जो खतरा दिखाई दिया वह आगे चलकर ठीक ही साबित हुआ; वे जानते थे कि मैकाले की शिक्षा-पद्धति की उपज नए भारतीय तरुण मैकाले के उत्तराधिकारियों से भविष्य में यह माँग अवश्य करेंगे कि उन्हें अपनी महान् ब्रिटिश परंपराओं के ही अनुसार भारत में रहना और बरतना चाहिए । अंग्रेज़ अधिकारी न तो उदारतावादी थे और न आमूल परिवर्तनवादी, लेकिन भारत का नवोदित मध्यमवर्ग ब्रिटेन की सारी अच्छाइयों का संबंध वहाँ की उदारतावादी राजनीति और आमूल परिवर्तनवादी अर्थनीति के साथ जोड़ता था। पश्चिमी शिक्षा पाए हुए इन भारतीयों की पहली माँग अपने देश के प्रशासन में हिस्सा पाने की माँग थी। 1877-78 में भारत में जो पहला संगठित आंदोलन हुआ वह सरकारी नौकरियों में भारतीयों को लिए जाने के ही प्रश्न पर था। बंगाल के सुप्रसिद्ध वक्ता सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने देशव्यापी दौरा किया और सर्वत्र बड़ी-बड़ी सभाओं में यह माँग की कि इंडियन सिविल सर्विस की प्रवेश-परीक्षाएं भारत और इंग्लैंड दोनों जगह होनी चाहिए।

इन्हीं दिनों धार्मिक और सामाजिक सुधार के आंदोलन भी शुरू हुए, जिन्होंने देश के मध्यम वर्ग में नया जोश भर दिया और भारत के स्वर्ण युग की ओर देशवासियों का ध्यान आकृष्ट किया। स्वामी दयानंद, रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानंद ने हिन्दू धर्म का परिष्कार किया और भारतीयों को अपनी महान् आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक धरोहरों का दिग्दर्शन कराकर लंबी

दासता की सहज उपज राजनैतिक अवसाद और हीन भावना से मुक्त किया। मैक्स मूलर-जैसे विदेशी विद्वानों और आलकाट-जैसे थियोसोफिस्टों ने भारतीय दर्शन और धर्म के अक्षय कोष की ओर ध्यान आकृष्ट कर भारतीयों के आत्म-सम्मान में वृद्धि की।

गदर के बाद से दोनों जातियों के अलगाव और गोरे शासकों के दूर-दूर रहने की नीति से भारतीयों को पग-पग पर लांछित और अपमानित होना पड़ता था। उन दिनों किसी भी गोरे मालिक का अपने भारतीय नौकर या 'काले कुली' की जान लेकर अदालत से इस दलील के बल-पर कि मरनेवाले की तिल्ली बढ़ी हुई थी, बरी हो जाना मामूली बात थी। नौकरशाही के टुकड़ों पर पलनेवाले वर्ग की चाटुकारिता से नफरत भी की जाती थी और उन्हें बढ़ावा भी दिया जाता था। एक दिलचस्प उदाहरण 1868 का वह बाकायदा सरकारी प्रस्ताव है, जिसके द्वारा देशी सज्जनों को यूरोपियन काट का बूट या जूता पहनकर 'सभ्यवेश में' दरबारों और दूसरे उत्सवों में शरीक होने की इजाज़त बख्शी गई थी और देशी जूतियाँ पहननेवालों पर यह पाबंदी लगाई गई थी कि 'निर्धारित सीमा' में आते ही उन्हें अपनी जूतियाँ उतार देनी चाहिए। अदालती कार्रवाइयों में रंग और वर्ण के आधार पर किए जानेवाले पक्षपात को खत्म करने के लिए लार्ड रिपन के 'इलबर्ट बिल' का गोरे अफसरों और अंग्रेज़ व्यापारियों ने जैसा ज़बर्दस्त विरोध किया, उसने भारतीय मध्यम वर्ग की आँखें खोल दीं। आखिर वह बिल पास हुआ और अपने संगठित आंदोलन से सरकार को झुकाने की बात भारतवासियों की समझ में आ गई।

देश में आधुनिक उद्योगों की स्थापना से राष्ट्रीय उभार में एक नया महत्त्वपूर्ण तत्त्व और जुड़ा। पहली सूती कपड़ा मिल बंबई में 1854 में स्थापित हुई और पचास वर्ष के अंदर इनकी संख्या दो सौ हो गई। लेकिन भारतीय उद्योग इंग्लैंड के उद्योग से प्रतिस्पर्द्धा करे, यह ब्रिटिश सरकार फूटी आँखों भी नहीं देख सकती थी। 1882 में सरकार ने कपड़े पर से आयात-कर उठा लिया तो भारतीय उद्योगपति को कोई मुगालता नहीं हुआ। वह जानता था कि ऐसा करके सरकार भारतीय उपभोक्ता को कोई राहत नहीं पहुँचा रही, बल्कि लंकाशायर और मैनेचेस्टर के ब्रिटिश उत्पादकों की ही मदद कर रही थी।

इसे इतिहास की विडंबना ही कहा जाएगा कि भारत से अंग्रेज़ी राज्य को समाप्त करनेवाली इंडियन नेशनल कांग्रेस के प्रणेता और संस्थापक एक अंग्रेज़ थे। भारतीय स्वाधीनता-संग्राम के इतिहास में ए. ओ. ह्यूम के नाम से विख्यात और समादृत मि. एलन ओक्टेवियन ह्यूम भारत सरकार के कृषि-सचिव थे। तीस बरस से भी अधिक समय इंडियन सिविल सर्विस में नौकरी करने के बाद उन्होंने जब अवकाश ग्रहण किया तो इनका ऐसा विश्वास था कि इंग्लैंड ने भारत में शांति तो अवश्य स्थापित कर दी, लेकिन वह यहाँ की आर्थिक समस्याओं को हल नहीं कर सका, और सरकार का जनता से कोई संपर्क नहीं रह गया है। इसलिए प्रशासन में भारतीयों का कुछ प्रतिनिधित्व नितांत आवश्यक है। उन्होंने एक ऐसे संगठन की आवश्यकता महसूस की “जो हमारे ही कार्य से उत्पन्न महान् और विकसित होती हुई शक्ति की रोकथाम कर सके।” उस समय के वाइसराय लार्ड डफरिन से मिलकर जब उन्होंने सामाजिक और राजनैतिक प्रश्नों पर चर्चा करने के लिए एक अखिल भारतीय वार्षिक सम्मेलन की अपनी योजना बताई तो वाइसराय ने यह सलाह दी कि उस सम्मेलन में प्रशासन-संबंधी प्रश्नों पर भी चर्चा होनी चाहिए। ह्यूम साहब ने भारत के सभी प्रमुख नगरों का दौरा किया, इंग्लैंड भी गए और प्रथम अधिवेशन के निर्धारित समय पर लौट भी आए। 28 दिसंबर, 1885 को कलकत्ता के प्रमुख बैरिस्टर श्री डब्ल्यू सी. बनर्जी की अध्यक्षता में भारत के विभिन्न भागों से आए हुए बहत्तर प्रतिनिधियों का सम्मेलन हुआ। बनर्जी महाशय ने अपने भाषण में कहा कि “यूरोप के ढंग की शासन-प्रणाली की अभिलाषा करना राजद्रोह नहीं है।" 1885 में पहले प्रस्ताव पर जो पहला भाषण दिया गया था उसका आरंभ इस प्रकार होता है—“भारत में शक्तिशाली ब्रिटिश शासन लाने के लिए उस करुणा-निधान परम पिता परमेश्वर को कोटिशः धन्यवाद।” ऐसे राजभक्तिपूर्ण भाषणों की भरमार के ही कारण आज का समालोचक उस समय की कांग्रेस की कार्रवाइयों को ‘राजनीतिक भिखमंगापन’ कहता है।

कांग्रेस के शुरू के पच्चीस अधिवेशनों में से पाँच की अध्यक्षता अंग्रेज़ों ने की थी। 1892 में लंदन में भी एक अधिवेशन करने का सुझाव पेश हुआ था और 1911 में यदि उनकी पत्नी की मृत्यु न हो जाती तो रामज़े मैक्डानल्ड उस वर्ष के अधिवेशन की अध्यक्षता करते। उन दिनों

कांग्रेस के अधिवेशनों में प्रतिवर्ष जो प्रस्ताव पारित किए जाते थे, उन्हें आज के हिसाब में तो जबानी जमा-खर्च ही कहा जाएगा। लेकिन उस समय गोरी नौकरशाही उन निर्दोष लच्छेदार भाषणों को भी खतरनाक समझती थी। जल्दी ही सरकार का सरपरस्ती और बढ़ावा देने का रुख बदला और कुछ-कुछ नाराज़ी का हो गया। 1885 में कांग्रेस के जन्म पर आशीर्वाद देने वाले लार्ड डफरिन ने तीन ही वर्ष बाद एक "बहुत छोटा-सा अल्पमत" कहकर उसका निरादर किया। 1890 में सरकारी अधिकारियों को यह आदेश दिया गया कि वे कांग्रेस के अधिवेशनों में शरीक न हों। 1898 में लार्ड एल्गिन ने शिमला के युनाइटेड सर्विसेज क्लब में भाषण करते हुए कहा, "भारत तलवार से जीता गया है और तलवार से ही उसपर कब्ज़ा रहेगा।" लार्ड एल्गिन के उत्तराधिकारी लार्ड कर्जन ने सन् 1900 में भारत के उपनिवेश सचिव को यह आश्वासन दिया कि "कांग्रेस टूट रही है और मेरी परम अभिलाषा है कि अपने भारत में रहते हुए इसके शांतिपूर्ण निधन में सहायता करूँ।"

लार्ड कर्जन ने अवश्य सहायता की, लेकिन कांग्रेस के मर जाने में नहीं, बल्कि उसमें और राष्ट्रीय आंदोलन में नए प्राण पूरित करने में। बंग-भंग का प्रशासन की सुविधा की दृष्टि से जो महत्त्व रहा हो, बंगालियों ने उसे अपनी एकता पर आक्रमण ही समझा और एक प्रचंड विरोधी आंदोलन उठ खड़ा हुआ। उस आंदोलन का स्वरूप था, विदेशी (ब्रिटेन में बनी वस्तुओं) का बहिष्कार; और अंग्रेज़ों की हत्याओं की छुटपुट घटनाएँ भी घटीं।

1905 से कांग्रेस में गरम और नरम दल का संघर्ष आरंभ हुआ। 1906 में झूट को टालने के लिए वयोवृद्ध नेता दादाभाई नौरोजी को 81 वर्ष की उम्र में इंग्लैंड से बुलाकर कांग्रेस के कलकत्ता-अधिवेशन का अध्यक्ष बनाया गया। दूसरे वर्ष कांग्रेस का अधिवेशन सूरत में बड़ी ही तनावपूर्ण स्थिति में हुआ। नरम दल को अधिवेशन में अपने बहुमत का विश्वास था तो गरम दल को अपनी देशव्यापी लोकप्रियता का। पहले ही दिन हंगामा हो और उस गड़बड़ी में अधिवेशन को स्थगित कर देना पड़ा। अधिवेशन में आए हुए 1600 प्रतिनिधियों में नरम दल के समर्थकों की संख्या एक हज़ार के लगभग थी। इन समर्थकों को जमा करके नरम दलवालों ने पुलिस के संरक्षण में अपना एक कन्वेन्शन किया और विधान पास करके प्रचलित शासन-पद्धति में

'वैधानिक उपायों से' सुधारों के प्रति अपने विश्वास को फिर से दुहराया। इस पहली मुठभेड़ में गरम दलवालों की हार हुई।

सूरत-कांग्रेस के एक निपुण पर्यवेक्षक वैलेंटाइन शिरोल के मतानुसार "सूरत में जो कुछ हुआ वह देशव्यापी घटनाचक्र का एक मामूली-सा प्रतिबिंब ही था...स्वराज्य का नारा ब्रिटिश भारत के हर सूबे में गूँज रहा था।" अंग्रेज़ों और राजभक्त भारतीयों की छुटपुट हत्याओं में इस असंतोष की अभिव्यक्ति हो रही थी। भाषाओं के अखबार, खासतौर पर भी बाल गंगाधर तिलक का मराठी 'केसरी' और श्री अरविंद घोष का 'वंदेमातरम्' जनता के जोश को उभाड़ रहे थे। कुछ आतंकवादी समितियाँ भी यहाँ-वहाँ बन गई थीं। बाद में आतंकवादी क्रांतिकारी आंदोलन की शाखा-प्रशाखाओं की जाँच-पड़ताल के लिए सरकार ने जो समिति नियुक्त की थी उसकी राय में यह आंदोलन "काफी फैला हुआ, मजबूत और खूब सोच-विचारकर चलाया जा रहा था।" गांधीजी उन दिनों दक्षिण अफ्रीका में थे। अपने देश में आतंकवाद की इस बढ़ती हुई लहर से वह इतने चिन्तित हुए कि भारत की राजनैतिक हलचलों के तटस्थ पर्यवेक्षक होते हुए भी उन्होंने अपने पत्र 'इंडियन ओपिनियन' में भारतीय आतंकवादियों को समझाकर सही राह पर लाने की दृष्टि से एक लेखमाला शुरू कर दी।

इधर संवैधानिक सुधारों के मीठे वादों से फुसलाकर सरकार नरम-दल को अपने साथ बनाए रखने की कोशिश कर रही थी। लेकिन सुधार के वादे इतने मामूली होते और इतनी देर में किन्तु-परंतु के साथ पूरे किए जाते कि उनका सारा महत्त्व ही नष्ट हो जाता था। ऐसे वादों से जनता को संतोष तो क्या ही होता, सुधारों की उसकी भूख और तेज़ हो जाती थी। मिन्टो-मार्ले सुधारों के कारण धारासभाओं में निर्वाचितों की संख्या बढ़ ज़रूर गई थी, लेकिन बहुमत तो अब भी सरकारी पक्ष का ही था। लार्ड मार्ले के कथनानुसार सरकार "पार्लमेंटरी मताधिकार का नाम भी नहीं लेना चाहती थी। हम पार्लमेंट नहीं कौंसिल चाहते थे।" और सबसे बुरी बात तो यह हुई कि सांप्रदायिकता के आधार पर मुसलमानों का पृथक् निवार्चन का अधिकार मंजूर कर लिया गया। जनवाद के जन्म के साथ ही उसमें विष घोल दिया गया।

1900 के बाद के देशव्यापी राजनैतिक जागरण और उत्साह की हवा मुसलमानों को भी लग चुकी थी। मुस्लिम लीग की स्थापना 1906 में हुई। शुरू से ही लीग मुसलमानों की वफादारी और कौंसिलों तथा नौकरियों में मुसलमानों की तादाद बढ़ाने पर ज़ोर देती रही थी। लेकिन लीगी नेताओं की नई पीढ़ी बुजुर्गों के पहनाए वफादारी के चोगे को नोचने लगी थी। उनके असंतोष का कारण स्थानीय या घरेलू बिलकुल नहीं था, वह कारण था हिन्दुस्तान की सर ज़मीन के बाहर का। गदर ने मुसलमानों के हुकूमते इलाहिया के सारे सपनों को चूर-चूर कर दिया था, अब बाहर के मुस्लिम देश ही उनकी प्रेरणा का स्रोत रह गए थे। लेकिन खुद उन देशों की हालत अच्छी नहीं थी। मध्यपूर्व की घटनाओं ने भारतीय मुसलमानों को बुरी तरह व्यग्र कर दिया था। फारस (वर्तमान ईरान) को रूस और इंग्लैंड ने दो प्रभाव-क्षेत्रों में बाँट लिया था। बलकान-युद्ध से अंग्रेज़ों ने अपने को दूर ही रखा था, परंतु महान् तुर्क साम्राज्य उस लड़ाई में अपने कुछ यूरोपीय इलाके खो बैठा। बलकान की लड़ाई इतिहास के सबक की दृष्टि से तो पुराने-धुराने तुर्क साम्राज्य और दक्षिण-पूर्वी यूरोप में राष्ट्रीयता की उभरती हुई शक्तियों की ज़ोर-आजमाई थी, लेकिन भारतीय मुसलमानों के लिए वह सिर्फ ईसाई ताकतों के खिलाफ इस्लाम के जीवन-मरण की जंग थी। इकबाल और शिबली-जैसे शायरों ने और मौलाना अबुल कलाम आज़ाद और मोहम्मद अली-जैसे आलिम फाज़िल (विद्वान्) और सियासतदानों ने मुस्लिम मध्यमवर्ग को दुनिया में इस्लाम पर मंडरा रहे खतरों से आगाह किया। नतीजा यह हुआ कि मुसलमानों की वफादारी के कौल का रंग फीका पड़ने लगा। 1913 में मुस्लिम लीग ने अपने उद्देश्य की घोषणा की तो उसमें सिर्फ मुसलमानों के अधिकारों की रक्षा की ही बात नहीं थी। “हिन्दुस्तान के लिए मौजूँ हुकूमत खुदइख्तियारी को हासिल करने की बात भी कही गई थी। उस साल कांग्रेस के अध्यक्ष एक मुसलमान, नवाब सैयद मुहम्मद थे। उन्होंने लीग के इस विस्तारित उद्देश्य का स्वागत किया और यह अभिलाषा प्रकट की कि दोनों संस्थाओं को देश-हित के लिए पारस्परिक सहयोग करना चाहिए।

1914 में जब पहला विश्व-युद्ध शुरू हुआ तो भारतीय मुसलमान अच्छी-खासी दुविधा में पड़ गए। दुविधा का कारण एक मुस्लिम नेता के शब्दों में यह था कि “हमारे खलीफा (तुर्की की

सरकार) और हमारे बादशाह (इंग्लैंड की सरकार) में जंग छिड़ गई है।” कहने का तात्पर्य यह कि मुस्लिम मध्यमवर्ग की राजनैतिक चेतना को बाहर की घटनाओं ने उभारा और हिन्दू मध्यमवर्ग की राजनैतिक चेतना को देश की छाती पर बैठी हुई विदेशी सरकार के खुले-मुंदे कृत्यों ने। 1916 में जब कांग्रेस और लीग का समझौता हुआ तो असंतोष की ये दोनों धाराएं मिलकर एक हो गईं।

लेकिन 1915 में जब गांधीजी लौटकर भारत आए तो देश के राजनैतिक आंदोलन में मंदी थी। कांग्रेस पर फीरोज़शाह मेहता, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, गोखले-जैसे नरमदली नेताओं का आधिपत्य था। गरम दल के नेता तिलक अभी जेल से छूटे ही थे और चुप थे। पंजाब-केसरी लाला लाजपतराय देशनिकाले की सज़ा भुगत रहे थे। अरविंद घोष राजनीति से संन्यास लेकर पांडिचेरी जा बैठे थे। तुर्की के मामले में अंग्रेज़ी नीति के कटु आलोचक मौलाना अबुल कलाम आज़ाद और अली-बंधु कुछ ही महीनों में जेल में ठूँस दिए गए। इनसब कारणों से राजनैतिक आंदोलन काफी शिथिल हो गया था और युद्ध में उलझी हुई अंग्रेज़ सरकार के लिए राष्ट्रीय आंदोलन की यह शिथिलता वरदान ही थी।

१७. शानदार अलगाव

1915 के शुरू के दिनों में देश की राजनीति में जो सुस्ती घर कर गई थी, अगले वर्ष होमरूम आंदोलन के छिड़ते ही वह काफूर हो गई। इस आंदोलन की प्रवर्तक सुप्रसिद्ध थियोसोफिस्ट नेता, अपने समय की शिक्षा विशेषज्ञ श्रीमती एनी बेसेंट मूलतः आयरिश थीं। वह भारत में आकर बस गई थीं और यहाँ की सामाजिक एवं सांस्कृतिक प्रगति के लिए अपने जीवन के अंतिम दिनों तक काम करती रहीं । अपने राजनैतिक और सामाजिक कार्यों के द्वारा उन्होंने यहाँ काफी ख्याति अर्जित कर ली थी। वह बहुत अच्छी लेखिका, कुशल वक्ता और अप्रतिम संगठनकर्त्री भी थीं। प्रसिद्ध अंग्रेज़ी नाटककार जार्ज बर्नार्ड शा ने एक बार उनकी कार्यक्षमता का उल्लेख करते हुए कहा था, "स्त्री होकर भी वह तीन आदमियों के बराबर काम कर सकती हैं।" श्रीमती बेसेंट ने पहला विश्व-युद्ध छिड़ने के कुछ महीने पहले लंदन की एक सभा में कहा था, "भारत की राजभक्ति का मूल्य भारत की स्वतंत्रता है।" होमरूम के प्रस्ताविक आंदोलन के बारे में अपने अंग्रेज़ी दैनिक 'न्यू इंडिया' में लिखना और प्रचार करना तो उन्होंने 1918 की बसंत से ही आरंभ कर दिया था। उसी वर्ष दिसंबर में, जब कांग्रेस का अधिवेशन हुआ तो अपने भावी आंदोलन के पक्ष में लोकमत बनाने और समर्थन प्राप्त करने के लिए वह उसमें शरीक भी हुईं। कांग्रेस के नरम दल ने विरोध किया परंतु सितंबर 1916 में उन्होंने होमरूल लीग[1] की स्थापना कर ही दी।

श्रीमती एनी बेसेंट ने गांधीजी को भी होमरूल लीग के संस्थापकों में शरीक करना चाहा था, लेकिन वह लड़ाई के समय ब्रिटिश सरकार को परेशानी में डालनेवाले किसी भी राजनैतिक आंदोलन के पक्ष में नहीं थे। संवैधानिक सुधारों का समय, गांधीजी की राय में, युद्धकाल में नहीं, उसके बाद आता था। उनका विश्वास था कि युद्ध की समाप्ति पर भारत को स्वशासन का अधिकार अवश्य मिल जाएगा। इसके विपरीत श्रीमती बेसेंट की यह राय थी कि ब्रिटेन जबतक युद्ध की मुसीबत में फँसा हुआ है तभी तक उसे भारत को स्वतंत्र करने के लिए मजबूर किया जा सकता है । इसका गांधीजी ने यह जवाब दिया था, "आपको अंग्रेज़ों पर अविश्वास हो सकता है, श्रीमती बेसेंट, मुझे नहीं; और लड़ाई के जमाने में मैं विरोध करनेवाले किसी भी आंदोलन की मदद नहीं करूँगा।"

श्रीमती एनी बेसेंट की होमरूल लीग का उद्देश्य संवैधानिक उपायों से भारत के लिए ब्रिटिश साम्राज्य के अंतर्गत स्वराज्य प्राप्त करना था। आज यह उद्देश्य अवश्य उतना प्राणवान नहीं लगेगा, लेकिन 1916-17 में इसने भारतीय राजनीति में बिजली का-सा असर किया था। देश की पढ़ी-लिखी जनता इस आंदोलन में इसलिए तेज़ी से खिंच आई थी कि कुछ सीमा तक तो यह उनकी आकांक्षाओं को ध्वनित करता था, युद्ध-जनित व्यापक असंतोष को व्यक्त करने का एक माध्यम भी था। श्रीमती बेसेंट की संगठनात्मक क्षमताओं और प्रचार-संबंधी सूझ-बूझ ने जहाँ शिक्षित वर्ग की राजनैतिक चेतना का उद्बुद्ध किया वहीं देश के राजनैतिक जीवन में जोश और उत्साह भी भर दिया।

तत्कालीन भारत-सरकार होमरूल आंदोलन की प्रगति से कितनी चिन्तित हो उठी थीं, इसका पता उस समय के होम मेंबर (गृहमंत्री) सर रेजिनाल्ड क्रेडॉक के निम्न विचारों से भली-भाँति चल जाता है। ब्रिटिश सरकार के खिलाफ समाचार-पत्रों के विषैले प्रचार की बात करते हुए वह कहते हैं कि होमरूल की सिफारिश संवैधानिक सुधार के रूप में उतनी नहीं की जाती जितनी भारत में ब्रिटिश शासन की सारी बुराइयों और शिकायतों से छुटकारा दिलानेवाले एकमात्र उपाय के रूप में। आंदोलन के प्रबल जन-समर्थन से ब्रिटिश शासन बड़ी मुश्किल में पड़ गया। मिस्टर क्रेडॉक के शब्दों में "सारा शिक्षित समुदाय पूरी तरह श्रीमती बेसेंट और तिलक के पीछे है। नरमदलीय नेताओं में से जिनका प्रभाव था, वे अब रहे नहीं, एक-एक कर मर गए और जो अब हैं उनका शिक्षितवर्ग पर कोई असर नहीं है।"

श्रीमती बेसेंट का 'घमंडिन' और 'नेतृत्व की भूखी' तथा तिलक का 'ब्रिटिश-मात्र से घोर घृणा करनेवाले' के रूप में उपहास करनेवाले क्रेडॉक को इन दोनों नेताओं के द्वारा उत्पन्न की हुई प्रशासकीय और संवैधानिक समस्याओं की गंभीरता को भी स्वीकार करना पड़ा, "भारत में राजद्रोह किनारे को तोड़-फोड़ जानेवाली समुद्री लहरों की तरह है। 1907-08 में ज़ोर का रेला आया और तोड़-फोड़कर लौट गया। अब फिर रेला आ रहा है, जो लगता है कि काफी ऊपर तक चढ़कर तोड़-फोड़ करेगा। अक्षत भूमि को बचाने के लिए हमें जल्दी से बांध बना लेना चाहिए।"

यह होमरूल आंदोलन का ही प्रभाव था[2] कि अगस्त 1917 में बादशाह सलामत की सरकार को "साम्राज्य के अविच्छिन्न अंग के रूप में भारत को क्रमश: उत्तरदायी शासन प्रदान किए जाने की दृष्टि से प्रशासन के हर विभाग में भारतीयों के उत्तरोत्तर समावेश और देश में स्वशासन की संस्थाओं के क्रमिक विकास" को अपनी भारत-संबंधी नीति का लक्ष्य घोषित करना पड़ा।

गांधीजी अभी तक भारतीय राजनीति के दर्शक ही थे। उन्होंने होमरूल आंदोलन में कोई भाग नहीं लिया और 1916 की लखनऊ-कांग्रेस के अधिवेशन में लीग और कांग्रेस के बीच जो समझौता हुआ, उसमें भी उनका कोई हिस्सा नहीं था। इस समय राष्ट्रीय आंदोलन पर छाप गांधीजी की नहीं तिलक और श्रीमती बेसेंट की थी और सरकार के निकट भी उन्हीं दोनों का महत्त्व था। 1917 में एविडन मांटेगू ने अपनी डायरी में लिखा था कि "इस समय भारत में सबसे प्रभावशाली व्यक्ति तिलक ही हैं।" गांधीजी के बारे में मांटेगू की राय थी कि "वह निरे समाज-सुधारक हैं। जनता के कष्टों को मिटाने की उनकी अभिलाषा बड़ी तीव्र है और वह यह काम अपनी प्रसिद्धि के लिए नहीं, देशवासियों की दशा सुधारने की शुभ निष्ठा से करते हैं। कुलियों-जैसे कपड़े पहनते हैं। आगे आने से बचते हैं; और अपनी संपन्नता से विमुख हवा में जीनेवाले शुद्ध आदर्शवादी हैं।"

तत्कालीन राजनीति में गांधीजी की ख्याति न होने का एक कारण तो यह था कि उन्होंने युद्धकाल में किसी राजनैतिक आंदोलन में भाग न लेने का दृढ़ निश्चय कर लिया था; और दूसरे, उनके विचार और काम करने के तरीके कांग्रेस के उस समय के नरम और गरम दोनों ही दलों के विचारों और कार्यप्रणालियों से मेल नहीं खाते थे। गोखले ने 1909 के कांग्रेस अधिवेशन में "भारतीय मानवता का अत्यधिक विकसित रूप" कहकर उनकी प्रशंसा की थी; लेकिन 1915 में गोखले के ही घनिष्ठ सहयोगियों ने गांधीजी को भारत-सेवक-समिति का सदस्य बनाने से इनकार कर दिया था। दक्षिण अफ्रीका के आंदोलनों की वजह से कांग्रेस का उग्र पक्ष उनकी इज्ज़त ज़रूर करता था, परंतु एक तो वह गोखले के साथी समझे जाते थे और दूसरे युद्धकाल में

अंग्रेज़ों को संकट में न डालने की उनकी नीति लोगों को समझ में नहीं आती थी, इसलिए गरम दलवालों में वह लोकप्रिय नहीं हो पाए।

1915 से 18 तक के समय में गांधीजी अलग-अलग भले ही रहे हों, परंतु उनके व्यक्तित्व, राजनैतिक सिद्धांतों और नीतियों का निर्माण तो हो ही चुका था और स्थिरता भी प्राप्त कर चुका था। होमरूल आंदोलन में अपने शरीक न होने का कारण बतलाते हुए उन्होंने एक मित्र से कहा था, "इस उम्र में जब ज्यादातर मामलों में मेरी राय कायम हो चुकी है, मैं किसी संस्था या संगठन की नीति पर असर डालने के ही लिए उसमें शरीक हो सकता हूँ, उसके असर के नीचे चलने के लिए नहीं। लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि मैं नई रोशनी से बचना चाहता हूँ। मेरे कहने का मतलब तो सिर्फ इतना ही है कि नई रोशनी इतनी तेज़ ज़रूर होनी चाहिए कि मुझे मोहित कर सके।"[3]

और सत्याग्रह के जाज्वल्यमान प्रकाश से अधिक तेज़ रोशनी और हो भी क्या सकती थी ! पिछले दस वर्षों से निज़ी और सार्वजनिक जीवन में वह इसी के प्रकाश में अपना रास्ता खोजते और पाते रहे थे। अन्याय को मिटाने, बुराइयों को दूर करने और झगड़ों को सुलझाने का यह एक अचूक उपाय स्वयं उन्होंने खोज निकाला था। दक्षिण अफ्रीका में इसे सफलता से आजमा चुकने के बाद यहाँ देशवासियों द्वारा मदद माँगी जाने पर वह इससे इनकार कैसे कर सकते थे ? और यही कारण था कि युद्धकाल में राजनैतिक आंदोलन से अपने को अलग रखने का निर्णय किए रहने के बाद भी जनता की जिन तकलीफों को मिटाना एकदम ज़रूरी हो गया था, उनके लिए वह फौरन तैयार हो गए।[4]

सहायता की पहली पुकार बिहार के चंपारन जिले से आई, जिसकी गांधीजी ने कभी कल्पना भी नहीं की थी। वहाँ के किसानों में नील की खेती को लेकर असंतोष बहुत तीव्र हो उठा था, जो निलहे गोरों के खिलाफ भारतीयों के जातीय रोष और घृणा का रूप धारण करता जा रहा था। 1916 के दिसंबर महीने में, कलकत्ता के कांग्रेस-अधिवेशन में, जब चंपारन की समस्या पर चर्चा हुई तो गांधीजी भी वहाँ उपस्थित थे। चंपारन की बहस में हिस्सा लेने के लिए कहे जाने पर, उन्होंने इसलिए मना कर दिया कि उन्हें समस्या की कोई जानकारी नहीं थी; चंपारन का उन्होंने

नाम-भर सुना था और सिर्फ इतना जानते थे कि वह बिहार में कहीं है। अधिवेशन के बाद, चंपारन के एक किसान, राजकुमार शुक्ल ने उन्हें वहाँ चलकर सारी स्थिति स्वयं देखने का आग्रह किया। शुक्लजी बराबर गांधीजी के पीछे लगे रहे और उनके साथ-साथ सारे देश का दौरा किया, और अंत में उन्हें चंपारन ले जाकर ही माने। वहाँ की समस्या वास्तव में बड़ी उग्र और जटिल थी, और लगभग पिछली पूरी शताब्दी से निलहे गोरों और नील की खेती करनेवाले किसानों में झगड़ा और मनमुटाव चला आता था।

समस्या की कुछ जानकारी तो राजकुमार शुक्ल ने रास्ते में करा ही दी थी, अब गांधीजी खुद मौके पर जाकर जाँच-पड़ताल करना चाहते थे। पटना से वह मुजफ्फरपुर और वहाँ से चंपारन जिले के सदर मुकाम मोतीहारी पहुँचे । अधिकारियों ने उनकी उपस्थिति को जिले की शांति भंग होने का खतरा करार देकर 'पहली गाड़ी से' जिला छोड़ जाने की नोटिस दे दी। गांधीजी ने इस आज्ञा का पालन करने से इनकार कर दिया। 28 अप्रैल, 1917 को मुकदमा चलानेवाले मैजिस्ट्रेट के सामने उन्होंने यह बयान दिया—"कानून का आदर करनेवाले प्रजाजन की हैसियत से तो मुझे जो हुक्म दिया गया है, उसका पालन करने की मेरी स्वाभाविक इच्छा होती है और होनी भी चाहिए। पर मुझे लगा कि वैसा करके तो मैं जिन लोगों के लिए यहाँ आया हूँ उनके प्रति अपने कर्तव्य का पालन नहीं कर पाउँगा...इस बात को मैं अच्छी तरह समझता हूँ कि हिन्दुस्तान के लोक-जीवन में मुझ-जैसी प्रतिष्ठा रखनेवाले आदमी को कोई कदम उठाकर उदाहरण उपस्थित करने में बड़ी सावधानी रखनी चाहिए...आज्ञा का उल्लंघन करने में मेरा उद्देश्य कानून से स्थापित सरकार का अपमान करना नहीं, बल्कि मेरा हृदय जिस अधिक बड़े कानून को स्वीकार करता है, अर्थात अंतरात्मा की आवाज़, उसका अनुसरण करना है।"

तिरहुत संभाग के आयुक्त ने, क्योंकि चंपारन उसके संभाग का जिला था, अपने वरिष्ठ अधिकारियों से परामर्श किए बिना गांधीजी की गिरफ्तारी का हुक्म दे दिया था, इसलिए भारत-सरकार ने उस हुक्म को रद्द कर दिया और मुकदमा उठा लिया गया। अब गांधीजी किसानों की शिकायतों की जाँच-पड़ताल के काम में लग गए। उन्होंने किसानों के बयान लेना शुरू किया। वह हर किसान से कड़ी जिरह करते, हर बयान की बहुत बारीकी से छानबीन करते; कोई बात को

ज़रा-सा भी बढ़ा-चढ़ाकर कहता तो उसे फौरन वहीं रोक देते, और जो ज़िरह में उखड़ जाता उसका बयान तो कलमबंद ही नहीं किया जाता था। उस समय के एक अंग्रेज़ आई. सी. एस. अफसर डब्लू ए. लुइस ने, जो बेतिया का सब-डिविज़नल आफीसर था, चंपारन के जिला मैजिस्ट्रेट डब्लू एच. हिकाक को लिखे अपने 29 अप्रैल, 1917 के पत्र में गांधीजी की कार्य-पद्धति और उनके व्यक्तित्व का बड़ा ही सुंदर और यथार्थ चित्रण किया है—

"मि. गांधी कल, रविवार की शाम, यहाँ पहुँचे और आज, सोमवार के सबेरे मुझसे मिलने के लिए आए। उनका कहना है कि रैयतों पर हकीकत में ज्यादतियाँ हो रही हैं; और मि. गांधी की जाँच-पड़ताल का मकसद जैसाकि उन्होंने मुझे बताया, रैयतों को उनकी तकलीफों और उनपर हो रही ज्यादतियों से निजात दिलाना है। मि. गांधी ने मुझे यह भी यकीन दिलाया कि उनकी जाँच-पड़ताल बिलकुल गैर-जानिबदार होगी।

"बुधवार को दुपहर के बाद मैं खुद उस गाँव में गया जहाँ वे लोगों के बयान ले रहे थे और थोड़ी देर तक उनके साथ भी रहा। मि. गांधी हर बयान देनेवाले से कड़ी ज़िरह करते हैं, क्योंकि वह बयानों में ऐसी कोई बात दर्ज़ नहीं करना चाहते, जो गलत हो और काटी जा सके। बाबू ब्रजकिशोर भी उनके साथ हैं और ठीक उन्हींके तरीके पर काम कर रहे हैं...वह बयानों को कलमबंद भी करते जाते हैं।

"एक तरह से तो मि. गांधी ने इस इलाके में यहाँ के हाकिमों से भी ऊँची जगह अपने लिए बना ली है। उनका कहना है कि यहाँ की हुकूमत पर निलहे साहबों का काफी असर है।

"निलहे साहब मि. गांधी को कुदरतन अपना दुश्मन समझते हैं, क्योंकि नील की ज्यादातर कोठियाँ, जिनमें वे कोठियाँ भी शामिल हैं, जिनके इंतजाम और हिसाब-किताब को हम काफी अच्छा समझते रहे हैं, रुपए-टके और लेन-देन के मामले में उस कड़ी पड़ताल में, जो मौजूदा हालात में की जा रही है, कभी खरी उतर ही न सकेंगी, और मि. गांधी के पास उनके खिलाफ ऐसे वाकयात होंगे, जिनकी सचाई से इनकार करना एकदम गैर-मुमकिन होगा।

"मि. गांधी की मौजूदगी का रैयतों पर जो असर हुआ है, उसके बारे में भी मुझे खासतौर पर कुछ कहना है...हम मि. गांधी को जो अपने जी में आए समझने के लिए आज़ाद हैं—हवा में उड़नेवाला, ज़िद्दी, इंकलाबी या और भी कुछ। लेकिन रैयत तो उन्हें अपना मसीहा ही मानती है और आम किसानों का ऐसा खयाल है कि उनमें कुछ गैबी इल्म (दैवी शक्तियाँ) भी हैं। वह गाँव-गाँव जाकर लोगों की शिकायतें सुनते हैं और उन ज़ाहिल लोगों के दिमागों में रामराज्य और सतजुग का फितूर भर देते हैं। मैंने जब उन्हें इसके खतरनाक नतीजों से आगाह किया तो उन्होंने यकीन दिलाया कि वह हर लफ्ज़ को सोच-समझकर और तौलकर मुँह से निकालते हैं, इसलिए उनकी किसी भी बात का नतीजा लोगों को बरगलाने और गदर के लिए उभाड़नेवाला नहीं हो सकता। मैं मि. गांधी की बात पर यकीन करने को तैयार हूँ, क्योंकि उनकी ईमानदारी में मुझे ज़रा भी शक नहीं; मगर अपने साथियों के मुँह तो वह बंद करने से रहे...

"मि. गांधी जिले के किसानों की तकलीफों को मिटाने के लिए कुछ भी उठा न रखेंगे और ज़रुरत पड़ी तो इस सवाल पर अपने को कुर्बान भी कर देंगे; और जबतक हालात में काफी रद्दो-बदल नहीं कर दिए जाते वह यहाँ से जाएंगे भी नहीं, बराबर डटे रहेंगे। लेकिन मुझे इस बात का यकीन है कि वे इन मुश्किल सवालातों के मामले में समझदारी से ही पेश आएंगे।"

चंपारन में गांधीजी की उपस्थिति से भारत-सरकार भी चिन्तित हो उठी थी; उसे यह डर सताने लगा कि कहीं वह बिहार में सत्याग्रह न छेड़ दें। इसलिए होम मेंबर क्रेडॉक की सलाह के अनुसार वाइसराय ने बिहार के गवर्नर, सर एडवर्ड गेट को एक जाँच-आयोग नियुक्त करने और उसके सदस्यों में गांधीजी को भी रखने का सुझाव दिया। गवर्नर ने वाइसराय के इस सुझाव का पहले तो विरोध किया। उन्होंने लार्ड चेम्सफोर्ड को लिखा कि "यह तो गांधीजी को सिर चढ़ाना होगा, और इसका भी क्या भरोसा कि आयोग का असर अच्छा ही हो।" लेकिन अंत में जाँच-समिति नियुक्त की गई और गांधीजी को उसका सदस्य भी बनाया गया। मगर जाँच-समिति की नियुक्ति, जैसा कि गांधीजी ने अपनी 'आत्मकथा' में लिखा है, मि. गेट की 'भलमनसी' के कारण नहीं, भारत सरकार के कहने से ही हुई थी।

गांधीजी के पास कम-से-कम आठ हज़ार किसानों के बयान थे। किसानों की खेती-संबंधी कोई समस्या ऐसी नहीं थी, जिसका ज्ञान गांधीजी को न न रहा हो। अपनी जानकारी, दृढ़ता और धीरज से उन्होंने जाँच-समिति में किसानों के मामले की पैरवी की। समिति ने किसानों की सब शिकायतों को सही माना और एकराय से निलहों से अनुचित रीति से लिए हुए रुपयों का अमुक भाग वापस करने और सौ वर्ष पुरानी दमनकारी ‘तिनकठियां'[5] पद्धति को रद्द करने की सिफारिश की।

गांधीजी अभी बिहार में ही थे कि अहमदाबाद की कपड़ा-मीलों में झगड़े के आसार दिखाई देने लगे। 1917 के अगस्त महीने से मिल मज़दूरों को 'प्लेग बोनस' दिया जा रहा था। यह इसलिए शुरू किया गया था कि प्लेग के जमाने में मज़दूर शहर छोड़कर भाग न जाएं। कुछ मिलें तो तनख्वाह का अस्सी प्रतिशत तक 'प्लेग बोनस' दे रही थीं। जब प्लेग का खतरा मिट गया तो मिल-मालिकों ने इस 'बोनस' को बंद कर देना चाहा। मज़दूरों ने इसका विरोध किया। उनका कहना था कि लड़ाई के जमाने में जीवन-निर्वाह का खर्च पहले से दूना हो गया था और बोनस से महँगाई में जो ज़रा-सी राहत मिली हुई थी, उसके बंद कर दिए जाने पर तो उनकी मुसीबतें और भी बढ़ जाएंगी।

मिल-मालिकों और मज़दूरों के आपसी झगड़े की आशंका से अहमदाबाद का अंग्रेज़ कलक्टर चिन्तित हो उठा। मिल-मालिकों पर गांधीजी के प्रभाव की बात वह जानता था। उसने उनसे अनुरोध किया कि आप मिल-मालिकों को किसी तरह समझौते के लिए राज़ी कीजिए। प्रमुख मिल-मालिक अंबालाल साराभाई गांधी-परिवार के मित्र थे। शुरू-शुरू में एक हरिजन-परिवार को आश्रमवासी बना लेने पर जब गांधीजी का साबरमती-आश्रम घोर आर्थिक संकट में पड़ गया था तो अंबालाल भाई के दान ने ही उसकी रक्षा की थी। गांधीजी ने तुरंत दोनों पक्षों के प्रतिनिधियों से चर्चाएं आरंभ कर दीं। लंबी चर्चाओं के बाद पंच-फैसले के लिए दोनों पक्ष राज़ी हो गए। पंच-मंडल में मिल-मालिकों के तीन और मज़दूरों के भी तीन प्रतिनिधि रखने और कलक्टर को अध्यक्ष बनाने की बात तय पाई। लेकिन अभी पंचमंडल ने अपना काम शुरू भी नहीं किया था कि एक हड़ताल की ओट लेकर मालिकों ने मज़दूरों पर समझौता तोड़ने का आरोप

लगा दिया, खुद पंच-मंडल से अलग हो गए और यह घोषणा कर दी कि जो मज़दूर बीस सैकड़ा बोनस मंजूर नहीं करेगा, उसे काम पर से निकाल दिया जाएगा।

जब मिल-मालिकों ने मज़दूरों के खिलाफ 'संयुक्त कार्रवाई' करने की धमकी दी तो गांधीजी ने कहा था कि वे "चींटियों के संघ के मुकाबले हाथियों का संघ" बना रहे हैं। वह सत्याग्रह के एक प्रयोग के रूप में मज़दूरों की लड़ाई लड़ना चाहते थे और यह निश्चय करना भी कि अहमदाबाद के मिल-मज़दूरों की वाज़िब माँग को शांतिपूर्ण अहिंसात्मक हड़ताल से कहाँ-तक हासिल किया जा सकता है। उनकी राय में बोनस को पैंतीस प्रतिशत से ज्यादा घटाने की गुंजाइश नहीं थी, इसलिए उन्होंने पैंतीस प्रतिशत बोनस की ही माँग रखी। सत्याग्रह के सिद्धांतों पर की जानेवाली हड़ताल उसके परंपरागत परिचित रूप से भिन्न तो होनी ही थी। मज़दूरों को जोश दिलाने के लिए उनके गुस्से और घृणा को भड़काने की बिलकुल ही मुमानियत थी और न मालिफों एवं न गद्दारों के ही साथ मार-पीट जैसी हिंसात्मक कार्रवाइयाँ की जा सकती थीं। कटुता, झूठी शिकायतों, अतिरंजित दावों और गाली-गलौज की होड़ा-होड़ी की भी इसमें कोई गुंजाइश नहीं थी। हड़ताल के समय की बेकारी का उपयोग रचनात्मक कामों में करने का फैसला किया गया था। मज़दूर दूसरे उद्योग सीखेंगे, मकानों की मरम्मत करेंगे और श्रमिक बस्तियों की सड़कों और रास्तों की सफाई करेंगे।

मिल-मालिकों और मज़दूरों की इस लड़ाई का एक और मनोरंजक पहलू यह भी था कि प्रमुख उद्योगपति अंबालाल साराभाई की बहिन अनसूया बहन गांधीजी के पक्ष में और मज़दूरों की नेता थीं। हड़ताल शुरू हुई और उसके साथ-साथ गांधीजी की चिन्ता भी बढ़ती गई। कुछ ही दिनों बाद मज़दूरों का जोश ठंडा पड़ने लगा। जब यह साफ दिखाई देने लगा कि बिना काम और बिना पैसों के ज्यादा दिन टिक पाना मज़दूरों के लिए असंभव है तो गांधीजी ने उपवास शुरू कर दिया। उन्होंने तो शुरू में ही कह दिया कि अगर मज़दूर भूखों मरने लगे तो सबसे पहले वह खुद ही भूखे रहेंगे। गांधीजी के उपवास का असली उद्देश्य तो मज़दूरों की हिम्मत को टिकाए रखना था, लेकिन मिल-मालिकों पर भी उसका असर पड़े बिना न रहा, क्योंकि उनमें से बहुत-से गांधीजी की इज्ज़त और उनसे स्नेह भी करते थे। साथ ही, उन लोगों पर इस उपवास का अप्रत्यक्ष परंतु

निश्चित दबाव भी पड़ा।[6] सत्याग्रह में इस प्रकार के दबाव को अनुचित मानकर गांधीजी तीन दिन के उपवास के बाद समझौते के लिए राज़ी हो गए। हड़ताल और उपवास इसलिए करने पड़े थे कि मालिकों ने पंचफैसले के सिद्धांत को ठुकरा दिया था। अब उन्होंने फिर पंच से फैसला करवाने की बात स्वीकार कर ली। पंच ने फैसला मज़दूरों के पक्ष में दिया और इस तरह अंत में पैंतीस प्रतिशत बोनस की लड़ाई में उनकी जीत हुई।

अहमदाबाद के मज़दूरों की लड़ाई के तुरंत बाद ही गांधीजी को खेड़ा जिले के किसानों के संघर्ष में जुट जाना पड़ा। सूखे के कारण फसल नष्ट हो गई थी और सारे जिले में लगभग अकाल की-सी स्थिति हो गई थी। लगान की माफी के सवाल पर वहाँ के किसानों और स्थानीय अधिकारियों में ठनी हुई थी। ऐसा कानून था कि अगर फसल चार आने या इससे कम हो तो उस साल का लगान माफ हो जाना चाहिए। सारा झगड़ा कूत को लेकर था। सरकारी अफसरों का कहना था कि फसल चार आना से ज्यादा हुई है और किसानों का कहना था कि चार आने से कहीं कम है। भारत-सेवक-समिति के तीन सदस्यों ने मौके का मुआयना किया; उनकी कूत और बंबई धारा-सभा के उस समय के सदस्य विट्ठलभाई पटेल और खुद गांधीजी की कूत के अनुसार फसल में बारह आने से भी ज्यादा का नुकसान हुआ था। लेकिन सरकार ने इसे 'बाहरी लोगों की कूत’ करार देकर मानने से इनकार कर दिया।

गुज़रात सभा ने इस आंदोलन में प्रमुख रूप से भाग लिया । गांधीजी इस सभा के अध्यक्ष थे। जब दरख्वास्तों, मुलाकातों और प्रेस-वक्तव्यों का नतीजा नहीं निकला तो आंदोलन का सूत्र गांधीजी ने संभाला और सत्याग्रह की घोषणा कर दी। भारत में गांधीजी के द्वारा चलाया जानेवाला यह पहला किसान-सत्याग्रह था। इसमें बुनियादी बात थी, किसानों को सरकारी अमले के डर से और ज़मीन-जायदाद की कुर्की-नीलामी के डर से मुक्त करना | गांधीजी और वल्लभभाई पटेल ने गाँव-गाँव जाकर किसानों को सत्याग्रह के मौलिक सिद्धांतों और उसके व्यवहार-पक्ष की शिक्षा दी और उन्हें अहिंसक लड़ाई के लिए तैयार किया। लगान-वसूली में सरकार की ओर से सख्तियाँ बढ़ती गईं। लगान देने से इनकार करनेवालों के जानवर बेच दिए गए, घरों का सामान ज़ब्त करके नीलाम कर दिया गया; कइयों की तो खड़ी फसलें तक कुर्क कर दी गईं। लेकिन किसानों ने धीरज

न छोड़ा और हिम्मत न हारी। अकाल, प्लेग और महँगाई की तिहरी मार के बाद किसानों ने सरकारी दमन को भी सहा, पर अंत में वे थकने लगे। उन्हें इस तरह बरबाद हो जाने देना गांधीजी ने उचित नहीं समझा। वे सम्मानजनक निबटारे का कोई रास्ता निकालने की बात सोच ही रहे थे कि सरकार ने कहला भेजा कि अच्छी हैसियतवाले जो किसान दे सकते हैं उन्हीं से लगान वसूल किया जाए और गरीबों पर वसूली के लिए कोई सख्ती न की जाए ! गांधीज़ी ने इसे पर्याप्त कारण मानकर सत्याग्रह-आंदोलन वापस ले लिया।

सत्याग्रह के इन आरंभिक प्रयोगों को ठीक से समझने के लिए इस बात को ध्यान में रखना होगा कि उन दिनों पहला महायुद्ध चल रहा था और गांधीजी सरकार के ध्यान को बँटाना या उसे मुसीबत में डालना बिलकुल ही नहीं चाहते थे। सरकार से सीधी भिड़ंत को वे यथासंभव टालने के पक्ष में थे। चंपारन और खेड़ा में जब मुठभेड़ हो ही गई तो उन्होंने वहाँ की लड़ाइयों को उन्हीं क्षेत्रों तक सीमित रखा और न्याय की थोड़ी-सी झलक मिलते ही समझौता कर लिया और उन्हें अखिल भारतीय संकट का रूप न लेने दिया।

पहले महायुद्ध के प्रति उनका दृष्टिकोण देश के और सब नेताओं से बिलकुल भिन्न था। उन्हें आशा थी कि यदि भारत ने इंग्लैंड को युद्ध में दिल खोलकर मदद की तो लड़ाई के अंत में देश को स्वशासन का अधिकार ज़रूर दे दिया जाएगा। लेकिन और कोई नेता उनके इन विचारों से सहमत नहीं था।

जब पहला महायुद्ध छिड़ा तो गांधीजी इंग्लैंड होते हुए देश लौट रहे थे। उनका इरादा इंग्लैंड में कुछ सप्ताह रहने का भी था। 6 अगस्त, 1914 को वह इंग्लैंड पहुँचे और तुरंत वहाँ के भारतीयों का एक एंबुलेंस दल बनाने के काम में जुट गए। यदि उन्हें वहाँ पसली के दर्द की बीमारी न हो जाती और उसने उग्र रूप धारण न कर लिया होता तो शायद वह स्वयं भी उस एंबुलेंस दल में भर्ती हो जाते और उनका भारत लौटना अनिश्चित काल के लिए रुक जाता।

भारत लौटने पर उन्होंने देश को युद्ध में बिना शर्त सहायता देने के घोर विरोध में पाया। उस समय युद्ध में सहायता देना राजभक्ति का परिचायक माना जाता था और राजभक्ति का

परिचय देना राजनैतिक पिछड़ेपन का लक्षण और सरकारी पिट्ठुओं का काम था, देशभक्तों का नहीं। लेकिन गांधीजी ने युद्ध में सरकार से सहयोग करने की कोई कीमत नहीं माँगी और न कोई शर्त लगाई। 1917 के नवंबर महीने में, गुज़रात राजनैतिक सम्मेलन में उन्होंने ये वाक्य कहे थे "संकट में राजभक्ति दिखाने का यह मतलब नहीं है कि हम स्वराज्य के योग्य हो गए। राजभक्ति तो खुद एक गुण है। सारी दुनिया के सभी देशों के नागरिकों का यह एक ज़रूरी गुण है।"[7]

1918 में जब मित्र राष्ट्रों की हालत शोचनीय हो गई और पश्चिमी मोर्चे पर जर्मनों के ज़बर्दस्त आक्रमण का खतरा काफी बढ़ गया तो वाइसराय ने युद्ध की परिस्थिति पर और उसमें सहायता देने के प्रश्न पर विचार करने के लिए दिल्ली में भारतीय नेताओं का एक सम्मेलन बुलाया। उसमें तिलक, जिन्ना और खापर्डे-जैसे प्रमुख राष्ट्रीय नेताओं को इसलिए नहीं बुलाया गया, क्योंकि उन्होंने सहयोग की शर्तों का सवाल उठा दिया था। वे निश्चयपूर्वक जानना चाहते थे कि सरकार किन शर्तों पर देश का सहयोग चाहती है। अंग्रेज़ों के अस्पष्ट और गोलमोल वादों पर राष्ट्र का कोई भरोसा नहीं रह गया था। नेतागण सम्मेलन में शरीक होने से पहले सरकार के मुँह से यह सुन लेना चाहते थे कि वह सहयोग के बदले में कितने और कौन-से संवैधानिक सुधार देने को तैयार होगी। गांधीजी का पहला विचार तो सम्मेलन का बहिष्कार करने का ही हुआ, परंतु बाद में वह राज़ी हो गए और सम्मेलन में शरीक होकर वाइसराय के रंगरूट-भरती के प्रस्ताव का सिर्फ एक ही हिन्दी वाक्य में समर्थन किया, "मुझे अपनी जिम्मेवारी का पूरा खयाल है और उस जिम्मेवारी को समझते हुए भी मैं इस प्रस्ताव का समर्थन करता हूँ।"

फिर तो वह तन-मन से रंगरूट-भरती के काम में लग गए। अहिंसा के पुजारी गांधीजी का यूरोप और मध्यपूर्व के मोर्चों पर लड़नेवाली ब्रिटिश फौज के लिए गुज़रात के गाँवों में रंगरूट-भरती के लिए जाना अच्छा-खासा मज़ाक ही कहा जाएगा। कुछ महीनों पहले ही जिस खेड़ा जिले में वह करबंदी-आंदोलन का नेतृत्व कर चुके थे वहाँ किसी ने उनसे सीधे मुँह बात भी न की। गांधीजी और वल्लभभाई पटेल के लिए लोगों की फौज में भरती होने के लिए राज़ी करना लगभग असंभव ही साबित हुआ। इसकी अपेक्षा किसानों को जेल जाने के लिए तैयार करना कहीं आसान था। एक गाँव में, जो आंदोलन में सबसे आगे रहा था, न तो उनसे कोई मिलने के लिए आया और

न किसी ने उन्हें अपने घर में ही ठहराया। तीन दिन तक गांधीजी और वल्लभभाई पटेल गाँव की सीमा पर पड़े रहे और हाथ से टिक्कड़ बनाकर खाते रहे।

गांधीजी और उनके साथियों को सवारी के लिए अकसर बैलगाड़ियाँ भी नहीं मिल पाती थीं और एक दिन में बीस-बीस मील तक पैदल चलना पड़ जाता था। गांधीजी इन तकलीफों को बर्दाश्त न कर सके और उन्हें पेचिश हो गई। दवाई तो वह लेते नहीं थे। उपवास किया, लेकिन फायदा नहीं हुआ। जैसाकि उन्होंने बाद में कहा, अपने 'घोर अज्ञान के कारण' इंजेक्शन लगवाने से भी इनकार कर दिया। उनके मित्र अंबालाल साराभाई को पता चला तो वह उन्हें अहमदाबाद की अपनी हवेली में ले गए। दवाई लेने को गांधीजी राज़ी नहीं हुए और खाली तिमारदारी से अच्छे नहीं हो रहे थे। एक दिन तेज़ बुखार की हालत में ही साबरमती-आश्रम पहुँचाने का आग्रह करने लगे और वहाँ पहुँचकर ही चैन लिया । दूसरे दिन डा. राजेन्द्रप्रसाद मिलने के लिए आए तो उन्होंने गांधीजी को मरणासन्न अवस्था में पाया—शरीर सूखकर लकड़ी हो गया था और जीवन की कोई उमंग भी बाकी नहीं रही थी। गांधीजी को अपने जीवन पर पश्चात्ताप होने लगा कि आजतक कोई भी काम पूरा न कर सके। जिसे भी उठाया अधूरा छोड़ दिया और अब मृत्यु आ गई, लेकिन अगर ईश्वर की ऐसी ही इच्छा है तो उसके आगे किसी का क्या-बस !

गांधीजी ने जीने की सब आशाएं छोड़ दी थीं। अपने को अब-तब का मेहमान समझ रहे थे। अंत समय निकट आता जान गीता का पाठ सुनने लगे और सारे आश्रमवासियों को अपनी मृत्यु-शय्या के पास बुला लिया। जब सब लोग वहाँ आकर चुपचाप खड़े हो गए तो गांधीजी ने कहा, “भारत के नाम मेरा आखिरी संदेश यही है कि अहिंसा से ही उसे मुक्ति मिलेगी और अहिंसा के ही द्वारा वह विश्व की मुक्ति में अपना योगदान करेगा।”

गांधीजी मृत्यु-शय्या पर पड़े मौत की घड़ियाँ गिन रहे थे कि बर्फ के हिमायती एक डॉक्टर उनका इलाज करने के लिए आए। बरफ से ही इलाज करने के कारण उनका उपनाम 'आइस डॉक्टर' रख दिया गया था। गांधीजी ने उन्हें अपने शरीर पर प्रयोग करने दिया। नतीजा अच्छा रहा; उनमें जीने की कुछ आशा बंधने लगी और उत्साह आया। जीने की इच्छा इतनी बलवती हो उठी कि दूध न लेने की प्रतिज्ञा के खिलाफ कस्तूरबा के इस तर्क को कि वह तो सिर्फ गाय के दूध

के लिए थी, वह उनके अनुरोध पर बकरी का दूध लेने को राज़ी हो गए। लेकिन यह केवल प्रतिज्ञा के अक्षर-पालन का संतोष था; और जैसाकि स्वयं गांधीजी ने अपनी 'आत्मकथा' में लिखा है— "सत्य के पुजारी ने सत्याग्रह के लिए जीने की इच्छा रखकर अपने सत्य को दाग़ लगा दिया...यह मुझे रोज़ चुभता है।"

गांधीजी की जीने की इच्छा को और भी बलवती करने का सामान भारत सरकार ने भी शीघ्र ही तैयार कर दिया। इसी समय रौलट कमेटी की रिपोर्ट और रौलट बिल प्रकाशित हुए। गांधीजी ने उन्हें पढ़ा तो छटपटा उठे, बोले, "अगर मैं बीमार न होता तो अकेला ही जूझता और देश को जगाने के लिए सारे भारत का दौरा करता।" मित्र सलाह लेने के लिए आने लगे और विचार किया जाने लगा कि नागरिक अधिकारों का अपहरण करनेवाले इस नए कानून के खिलाफ देशव्यापी स्तर पर किस तरह लड़ा जा सकता है ? अंग्रेज़ों की सद्भावना पर विश्वास कर उनको संकट की घड़ी में जिस तरह सहायता की थी और युद्ध के अंत में उनकी ओर से जिस शुभ संकेत की आशा बंधी थी, वह सब गांधीजी को रह-रहकर याद आने लगा। एक बार फिर उन्हें रोटी के बदले पत्थर मिले थे। युद्ध-काल में अपने-आपको राजनैतिक आंदोलन से उन्होंने पूरी तरह अलग रखा था। अब शांति-काल में जो अन्याय किया गया, उसके खिलाफ लड़ने को वह व्यग्र हो उठे।

---

1. श्रीमती बेसेंट के पहले, 22 अप्रैल 1916 को तिलक भी एक होमरूल लीग स्थापित कर चुके थे। 1914 में छः बरस की कठोर नज़रबंदी से रिहा होकर वह लौट आए थे। 1916 में, देश के राजनैतिक जीवन को पुनर्जीवित करने के उद्देश्य से, उन्होंने होमरूल लीग स्थापित की; और जेल से मुक्त होने पर देशवासियों से जो एक लाख रुपए की थैली मिली थी, वह लीग को दे दी।—अनुवादक

2. होमरूल आंदोलन का एक शुभ परिणाम यह भी हुआ कि राष्ट्र के कार्यकर्ताओं में एक केन्द्र में मिलकर काम करने की अभिलाषा जाग उठी और 1916 के दिसंबर महीने में लखनऊ के कांग्रेस-अधिवेशन में गरम और नरम दोनों दलों के नेता आपसी मतभेद को भुलाकर राष्ट्र की हितचिन्ता के लिए एक मंच पर इकट्ठा हुए उसमें सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, लाला लाजपतराय, श्रीमती बेसेंट और तिलक सभी ने भाग लिया। गांधीजी उसमें प्रतिष्ठित दर्शक के ही रूप में शरीक हुए थे।

    —अनुवादक

3. 1944 में गांधीजी की 75वीं वर्षगाँठ पर प्रकाशित ग्रंथ 'गांधीजी' में जी. ए. नटेसन का लेख 'संस्मरण: पृष्ठ 215।

4. भारत लौटकर भी गांधीजी नेटाली गिरमिटियों और गिरमिट की अर्द्ध-गुलामों की प्रथा को नहीं भूले थे। चंपारन के किसानों, अहमदाबाद के मज़दूरों और खेड़ा सत्याग्रह की लड़ाइयाँ लड़ने से पहले उन्होंने इस कलंकित प्रथा को उठवाने के लिए देशव्यापी आंदोलन किया। 25 फरवरी 1910 को भारत की बड़ी कौंसिल में गोखले का प्रस्ताव पास हो जाने से भी गिरमिट की प्रथा बंद नहीं हो पाई थी। गांधीजी के भारत आने पर मालवीयजी ने 1916 में फिर बड़ी कौंसिल में इस प्रथा को उठाने का प्रस्ताव पेश किया, तो लार्ड हार्डिंग ने उसे स्वीकार कर यह आश्वासन दिया कि "वक्त आने पर" इसे उठा दिया जाएगा। इसके खुलासे की माँग करने पर उन्होंने कहा कि "दूसरी व्यवस्था करने में जितना समय लगेगा उतने समय
में"। तब फरवरी 1917 में मालवीयजी ने इस प्रथा को तुरंत उठा देने का कानून बड़ी कौंसिल में पेश करने की इजाज़त माँगी, जो वाइसराय ने नहीं दी। इसलिए गांधीजी ने इस प्रश्न को लेकर भारत का दौरा शुरू किया। पहली सभा बंबई में श्री जहाँगीर पेटिट, सर लल्लूभाई श्यामलदास, डॉ. रीड आदि के संयोजकत्व में हुई और "31 जुलाई 1917 तक इस प्रथा को बंद कर देने" का प्रस्ताव पास किया गया। बंबई से लेडी ताता के नेतृत्व में महिलाओं का एक प्रतिनिधि मंडल भी वाइसराय से मिलने के लिए गया। गांधीजी कराची, कलकत्ता और सभी प्रमुख नगरों में गए। सब जगह बड़ी-बड़ी सभाएँ हुईं और बंबईवाला प्रस्ताव पास किया गया। स्वयं गांधीजी के शब्दों में "सब जगह अच्छी-खासी सभाएँ हुईं और सर्वत्र लोगों में भरपूर उत्साह था...। सन् 1894 में इस प्रथा का विरोध करनेवाली पहली दरख्वास्त मैंने तैयार की थी और यह उम्मीद रखी थी कि किसी दिन यह अर्द्ध गुलामी ज़रूर रद्द होगी।" और 12 अप्रैल, 1917 को युद्धकालीन कार्रवाई के रूप में गिरमिटियों की भरती बंद करने की घोषणा वाइसराय को करनी पड़ी। वैसे पूरी तरह तो इस प्रथा का अंत 1 जनवरी, 1920 को ही हुआ।

—अनुवादक

5. बिहार में बीस कट्ठे का एक एकड़ होता है। चंपारन के किसान अपनी ही ज़मीन में हर बीस कट्ठे में निलहों के लिए नील की खेती करने को कानून से मजबूर थे। यह कानून ईस्ट इंडिया कंपनी के जमाने में 1817 के आसपास बनाया गया था और तबसे निलहे गोरे वहाँ के किसानों पर जुल्म ढाते आ रहे थे।—अनुवादक

6. महादेव देसाई : 'एक धर्म-युद्ध', पृष्ठ 45।

7. नटेसन : 'महात्मा गांधी के भाषण और लेख' (अंग्रेज़ी संस्करण), पृष्ठ 409।

१८. अमृतसर की काली छाया

रौलट बिलों का विरोध करने के लिए गांधीजी ने अपनी बीमारी की भी परवा न की और मैदान में उतर आए। देश में पनप रहे आतंकवाद (हिंसात्मक कार्रवाइयाँ) का सामना किस तरह किया जाए, इसका विचार करने के लिए सरकार ने सर सिडने रौलट की अध्यक्षता में एक कमेटी नियुक्त की थी। उसने जाँच करके जो रिपोर्ट पेश की उसी के आधार पर रौलट बिल बनाए गए थे।

गांधीजी खुद आतंकवाद के कट्टर विरोधी और ज़बर्दस्त आलोचक थे। दस बरस पहले, जब रौलट बिलों का कहीं अस्तित्व भी नहीं था, वह अपनी पुस्तक 'हिन्द स्वराज्य' में आतंकवाद को नैतिक और व्यावहारिक दोनों ही दृष्टियों से निंदनीय और त्याज्य ठहरा चुके थे। बम और पिस्तौल के मुकाबले उन्होंने सत्याग्रह को ज्यादा कारगर उपाय बताया था। केवल कुछ स्थानों पर होनेवाली आतंकवादी कार्रवाइयों के कारण दमनकारी काला कानून बनाकर सारे देश को सज़ा देना, गांधीजी, आतंकवाद के कट्टर विरोधी होते हुए भी, उचित नहीं समझते थे; न उनकी दृष्टि में यही ठीक था कि एक ऐसी सरकार को, जो जनता के प्रति उत्तरदायी न हो, इतने व्यापक अधिकार दे दिए जाएं।

रौलट बिलों का विरोध करने के प्रश्न पर सभी भारतीय नेताओं ने अभूतपूर्व एकता दिखाई। जिन्ना की राय में, शांतिकाल में ऐसा दमनकारी कानून बनानेवाली सरकार निरी असभ्य और जंगली सरकार थी। सर तेजबहादुर सप्रू ने बिलों को “सैद्धांतिक दृष्टी से गलत, व्यावहारिक दृष्टी से दोषपूर्ण और अति व्यापक” बताया। विट्ठलभाई पटेल ने कहा, “यदि ये बिल पास हो गए तो संवैधानिक सुधारों के लिए किए जानेवाले हमारे वैधानिक आंदोलन का गला ही घुट जाएगा।”

लेकिन भारत सरकार ने इस विरोध को कोई महत्त्व नहीं दिया, विरोध की सारी आवाज़ को निहायत कमज़ोर और भारतीय नेताओं की बेकार की चिल्ल-पों करार देकर उपेक्षा कर दी और 1919 के मार्च महीने के तीसरे सप्ताह में बड़ी फुर्ती से और बहुत ही भौंडे तरीके से सरकार ने एक बिल को बड़ी कौंसिल में पेश कर दिया। कौंसिल में जितने भी चुनकर आए हुए भारतीय नेता थे उन सबने इस बिल का डटकर विरोध किया और विपक्ष में अपने मत दिए। लेकिन फिर

भी वह पास हो गया।[1] जिस तरह यह बिल पास किया गया उसने गांधीजी की आँखें खोल दीं। उस समय वह बड़ी कौंसिल की दर्शक गैलरी में उपस्थित थे। उन्होंने वहाँ बिल के विरोध में भारतीय नेताओं के युक्ति-युक्त और जोशीले व्याख्यानों को सूना और विरोध के उस प्रबल स्वर को चिकने घड़े पर पानी की तरह सरकारी पक्ष के निकट व्यर्थ हो जाते हुए अपनी आँखों से देख भी लिया। इस संबंध में उन्होंने बाद में ठीक ही लिखा था : “ऊँघते को आदमी जगा सकता है, जागता ऊँघे तो उसके कान पर ढोल बजाने से क्या होगा ?”[2] उनका यह विश्वास दृढ़ हो गया कि गोरी नौकरशाही और अंग्रेज़ व्यापारियों ने मिलकर भारत सरकार के कान इस बुरी तरह भर दिए हैं कि वह जनता की सही आवाज़ को कभी नहीं सुन सकती। जनता की भावनाओं और लोकमत की थोड़ी-सी भी कद्र करनेवाली सरकार ऐसे बिल को, जिसका सभी पक्षों और दलों के भारतीय नेताओं ने घोर विरोध किया हो, कानून का रूप कभी नहीं देगी। और जो सरकार निकट भविष्य में काफी बड़े पैमाने पर संवैधानिक सुधारों को लागू करने की बातें करती हो वह स्वराज्य की किस्त देने से पहले इतनी बुरी भूमिका क्यों बांधेगी !

वैधानिक उपायों से जब रौलत बिल के विरोध का कोई परिणाम नहीं हुआ और वह पास हो गया तो गांधीजी ने रौलट कानून को हटवाने के लिए सत्याग्रह का निश्चय किया। फरवरी 1919[3] में वे रौलट बिलों के विरोध में एक प्रतिज्ञा-पत्र प्रकाशित कर चुके थे, जिसमें कहा गया था, “यदि इन बिलों को कानून का रूप दिया गया तो जबतक इन्हें वापस न लिया जाएगा तबतक हम इन तथा अन्य ऐसे कानूनों को भी, जिसे इसके बाद नियुक्त की जानेवाली सत्याग्रह कमेटी उचित समझेगी, मानने से नम्रतापूर्वक इनकार कर देंगे। हम इस बात की प्रतिज्ञा करते हैं कि इस युद्ध में ईमानदारी के साथ सत्य का अनुसरण करेंगे और किसी के जान-माल को हानि नहीं पहुँचाएंगे।”

बीमारी के बाद अभी गांधीजी पूरी तरह स्वस्थ नहीं हो पाए थे, लेकिन सरकार ने पहले रौलट बिल को कानून का रूप दे दिया था, इसलिए उन्हें मैदान में उतर आना पड़ा। देश की जनता को सत्याग्रह का अर्थ समझाने के लिए उन्होंने देश-व्यापी दौरा किया और 'सत्याग्रह सभा’ के नाम से एक नया संगठन बनाया। मदरास में वह राजाजी के घर ठहरे हुए थे। एक दिन सवेरे

उठकर उनसे बोले, “रात को स्वप्नावस्था में मेरे मन में यह विचार आया कि इस कानून के जवाब में हमें सारे देश में हड़ताल करने की सलाह देनी चाहिए। उस दिन सब उपवास करें, काम-काज बंद रखें और प्रार्थना करें।“ पहले 1919 के मार्च की 30 तारीख रखी गई थी, फिर छठी अप्रैल कर दी गई। शोक या विरोध में हड़ताल करना भारत में कोई नई बात नहीं थी, लेकिन एक दिन राष्ट्रव्यापी राजनैतिक हड़ताल ज़रूर नई और बहुत बड़ी बात थी। बंबई में हड़ताल के साथ-साथ सविनय विरोध के रूप में 'हिन्द स्वराज्य’ और ‘सर्वोदय’ आदि कुछ ऐसी किताबें भी बेची गईं, जिन्हें सरकार ने राजद्रोहात्मक करार देकर प्रतिबंध लगा दिया था। 7 अप्रैल को प्रेस कानून के विरोध में गांधीजी के संपादन में 'सत्याग्रह' नामक एक छोटे-से-समाचार-पत्र का प्रकाशन भी शुरू किया गया।

दिल्ली में गलतफहमी के कारण 6 अप्रैल के बदले 30 मार्च को ही हड़ताल हो गई और उसमें झगड़े के कारण थोड़ा खून-खराबा भी हुआ। गांधीजी ने तुरंत उपद्रवकारियों और स्थानीय अधिकारियों की भी भर्त्सना की। अधिकारियों के आचरण के बारे में उन्होंने कहा कि उन लोगों ने तो मक्खी को मारने के लिए हथौड़ा ही चला दिया। सबसे अधिक उत्तेजना पंजाब में थी। वहाँ के नेताओं का खयाल था कि यदि गांधीजी पंजाब में आ जाएं तो उससे शांति-स्थापना में बड़ी मदद मिल जाएगी। लेकिन सरकार ने उन्हें वहाँ पहुँचने ही नहीं दिया। वह बंबई से दिल्ली के लिए रवाना हुए तो दिल्ली के पास एक छोटे-से स्टेशन पर उन्हें गिरफ्तार कर एक स्पेशल ट्रेन से पुनः बंबई भेज दिया गया और वहाँ पहुँचने पर वह रिहा कर दिए गए। वह दुबारा दिल्ली जाने का इरादा कर ही रहे थे कि बंबई, अहमदाबाद, नदियाद और गुज़रात के दूसरे शहरों में उपद्रव हो जाने के समाचार आने लगे। उनके अपने ही प्रदेश में जनता सत्याग्रह और अहिंसा के सिद्धांतों को भूलकर हिंसात्मक कार्रवाई पर उतर आएगी, इसकी तो गांधीजी ने सपने में भी कल्पना नहीं की थी। लोगों के मन में छिपी हिंसा की शक्ति को सही-सही आँकने में उनसे भूल हो गई थी। उन्होंने आगे बढ़ने, दुबारा गिरफ्तार होने और आंदोलन को चालू रखने का विचार उसी समय त्याग दिया और सत्याग्रह को स्थगित कर दिया। जनता को पूरी तरह तैयार किए बिना सत्याग्रह-

संग्राम शुरू कर देने की अपनी हिमालय-जैसी भूल के प्रायश्चित स्वरूप उन्होंने तीन दिन का उपवास भी किया।

उधर, इस बीच, पंजाब में घटना-चक्र ने बड़ा ही विकट और शोकजनक रूप धारण कर लिया था। वहाँ एक साथ कई बातें ऐसी हो गईं, जिससे जनता का अंदर-ही-अंदर घुमड़ता हुआ असंतोष और गुस्सा एकदम भड़क उठा। यद्यपि गांधीजी ने अभी तक पंजाब का दौरा नहीं किया था, परंतु उनके नाम का जादू तो वहाँ भी चलता ही था। जैसे ही दिल्ली के निकट उनकी गिरफ्तारी का समाचार पंजाब पहुँचा सारे प्रांत में गुस्से की लहर दौड़ गई। 10 अप्रैल को जब अमृतसर के जिला मजिस्ट्रेट ने दो नेताओं[4] को गिरफ्तार कर लिया तो लोगों की भीड़ आपे से बाहर हो गई; उसने टाउन हाल और डाकखाने को आग लगा दी, टेलीग्राफ के तार काट डाले और कुछ अंग्रेज़ों को, जिनमें दो महिलाएँ भी थीं, घायल कर दिया। ब्रिगेडियर-जनरल डायर की कमान में फौज बुलाकर किसी तरह भीड़ को काबू किया जा सका और शहर सेना के हवाले कर दिया गया। दो दिन तक शांति रही, लेकिन तीसरे दिन 13 अप्रैल को बैसाखी का त्यौहार था और उस दिन जलियाँवाला बाग में एक सभा की घोषणा की गई थी। वह सभा भीषण नर-मेघ में बदल गई। डायर ने शस्त्र-बल से सभा को भंग करने का फैसला पहले ही कर लिया था। जलियाँवाला बाग का दरवाजा इतना सँकरा था कि उसमें होकर बख्तरबंद गाड़ी अंदर नहीं जा सकती थी। डायर और उसके सैनिक पैदल ही घुस गए और दस मिनट में उन्होंने 1650 फैर किए। बैसाखी के त्यौहार के कारण उस सभा में पुरुषों के अलावा, स्त्रियाँ और बच्चे भी बड़ी संख्या में उपस्थित थे। सारी निहत्थी जनता उस बगीचे में “पिंजड़े में बंद चूहों” की तरह फँस गई और कोई भी भाग न सका। सरकारी बयान के मुताबिक उस गोलीकांड में 379 मरे। सर चिमनलाल सीतलवाड का, जो गोलीकांड की जाँच के लिए नियुक्त हंटर-कमेटी के सदस्य थे, अनुमान था कि 400 मरे और 1200 घायल हुए थे।

बाद में डायर ने जाँच-कमेटी को अपना उद्देश्य बताते हुए कहा था कि उसका उद्देश्य “कड़ी कार्रवाई के द्वारा लोगों को सबक देना” और उनमें “नैतिक असर" पैदा करना ही था। लेकिन जिस साम्राज्य को बचाने का वह दावा कर रहा था उसे जितनी बड़ी चोट उसने पहुँचाई

थी उसकी उसे उस समय शायद ही कल्पना हुई होगी। अमृतसर के हत्याकांड का भारतीयों और अंग्रेज़ों के संबंधों को प्रभावित करने (बिगाड़ने) वाली घटना के रूप में 1857 के विद्रोह का जितना ही महत्त्व है।[5] भारत में रहनेवाले अंग्रेज़ अफसर '1857 के आतंक' से अपने को कभी मुक्त नहीं कर पाए; अमृतसर का गोली-कांड वास्तव में उनकी इसी दूषित मनोवृत्ति का भयंकर परिणाम था। इसी मनोवृत्ति के कारण पंजाब के गवर्नर सर माइकेल ओडायर और उनकी सरकार के मन में यह दहशत बैठ गई थी मानो उन्हें उखाड़ फेंकने का कोई प्रांतव्यापी षड्यंत्र रचा गया हो।

1919 में, अमृतसर के बाद, सारे पंजाब में दमन का जो नंगा नाच हुआ, राजनैतिक कार्यकर्त्ताओं को जो अमानवीय यंत्रणाएं दी गईं, पढ़े-लिखे लोगों को जिस तरह सताया और अपमानित किया गया उस सबके मूल में अंग्रेज़ अफसरों के मन पर छाया हुआ 'विद्रोह का आतंक' ही काम कर रहा था। इसी आतंक से प्रेरित जनरल डायर ने जिस जगह अंग्रेज़ महिला पर हमला किया गया था उस सड़क पर भारतीयों को पेट के बल रेंगने के लिए विवश किया; इसी आतंक से प्रेरित होकर उन्हें हुक्म दिया गया कि जो भी अंग्रेज़ सामने पड़ जाए उसे सवारी में से उतरकर फौरन सलाम किया जाए; इसी आतंक के कारण कई गाँवों पर मशीनगनों और हवाई जहाजों से गोलियाँ बरसाई गईं; भारतीयों की सारी मोटरगाड़ियाँ छीन ली गईं; कर्नल ज़ानसन ने लाहौर के सभी कॉलेजों के लगभग एक हज़ार विद्यार्थियों के लिए तीन सप्ताह तक मई की चिलचिलाती धूप में रोजाना 16 मील पैदल चलकर दिन में चार बार हाज़िरी देने का नियम लागू कर दिया; और जब एक कॉलेज की बाहरी दीवार पर यह नोटिस फटा हुआ पाया गया तो उस कॉलेज के सारे छात्रों, कर्मचारियों और अध्यापकों तक को गिरफ्तार कर लिया गया। निश्चय ही उन फौजी अफसरों का ऐसा खयाल था कि वे संकट की घड़ी में ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा कर रहे हैं। वे यूरोप और मध्यपूर्व के मोर्चों से ताजा लौटे थे और पूरे जी-जान से अपनी कारगुजारी दिखाने को बेताब थे। पंजाब के हत्याकांड के विरोध में सरकार द्वारा दी जानेवाली 'सर' की पदवी को ठुकरानेवाले रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इस आतंकराज के बारे में बिलकुल ठीक कहा था, "जलियाँवाला बाग में जो हुआ, वह पैशाचिक युद्ध का पैशाचिक प्रतिफल ही था।"

सरकार ने पंजाब की घटनाओं पर लोहे का ढकना-सा डाल दिया था। गांधीजी ने 18 अप्रैल को सत्याग्रह स्थगित कर दिया था और वह पंजाब जाना चाहते थे। वह सरकार से कोई झगड़ा नहीं मोल लेना चाहते थे, इसलिए उन्होंने वाइसराय से वहाँ जाने की बकायदा अनुमति माँगी, लेकिन पूरे छह महीने तक उन्हें उस प्रांत में जाने की इजाज़त नहीं दी गई। सी. एफ. एंड्रूज वहाँ से गांधीजी को जो खबरें भेज रहे थे, वे बड़ी ही चिन्ताजनक थीं। इस बीच सरकार ने लार्ड हंटर की अध्यक्षता में पंजाब के उपद्रवों की पड़ताल के लिए एक जाँच-समिति नियुक्त कर दी थी। कांग्रेस ने उसका विरोध किया और अपनी ओर से गैर-सरकारी जाँच-समिति बनाई, जिसमें पं. मोतीलाल नेहरू, सी. आर. दास, अब्बास तय्यबजी, एम. आर. जयकर और गांधीजी को रखा गया।[6] इस गैर-सरकारी समिति के सदस्य की हैसियत से जब गांधीजी पंजाब गए तभी उन्हें वहाँ मार्शल-ला लागू किए जाने का पता चला। अपनी छानबीन के बाद जनता पर किए गए भयंकर अत्याचारों के बारे में जो अकाट्य तथ्य गांधीजी के हाथ में आए वे निश्चय ही दिल दहलानेवाले थे। पंजाब में उन्होंने जो देखा-सुना उससे ब्रिटिश साम्राज्य के ईश्वरीय देन होने का उनका जो विश्वास चला आता था वह काफी हद तक डगमगा गया। लेकिन सरकार में उनकी आस्था फिर भी बनी रही। पंजाब के क्रूर दमन के लिए उन्होंने कुछ सिरफिरे अंग्रेज़ अफसरों को जिम्मेवार माना और यह आशा प्रकट की कि सचाई मालूम हो जाने पर सरकार हालत को ज़रूर सुधारेगी।

24 दिसंबर, 1919 को इंग्लैंड के बादशाह पंचम जार्ज ने एक शाही फरमान निकालकर इंडियन रिफार्म्स एक्ट (नए संवैधानिक सुधार) की स्वीकृति और राजनैतिक बंदियों को माफी[7] देने की घोषणा की। उस फरमान में अधिकारियों और प्रजाजन को आपस में सहयोग करने के लिए भी कहा गया था। इस शाही घोषणा पर अपनी राय देते हुए गांधीजी ने लिखा था, "यह ऐसा दस्तावेज है, जिसपर हर अंग्रेज़ को गर्व और हर भारतीय को संतोष होना चाहिए। इस शाही घोषणा ने अविश्वास को मिटाकर विश्वास को जगाया है। अब देखना है कि सरकारी अधिकारी इसपर किस हद तक आचरण करते हैं ।"

लेकिन भारत स्थित ब्रिटिश नौकरशाही ने घोषणा के अनुसार विश्वास जगाने और सहयोग करने की दिशा में कोई तत्परता नहीं दिखाई। गांधीजी ने केन्द्रीय और प्रांतीय सरकारों से 'हृदय-

परिवर्तन' की जितनी भी अपीलें कीं वे सब-की-सब अनसुनी ही रहीं। जब मार्च 1920 में, पंजाब में मार्शल ला के अंतर्गत फाँसी की सज़ा पाए हुए बीस कैदियों की अपीलें रद्द कर दी गईं तो उन्होंने लिखा—"सबसे बड़ी अदालतों पर भी राजनैतिक असर पड़े बिना न रह सका।" जब पंजाब में अत्याचार करनेवाले अफसरों को वहाँ से हटाया नहीं गया और फिर पंजाब में रहनेवाले अंग्रेज़ों द्वारा उनका सम्मान भी किया जाने लगा तो गांधीजी के विस्मय की सीमा न रही। जब हंटर-कमेटी की रिपोर्ट प्रकाशित हुई तो उन्होंने उसे 'लीपा-पोती करने की कोशिश' से अधिक और कुछ न पाया। वह मन-ही-मन सोचने लगे कि कहीं भारत में ब्रिटिश नौकरशाही की कोई ऐसी गुप्त आचरण-संहिता तो नहीं बनी हुई है, जिसके आगे "महान ब्रिटिश जाति का कोई बस नहीं चल पाता और उसे नौकरशाही के आगे झुक जाना पड़ता है ?"

अनचाहे भी यह दु:खद विश्वास उनके मन में दृढ़ होता चला गया कि जिस शासन-प्रणाली को वह सुधारने का प्रयत्न करते रहे हैं, वह सुधार के काबिल रही ही नहीं, उसे तो नष्ट ही करना होगा। 1919 के दिसंबर महीने में उन्होंने अमृतसर-कांग्रेस को यह सलाह दी थी कि ब्रिटिश सरकार द्वारा दी गई शासन-सुधारों की नई किस्त को स्वीकार कर सहयोग क द्वारा पूर्ण उत्तरदायी शासन का वातावरण तैयार करना चाहिए। लेकिन दस ही महीने बाद सितंबर 1920 में उन्हें कहना पड़ा कि नई कौंसिलें और भारतीयों को गवर्नर बनाने की बातें सिर्फ हमारी "ताकत को घटाने की चालबाज़ियाँ ही हैं।

पंजाब पर किए गए अत्याचारों के अतिरिक्त 'खिलाफत-संबंधी' अन्याय भी गांधीजी के इस विचार-परिवर्तन का एक कारण था।

---

1. रौलट बिलों के नाम से दो बिल थे। एक अस्थायी था, जिसका उद्देश्य भारत-रक्षा-कानून के समाप्त हो जाने से उत्पन्न स्थिति का मुकाबला करना था। उसमें यह विधान था कि क्रांतिकारियों के मुकदमे हाईकोर्ट के तीन जजों की अदालत में पेश हों और वे शीघ्र उनका फैसला कर दें, जहाँ क्रांतिकारी अपराध बहुत होते हों वहाँ अपील न हो सके; जिसपर राज्य के विरुद्ध अपराध करने का संदेह हो उससे जमानत ली जाए, उसे किसी स्थान विशेष में रहने और किसी खास काम को करने से रोका जाए, लेकिन ऐसा हुक्म देने से पहले उस व्यक्ति की जाँच जज और एक गैर-सरकारी आदमी से करवा ली जाए। जिस व्यक्ति से सार्वजनिक शांति भंग होने की आशंका हो उसे गिरफ्तार कर स्थान-विशेष में बंद रखने का

अधिकार प्रांतीय सरकारों को दे दिया गया। दूसरा बिल साधारण फौजदारी कानून में एक स्थायी परिवर्तन चाहता था, जिसके अनुसार किसी राज्द्रोही सामग्री का प्रकाशन या वितरण करने के उद्देश्य से पास रखना जेल की सज़ा तक का दंडनीय अपराध कारार दिया गया; सरकारी गवाह बननेवालों की रक्षा का भार अधिकारों को सौंपा गया; पहले से सरकार की आज्ञा किए बिना जिन अपराधों के लिए मुकदमा नहीं चल सकता उनकी प्रारंभिक पुलिस-जाँच का अधिकार जिला मैजिस्ट्रेटों को दे दिया गया; और जिसे राज्य के विरुद्ध अपराध करने में सज़ा मिल चुकी हो उसकी सज़ा के बाद दो वर्ष तक की नेकचलनी की जमानत लेने का विधान किया गया। इनमें से एक बिल मात्र के तीसरे सप्ताह में पास हो गया और दूसरा वापस ले लिया गया ।—अनुवादक

2. आत्मकथा; सस्ता साहित्य मंडल।

3. ‘भारतीय स्वाधीनता संग्राम का इतिहास'—इंद्र विद्यावाचस्पति और ‘कांग्रेस का इतिहास'—डा. बी. पट्टाभि सीतारमय्या के अनुसार 18 मार्च, 1919।

4. गिरफ्तार किए जानेवाले नेता डॉक्टर किचलू और डॉक्टर सत्यपाल थे, जो वहाँ कांग्रेस का संगठन कर रहे थे। जिला मजिस्ट्रेट ने उन्हें गिरफ्तार कर अज्ञात स्थान को भेज दिया था, जिससे नगर में सनसनी फैल गई।—अनुवादक

5. टामसन एंड गैरेट : 'राइज एंड फुलफिलमेंट आफ ब्रिटिश रूल इन इंडिया,' पृष्ठ 609।

6. फजलुलहक भी इस समिति के सदस्य थे और के. संतानम को मंत्री बनाया गया था। एम. आर. जयकर को पं. मोतीलाल नेहरु के स्थान पर लिया गया, जब अमृतसर-कांग्रेस के सभापति चुने जाने के बाद उन्होंने समिति से त्यागपत्र दे दिया था।—अनुवादक

7. राजनैतिक बंदियों की माफी के संबंध में घोषणा के शब्द इस प्रकार थे—“गत उपद्रवों के कारण जिन लोगों को दंड दिए गए हैं, उनमें से जिनके छोड़ने से सार्वजनिक सुरक्षा को कोई भय न हो, उन्हें छोड़ दिया जाएगा।—अनुवादक

१९. विद्रोह का रास्ता

पंजाब की घटनाओं ने 1919 में गांधीजी की साम्राज्य-भक्ति को डिगा अवश्य दिया था, लेकिन उसे आखिरी धक्का दिया खिलाफत के प्रश्न ने, जिसे लेकर अगले साल भारत में एक प्रचंड राजनैतिक आंदोलन उठ खड़ा हुआ था।

1914 में पहला महायुद्ध छिड़ा तो भारतीय मुसलमानों ने अपने को बड़ी असमंजसपूर्ण स्थिति में पाया। तुर्की का सुलतान उनका खलीफा था और इस लड़ाई में वह जर्मनी के बादशाह कैसर के साथ था यानी भारतीय मुसलमानों के बादशाह शाहे बरतानिया के खिलाफ। भारतीय सेना में मुसलमान भी बड़ी संख्या में थे। सरकार के लिए उनकी बेचैनी को मिटाना ज़रूरी हो गया। इसलिए ब्रिटिश प्रधानमंत्री, लायड जार्ज ने खास इसी सवाल पर एक नीति-संबंधी वक्तव्य में कहा "हम तुर्की से एशिया माइनर और थ्रैस की उपजाऊ और ऐतिहासिक भूमि, जहाँ के ज्यादातर निवासी तुर्क ही हैं, छीनने के लिए यह लड़ाई नहीं लड़ रहे।" भारत के वाइसराय ने भी सार्वजनिक रूप से यह वादा किया कि "अरबिस्तान, मेसोपोटामिया और जद्दा के मुस्लिम तीर्थ-स्थानों की स्वतंत्रता की रक्षा की जाएगी।"

1914 में जब गांधीजी कुछ समय के लिए इंग्लैंड रुके थे तो वहाँ के भारतीय मुसलमानों की तुर्की-संबंधी चिन्ता की बात उन्हें मालूम हुई थी। 1915 से 18 के बीच के समय में जब वह सरकार से किसी भी तरह का संघर्ष लेने के पक्ष में नहीं थे, तो भारतीय मुस्लिम नेता उनसे प्रायः खिलाफत के भविष्य के संबंध में सलाह-मशवरा किया करते थे। उन्हीं दिनों गांधीजी ने मुस्लिम लीग और अलीगढ़ के मुस्लिम विश्वविद्यालय में भाषण दिए। मुस्लिम देशभक्तों को वह हमेशा यही सलाह देते थे कि उन्हें धीरज रखना चाहिए और हिंसा तथा उत्तेजना से बचते हुए अहिंसात्मक उपायों का अवलंबन करना चाहिए। खिलाफत के एक नेता मुहम्मद अली उस समय जेल में थे। गांधीजी का उनसे भी पत्र-व्यवहार था। 1918 में जब वह वाइसराय द्वारा आयोजित युद्ध सम्मेलन में भाग लेने के लिए दिल्ली गए तो मुहम्मद अली को रिहा करने की ज़ोरदार सिफारिश की और मुसलमानों को यह आश्वासन देने का कि तुर्की के भविष्य के बारे में मुसलमानों की भावनाओं का आदर किया जाएगा सरकार से आग्रह भी किया।

1918 के नवंबर महीने में जब पहला महायुद्ध समाप्त हो गया तो खिलाफत के सवाल ने फिर ज़ोर पकड़ा । 1920 के जनवरी महीने में मुस्लिम नेताओं को एक प्रतिनिधि-मंडल वाइसराय से मिला तो उन्होंने यह कहकर छुट्टी कर दी कि यदि भारतीय मुसलमानों का कोई डेपुटेशन इंग्लैंड जाना चाहे तो उसके लिए सारा इंतजाम कर दिया जाएगा।

वाइसराय से दरख्वास्तें करने और इंग्लैंड प्रतिनिधि-मंडल भेजने में अब बहुत-से मुस्लिम नेताओं का विश्वास भी नहीं रह गया था। उनमें मौलाना अबुल कलाम आज़ाद भी थे, जो उन दिनों 'अलहिलाल' नामक उर्दू पत्र का संपादन करते थे। खिलाफत के नेताओं की एक बैठक छह घंटे तक इस बात पर बहस करती रही कि अब अगला-कदम क्या हो; लेकिन किसी नतीजे पर नहीं पहुँच पाई । गांधीजी को उस बैठक में खासतौर पर बुलाया गया था। उन्होंने यह काम एक उपसमिति के जिम्मे सौंपने की सलाह दी। उस उपसमिति में अबुल कलाम आज़ाद, हकीम अजमेल खाँ और गांधीजी को रखा गया। मौलाना आज़ाद के कथनानुसार “असहयोग का विचार सबसे पहले उस उपसमिति में ही पैदा हुआ।”[1] दूसरे दिन गांधीजी ने जब “ब्रिटिश सरकार से असहयोग का कार्यक्रम” मुस्लिम नेताओं के आगे रखा तो बहुत-से घबरा उठे और उन्होंने तजबीज पर गौर करने के लिए वक्त की माँग की।

1920 के फरवरी महीने में मौलाना अबुल कलाम आज़ाद की अध्यक्षता में कलकत्ता में खिलाफत-सम्मेलन हुआ और उन्होंने इस बात पर ज़ोर दिया कि गांधीजी की तजवीज को मंजूर कर लेना चाहिए। इसी बीच तुर्की के साथ संधि की शर्तें प्रकाशित हुईं, उससे मुसलमानों को असंतोष और बढ़ गया। तुर्की के साथ नरमी का वह बर्ताव नहीं किया गया, जिसकी भारतीय मुसलमानों को आशा थी और जिसकी वे बराबर माँग करते आ रहे थे। वाइसराय की इस सलाह ने तो कि “अपने तुर्की बिरादरों की बद-किस्मती को चुपचाप और धीरज से बरदाश्त कर लेना ही हिन्दी मुसलमानों के लिए वाज़िब है” और भी जले पर नमक छिड़क दिया। भारतीय मुसलमानों के सब्र का घड़ा भर चुका था। खिलाफत के नेता अपने विरोध और गुस्से को किसी भी तरीके से ज़ाहिर करने के लिए बेताब हो उठे । 9 जून को इलाहाबाद में खिलाफत कमेटी की बैठक हुई और उसमें एक राय से गांधीजी के असहयोग के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया गया। वाइसराय

को एक महीने का नोटिस देकर असहयोग-आंदोलन शुरू करने का भार भी गांधीजी को ही सौंपा गया था। ऊपर के फैसले के पंद्रह दिन बाद गांधीजी ने वाइसराय को लिखकर सूचित कर दिया कि ब्रिटेन ने युद्धकाल में मुसलमानों से जो वादा किया था, उसके अनुसार अगर तुर्की की संधि-शर्तों में परिवर्तन नहीं किया गया तो वह मुसलमानों को सरकार से असहयोग करने और हिन्दुओं को भी उस आंदोलन में शरीक हो जाने के लिए कहेंगे।

खिलाफत के प्रश्न पर मुसलमानों से पूरी तरह सहमत न होते हुए भी अपने अत्यधिक धार्मिक दृष्टिकोण के कारण गांधीजी यूरोपियनों और पढ़े-लिखे हिन्दुओं की अपेक्षा उनकी भावनाओं को ज्यादा अच्छी तरह समझ सकते थे और इसीलिए इस प्रश्न पर मुसलमानों से उनकी सहानुभूति थी। लेकिन दुर्भाग्य से खिलाफत के बारे में उनका सारा ज्ञान धर्मप्राण मौलवियों और अखिल इस्लामाबाद के उत्साही समर्थकों द्वारा दी हुई जानकारी तक ही सीमित रहा, इसलिए वह इस समस्या के घोर प्रतिक्रियावादी स्वरूप को समझने में असमर्थ रहे। वह यह देख ही न सके कि खिलाफ तो खुद ही मौत की घड़ियाँ गिन रही है, यहाँ तक कि तुर्की के मुसलमान ही उसे जीवित रखना नहीं चाहते; और तुर्कों के ओटोमान साम्राज्य को प्रथम महायुद्ध के बाद की परिस्थितियों में जर्मनी के हैप्सबर्ग साम्राज्य की ही तरह बचाया नहीं जा सकता और इस्लामी दुनिया के अरब आदि सभी छोटे-बड़े मुस्लिम राष्ट्र तुर्की साम्राज्य के जुए को उतार फेंकने के लिए संघर्ष कर रहे हैं।

सितंबर 1920 में कांग्रेस का विशेष अधिवेशन हुआ और उसमें गांधीजी का असहयोग का कार्यक्रम स्वीकार कर लिया गया। अब वह एक साथ राष्ट्रीय और खिलाफत दोनों ही संघर्षों के नेता थे। अली बंधुओं के साथ उन्होंने सारे देश का दौरा किया और सर्वत्र हिन्दू मुस्लिम एकता का जैसे ज्वार ही आ गया। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही बड़ी श्रद्धा-भक्ति से उनके भाषण सुनने को जमा होते थे। यहाँतक कि पर्दानशीन मुस्लिम महिलाएं भी आग्रहपूर्वक अपनी सभाओं में ले जाने लगीं; जहाँ बूढ़े-बूढे मौलवी भी आँखों पर पट्टी बांधे बगैर तकरीर नहीं कर सकते थे, लेकिन गांधीजी को इतना “पाक, नेक और साफदिल" समझा जाता था कि उनकी आँखों पर पट्टी बांधने

की ज़रुरत ही नहीं महसूस की गई। यह सब देखकर गांधीजी को भी हिन्दू-मुस्लिम एकता की अपनी मनोभिलाषा पूरी होने का विश्वास होने लगा।

अब वह एक ऐसे जन-संघर्ष का नेतृत्व करने जा रहे थे, जिसका उद्देश्य देश से विदेशी शासन को समाप्त करना था। अहिंसक होते हुए भी वह संघर्ष एक खुला विद्रोह था।

जिस साम्राज्य का उन्होंने गौरव-गान किया था, जिस साम्राज्य की लड़ाइयों को, अहिंसावादी होने के बावजूद, अपना मानकर उन्होंने मदद की थी, उसी साम्राज्य के खिलाफ राजद्रोह के रास्ते पर अनचाहे ही वह काफी दूर तक निकल आए थे। 'यंग इंडिया'[2] के 15 दिसंबर, 1921 के अंक में उन्होंने लिखा था—"लार्ड रीडिंग को यह बात समझ लेनी चाहिए कि असहयोग करनेवाले सरकार से जंगी लड़ाई लड़ रहे हैं; और उन्होंने सरकार के खिलाफ बगावत कर दी है।"

ये वही गांधीजी थे, जिन्होंने मदरास के वकीलों की एक सभा में 1915 के अप्रैल महीने में "अपार हर्ष के साथ ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति अपनी वफादारी को दुहराते हुए" उस साम्राज्य की "कई खूबियों में से सबसे बड़ी खूबी" यह बताई थी कि "ब्रिटिश साम्राज्य के हर प्रजाजन को अपनी योग्यता और रुतबे के अनुसार तरक्की का पूरा मौका मिला हुआ है और हर आदमी अपने विवेक अनुसार सोचने-विचारने को पूरी तरह आज़ाद है।"

दक्षिण अफ्रीका में पूरे बीस वर्षों तक गोरी-सरकार से संघर्ष कर चुकने के बाद यह बात तो गांधीजी को मालूम हो ही जानी चाहिए थी कि गोरे और कालों में तथा शासक एवं शासितों में कोई समता इस साम्राज्य में नहीं थी। जिन उपनिवेशों में गोरों का बाहुल्य था, जैसे कि आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड आदि, वे तो बहुत तेज़ी से शासक देश के समकक्ष आते जा रहे थे, लेकिन इंग्लैंड के अधीनस्थ देशों में उत्तरदायी शासन की प्रगति की रफ्तार या तो बहुत धीमी थी या बिलकुल ही नहीं थी। भारत में अंग्रेज़ी राज्य की नींव कैसे पड़ी और यहाँ उसकी जड़ें कैसे मजबूत हुईं, इसकी जानकारी गांधीजी को न रही हो, सो बात नहीं। ईस्ट इंडिया कंपनी की जीत का कारण उन्होंने भारतीय राजाओं की आपसी लड़ाइयों और पारस्परिक फूट को ही माना था। भारत में शांति-स्थापना के अंग्रेज़ों के दावे की उन्होंने यह कहकर आलोचना की थी कि शांति केवल नाम को ही

थी, असलियत में तो भारतीयों को निर्वीर्य और कायर बना दिया गया था और रेलों, अदालतों और विदेशी शिक्षा-प्रणाली ने देश पर विदेशी शासन के शिकंजे को कसा ही था। भारत में अंग्रेज़ी राज्य पर इतने कड़े आरोप लगाने के बाद भी उन्होंने जो निष्कर्ष निकाला, वह बड़ा ही अद्भुत था—भारत को कुचलने का दोषी ब्रिटिश राज्य नहीं, विदेशी सभ्यता थी, जिसने इस तरह की शासन-प्रणाली को जन्म दिया था। उनकी दृष्टि में सारी अंग्रेज़ जाति उस सभ्यता से पीड़ित और उसकी शिकार बनी हुई थी; वह घृणा की नहीं दया की पात्र थी। इसीलिए वह विजेताओं पर आध्यात्मिक विजय की बात किया करते थे। उन्होंने कहा भी था, "ब्रिटिश सरकार के प्रति अपनी वफादारी ज़ाहिर करने में मेरा स्वार्थ ही है। मैं अंग्रेज़ जाति के जरिए अहिंसा का महान संदेश फैलाना चाहता हूँ।" 1915-16 में पश्चिम के भौतिकवाद के घोर विरोध के कारण और पूर्व की प्राचीन संस्कृति, विधवा-विवाह, अस्पृश्यता-निवारण, चर्खा और खादी के विकास और भारतीय भाषाओं के प्रचार-प्रसार पर अपने अत्यधिक आग्रह के कारण वह निरे आदर्शवादी, राजनीति से एकदम परे और बिलकुल ही दूसरी दुनिया के व्यक्ति मालूम पड़ते थे।

इस सबसे कुछ लोगों का यह विश्वास हो चला था कि गांधीजी अपनी शक्ति और प्रतिभा का उपयोग निर्दोष और अहानिकर सामाजिक सुधारों को गति देने में ही करेंगे । लेकिन यह उन लोगों की भूल थी। गांधीजी के निकट राजनैतिक और अराजनैतिक कार्यों का विभाजन करनेवाली कोई स्पष्ट सीमा-रेखा नहीं थी। जब वे लोगों से धर्म पर आचरण करने के लिए कहते तो हमेशा इस बात पर ज़ोर देते थे कि एक ईश्वर को छोड़ और किसी भी सांसारिक शक्ति से डरना नहीं चाहिए। जिस स्वदेशी को अपनाने का वह उपदेश देते थे वह भी "जहाँ हम रहते हैं वहीं की चीज़ों का उपयोग और वहीं की सेवा करने" की धार्मिक प्रवृत्ति ही थी और इसीसे वह यह स्वाभाविक निष्कर्ष निकाला करते थे कि अपने को जीवित रखे बिना भारत लंकाशायर के लिए कुछ भी नहीं कर सकता। राष्ट्रभाषा के रूप में किसी विदेशी भाषा के प्रयोग के वह सख्त खिलाफ थे और 1918 के युद्ध-सम्मेलन में तो हिन्दी में बोलकर उन्होंने सबको चकित ही कर दिया था। सरकार शीघ्र ही इस नतीजे पर पहुँच गई कि यह आदर्शवादी गांधी तो मानव शक्ति का

ऐसा बारूदखाना है, जिसे न तो काबू में रखा जा सकता है और न जिसके बारे में यही कहा जा सकता है कि यह कब क्या कर बैठेगा ?

1916 में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का उद्घाटन करते हुए तो गांधीजी ने कई बातें बिलकुल साफ-साफ ही कह दीं। भारतीय राजाओं को उन्होंने उनकी तड़क-भड़क और श्री-संपन्नता के लिए खूब कसकर फटकारा—"जब मैं यह सुनता हूँ कि ब्रिटिश भारत या देशी राज्यों के किसी बड़े शहर में कोई महल बनाया जा रहा है तो मैं चौंक पडता हूँ और एकदम मेरे मुँह से निकल जाता है कि हाय वह तो किसानों की गाढ़ी कमाई का पैसा है !" उसी भाषण में उन्होंने आगे कहा था, "अगर हम ईश्वर में भरोसा रखते हैं और उससे डरते हैं तो फिर हमें किसीसे डरने की ज़रुरत नहीं—न राजा-महाराजाओं से, न वाइसरायों से और न बादशाह पंचम जार्ज़ से ही। "श्रीमती एनी बेसेंट भी उस समारोह में उपस्थित थीं; उनसे यह सब सहा नहीं गया और वह चिल्ला उठीं, बंद भी कीजिए इस सबको।" और वहाँ उपस्थित एक बड़े अंग्रेज़ अफसर ने चिनचिनाकर कहा था—"हमें इस आदमी की इस तरह की बकवासों को बंद करना ही होगा।"

लेकिन जिसे गांधीजी उचित समझते थे उसे कहने और करने से उन्हें दुनिया की कोई भी ताकत रोक नहीं सकती थी। चंपारन के मजिस्ट्रेट से उन्होंने कहा था—"आज्ञा का उल्लंघन करने में मेरा उद्देश्य कानून से स्थापित सरकार का अपमान करना नहीं, बल्कि मेरा हृदय जिस अधिक बड़े कानून को स्वीकार करता है, अर्थात् अंतरात्मा की आवाज़, उसका अनुसरण करना है।" और यह सिद्धांत उस समय के किसी भी उग्रतम राजनीतिज्ञ से निस्संदेह कहीं अधिक क्रांतिकारी था।

आरंभिक वर्षों के इन अनुभवों ने भारत में ब्रिटिश राज्य के असली स्वरूप को देखने-समझने में गांधीजी की काफी सहायता की। ब्रिटिश साम्राज्य की अच्छाइयों में उनका विश्वास क्रमशः डिगता चला गया।

अपनी मातृभूमि की गरीबी का कुछ ज्ञान तो उन्हें पहले से भी था; 'हिन्द स्वराज्य' में उन्होंने उसका जिक्र भी किया था, लेकिन उसकी वास्तविकता तो उन्होंने देश में आकर ही जानी

और जो देखा-सुना, उससे दंग ही रह गए। बिहार के एक गाँव में एक औरत को गंदे कपड़ों में देखकर उन्होंने कस्तूरबा से कहा था कि वह उसे सफाई से रहने की बात समझा दें। उस औरत ने कस्तूरबा को अपनी झोंपड़ी में ले जाकर जवाब दिया था, “देखिए, घर में मेरी इस पहनी हुई साड़ी के अलावा दूसरा कोई भी कपड़ा नहीं है। मैं क्या तो धोऊँ और क्या पहनूँ ? आप महात्माजी से कहकर मेरे लिए एक साड़ी का इंतजाम और करवा दीजिए; फिर उनका हुकुम सिर-माथे, रोज़ धुली साड़ी पहना करूँगी।”

1917 में दक्षिण अफ्रीका में बाढ़ के कारण वहाँ के भारतीयों को बड़ा कष्ट उठाना पड़ा। उन्होंने भारत से सहायता की माँग की तो उसी वर्ष दिसंबर महीने में 'इंडियन ओपिनियन' में गांधीजी ने एक लेख लिखकर कहा कि उन्हें भारत से सहायता की आशा नहीं करनी चाहिए— “यहाँ इतनी भयंकर गरीबी है कि वहाँ के बाढ़ग्रस्तों के लिए भी किसी तरह की आर्थिक सहायता माँगने की हिम्मत मैं नहीं कर सकता। यहाँ तो एक पाई भी सोने की मुहर के बराबर है। इस समय मैं ऐसे प्रदेश में हूँ, जहाँ हज़ारों लोग सिर्फ एक जून सत्तू और नमक या सिर्फ उबाली हुई दाल खाकर जी रहे हैं।"

गुज़रात राजनैतिक सम्मेलन के अध्यक्ष-पद से भाषण करते हुए नवंबर 1917 में भी उन्होंने देश की घोर गरीबी का उल्लेख किया था। उन्होंने कहा था कि सरकार ईमानदारी से ऐसा मानती है कि राष्ट्र की संपन्नता में वृद्धि हो रही है; “अपने विवरणों और वृत्तांतों पर वह इतना अधिक आँख मूंदकर विश्वास करती है।"

शुरू-शुरू में ब्रिटिश उच्चाधिकारी गांधीजी का बड़ा सम्मान करते रहे, क्योंकि वे उन्हें पक्का राजभक्त समझते थे। लेकिन ज्योंही गांधीजी ने सरकारी नीतियों और अधिकारियों की आलोचना करना शुरू किया, सारी सरकारी मशीनरी के कान खड़े हो गए और वह अधिकारियों के उतने प्रिय पात्र भी नहीं रहे। प्रादेशिक और केन्द्रीय अधिकारियों की अपेक्षा ज़िलों के हाकिम उनसे अधिक घबराने लगे, क्योंकि उन बेचारों को गांधीजी के आंदोलन का खटका हमेशा लगा रहता था और यह आशंका भी कि न जाने कब वह खतरे का रूप धारण कर ले। गांधीजी की पहली भिड़ंत तिरहुत संभाग के आयुक्त से हुई और दूसरी बंबई सूबे में अहमदाबाद के आयुक्त

से। अहमदाबाद के कमिश्नर को तो उन्होंने “ब्रिटिश साम्राज्य के लिए जर्मनी से भी बड़ा खतरा” माना था और उसके साथ अपने संघर्ष को “ब्रिटिश साम्राज्य को अंदरूनी खतरे से बचाने की कोशिश” कहा था ! 1917 में तो वह सरकार के निकट इतने अविश्वसनीय हो उठे कि उनके पीछे खुफिया पुलिस भी लगा दी गई। नौकरशाही के समूचे तंत्र को वह भय पर टिका हुआ मानते थे और यह कि “अफसर तो जनमत के आगे न झुकने को ही अपनी अफसरी और शान” समझता था। बार-बार के अनुभवों से जब उन्हें विश्वास हो गया कि सरकारी तंत्र अपनी इज्ज़त के सवाल पर कितना अड़ियल, अपनी गलतियों को सुधारने के मामले में कितना दीर्घ-सूत्री और अवमनीय होता है तभी उन्होंने संघर्ष का मार्ग अपनाया था। उन्होंने लिखा भी था—“मनुष्य की गिरावट और भ्रष्टता में विश्वास करना मेरे स्वभाव के खिलाफ है, लेकिन नौकरशाही का पतन तो इस हद तक हो गया है कि अपने मतलब को पूरा करने के लिए वे किसी भी तरीके को अपनाने से बाज नहीं आते ।” नौकरशाही से पूरी तरह निराश हो चुकने पर ही वह इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि इस प्रणाली को सुधारा नहीं जा सकता, समाप्त ही करना होगा।

भारत के वाइसराय ने इस बात को बहुत पहले ही समझ लिया था कि यदि गांधीजी अच्छे मित्र बन सकते हैं तो वह उतने ही खतरनाक विरोधी भी साबित हो सकते हैं। 1917-18 में चंपारन की लड़ाई और दिल्ली के युद्ध-सम्मेलन के समय तत्कालीन वाइसराय लार्ड चेम्सफोर्ड ने गांधीजी का सहयोग और शुभेच्छाएं बनाए रखने की कुछ कोशिशें कीं, लेकिन बाद के दो वर्षों में अन्य उच्च अधिकारियों की भांति उनका भी यह विश्वास दृढ़ हो चला कि गांधीजी तो सरकार से झगड़ने का बहाना ही ढूँढ़ा करते हैं और कोई बात समझना नहीं चाहते, हर मामले में ज़बर्दस्त विरोधी रुख बनाए रखते हैं। शुरू के उन दिनों में ब्रिटिश सरकार जहाँ उनकी इज्ज़त करती थी वहाँ उनकी नीतियों और उद्देश्यों को लेकर आशंकित भी रहती थी। सरकार उनके सत्याग्रह-आंदोलन को भारत में ब्रिटिश राज्य के लिए सिर्फ एक चुनौती ही मानती थी, उस चुनौती के नैतिक और अहिंसात्मक आधार को, जिसे गांधीजी इतना अधिक महत्त्व देते थे, वह बिलकुल ही नहीं देख पाती थी। अंग्रेज़ों के लिए भारत से अहिंसावादी तरीकों से भी हटाए जाने में भला कौन-सी अच्छाई हो सकती थी ! वैसे उनका यह विश्वास भी नहीं था कि कोई जन-आंदोलन अहिंसक

रह भी सकता है। रौलट बिलों और खिलाफत के सवालों पर गांधीजी की यह सलाह कि झुकने से सरकार की प्रतिष्ठा बढ़ेगी और उसे सफलता मिलेगी, अंग्रेज़ों की समझ में नहीं आ पाती थी, और इसलिए उनकी दोस्ती और साम्राज्य-भक्ति पर उन्हें विश्वास नहीं हो पाता था।

यह कहना कि 1920 की ग्रीष्म और शरद की घटनाओं ने गांधीजी को राजभक्त से विद्रोही बना दिया, सही नहीं है। उन घटनाओं ने तो केवल उस प्रक्रिया को पूरा किया जो बहुत पहले शुरू हो चुकी थी। 1920 में उनकी घोर निराशा उस आशा के टूटने की ही ज़बर्दस्त प्रतिक्रिया थी, जो उन्होंने युद्धकाल में अंग्रेज़ों को दी गई मदद के बदले युद्ध के बाद स्वराज्य की स्थापना के संबंध में लगा रखी थी। सरकार द्वारा सभी तरह के आंदोलनों के विरोध की नीति और राजनैतिक एवं आर्थिक अन्यायों को मिटाने के लिए अहिंसक उपायों पर अमल करने के सहज अधिकार के गांधीजी के दाबे में कभी-न-कभी तो संघर्ष होना ही था और अंत में वह हुआ। आश्चर्य यही है कि उसमें इतना अधिक विलंब हुआ। युद्ध-काल में गांधीजी सरकार को आंदोलन करके किसी परेशानी में नहीं डालना चाहते थे और सरकार भी उनके समर्थन और सहानुभूति को खोने के पक्ष में नहीं। लेकिन कोई भी विदेशी सरकार गुलाम प्रजा के इस अधिकार को कि वह उसके विधि-विधानों और प्रशासन को, अहिंसक उपायों से ही क्यों न हो, चुनौती दे, कब स्वीकार कर सकती है। इसलिए जब गांधीजी ने पंजाब के अत्याचारों और तुर्की के प्रति ब्रिटिश नीति के विरोध में अहिंसक विद्रोह की कमान संभाली तो सरकार ने उसे अपनी सत्ता और अस्तित्व के लिए चुनौती समझा और मुकाबले के लिए तैयार हो गई।

राजनीति में भी गांधीजी बड़ी ही भावुकता और सहृदयता से पेश आते थे। समझौते का कोई मौका वह हाथ से जाने नहीं देते थे। 1919 के अंतिम और 1920 के आरंभिक महीनों में वह सरकार की ओर से कोई ऐसा शुभ संकेत पाने की आशा लगाए रहे, जो ब्रिटिश न्याय में उनकी डिगती हुई आशा को पुनः दृढ़ कर सके। 1919 के दिसंबर महीने में शाही फरमान की घोषणा हुई। गांधीजी ने उसका स्वागत किया, पर अंत में वह सदा की तरह का एक निरा शब्दजाल होकर ही रह गया। भारत में बादशाह सलामत की सरकार ने उस फरमान की सही मंशा को अमली रूप देने की ज़रा भी कोशिश नहीं की। पंजाब की घटनाओं और खिलाफत के सवाल पर

अधिकारियों की कथनी और करनी के भेद को गांधीजी ने खूब अच्छी तरह देख लिया था। स्वभाव से सहज विश्वासी होने के कारण जबतक सरकार की नेकनीयती में उनकी आस्था बनी रही वह बराबर विश्वास करते रहे, लेकिन जिस क्षण आस्था टूटी, उन्हें ब्रिटिश राज्य एक नए ही रूप में दिखाई देने लगा ! शासन की बुराइयों को वह अधिकारियों के व्यक्तिगत दुर्गुणों और कमज़ोरियों का परिणाम मानते रहे थे और शासन की अच्छाइयों को वह शाश्वत समझते आए थे। लेकिन 'यंग इंडिया' के 31 दिसंबर 1921 के अंक में उन्होंने लिखा—"अच्छाइयाँ तो नीरो और मुसोलिनी के राज्यों में भी कुछ-न-कुछ हो ही सकती हैं, लेकिन असहयोग का फैसला कर लेने के बाद तो हमें अच्छाइयों का विचार करना ही नहीं है...ब्रिटिश सरकार की उपकारी संस्थाएं लोक कथा के उस मणिधर साँप की तरह हैं, जिसके दाँतों में हलाहल विष भरा होता है।"

---

1. महादेव देसाई : 'मौलाना आज़ाद', आगरा (1940), पृष्ठ 27।

2. अंग्रेज़ी साप्ताहिक "यंग इंडिया" और उसके हिन्दी तथा गुज़राती संस्करण 'नवजीवन' गांधीजी ने प्रथम सत्याग्रह आंदोलन के समग्र 1919 में शुरू किए थे। जैसाकि खुद महात्माजी ने अपनी 'आत्मकथा' में लिखा है, "इन अखबारों के ज़रिए मैंने सत्याग्रह की शिक्षा जनता को यथाशक्ति देना शुरू किया। पहले दोनों अखबारों की थोड़ी ही प्रतियाँ छपा करती थीं; सो बढ़ते-बढ़ते 40,000 के आसपास पहुँच गई थी।...दोनों अखबारों ने आड़े समय पर जनता की अच्छी सेवा की और फौजी कानून के जुल्म को हल्का करने में हिस्सा लिया।" बाद में इनको बंद करके इनकी जगह 'हरिजन' और 'हरिजन सेवक' शुरू किए। 'हरिजन सेवक' 'हरिजन' का हिन्दी संस्करण था और दूसरी भी कई भारतीय भाषाओं में उसके संस्करण प्रकाशित होते थे।

२०. एक साल में स्वराज्य

गांधीजी ने खिलाफत कमेटी और कांग्रेस के आगे सरकार से अहिंसात्मक असहयोग का जो कार्यक्रम रखा था और जिसे देश की जनता और सरकार ने इतना क्रांतिकारी समझा था वह वास्तव में गांधीजी के व्यक्तित्व और उनके दार्शनिक विचारों का ही अभिन्न अंग था। 1909 में उन्होंने लिखा था—"भारत को अंग्रेज़ों ने नहीं जीता, हमीं ने उसे उनके हवाले कर दिया। भारत में वे अपनी ताकत के बलपर नहीं हैं, हमीं उन्हें यहाँ रखे हुए हैं।"[1] इसके एक साल बाद कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन को भेजे गए अपने संदेश में उन्होंने कहा था, "पेसिव रेजिस्टेंस ही भारत में हमारी सारी तकलीफों की रामबाण दवा है।" इसलिए जब वह इस नतीजे पर पहुँचे कि सरकार को किसी भी तरह सुधारा नहीं जा सकता तो "कुशासक को किसी भी तरह का सहयोग न देने के प्रजा के अनंतकालीन अधिकार"[2] का उपयोग करने की उन्होंने घोषणा कर दी। सरकारी शिक्षा-संस्थाओं का बहिष्कार करके इनके स्थान पर राष्ट्रीय विद्यापीठ स्थापित करने की उनकी योजना में रवीन्द्रनाथ ठाकुर, मदनमोहन मालवीय, श्री निवास शास्त्री और सी. आर. दास जैसे उनके प्रमुख समकालीनों को भी गहरा संदेह था। लेकिन स्वयं गांधीजी को कोई संदेह नहीं था, क्योंकि वह स्वयं अपने लड़कों पर इस नई शिक्षा-प्रणाली का प्रयोग कर चुके थे। शिक्षा के लिए अंग्रेज़ी माध्यम को वह भारतीय बालकों को उन्हीं के अपने देश में विदेशी बनाने की दूषित प्रथा कहकर निंदा करते थे। और जैसा वह कहते थे वैसा स्वयं करते भी थे। 1915 में जब दक्षिण अफ्रीका से लौटने पर बंबई में उनका स्वागत किया गया था तो उसमें अपना भाषण गुज़राती में देकर उन्होंने वहाँ के सभी गण्य-मान्य नागरिकों को स्तंभित कर दिया था। 1918 में वाइसराय और उनके सहयोगियों को 'ठेस' भी पहुँचाई थी।

भारत में ब्रिटिश अदालतों के अनिष्टकारी प्रभाव के बारे में तो वह अपना निर्णय 1908 में अपनी पुस्तक 'हिन्द स्वराज्य' में ही दे चुके थे—"वकीलों ने भारत को गुलाम बनाया, हिन्दू-मुसलमानों के झगड़ों को बढ़ावा दिया और यहाँ अंग्रेज़ी सत्ता को मजबूत किया। अंग्रेज़ी शासनकाल की अदालतों की लंबी और खर्चीली कार्रवाइयों और उनके सत्यानाशी परिणामों के

बारे में अपने समय के प्रमुख वकील पं. मोतीलाल नेहरू ने ठीक ही कहा था कि “अदालत में जो जीता सो हारा, जो हारा सो मरा।”

'स्वदेशी' अर्थात् अपने ही देश की बनी चीजों का इस्तेमाल गांधीजी के असहयोग-आंदोलन का दूसरा कार्यक्रम था। दक्षिण अफ्रीका से लौटकर आने के बाद से ही वह 'स्वदेशी' को अपनाने का उपदेश देते आ रहे थे। फरवरी 1916 में उन्होंने ईसाई धर्म-प्रचारक पादरियों के एक सम्मेलन में कहा था कि भारत स्वयं ज़िन्दा रहे बिना लंकाशायर के लिए ज़िन्दा नहीं रह सकता। विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार और हाथ की कती-बुनी खादी के उपयोग की उनकी नीति को असहयोग-आंदोलन के जमाने में भारत सरकार और कई भारतीय राष्ट्रभक्तों ने भी भारत के साथ ब्रिटेन की व्यापार नीति पर करारा आघात कहा था। लेकिन गांधीजी विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार को राजनैतिक दबाव की तरह बिलकुल ही इस्तेमाल नहीं कर रहे थे। उनका मूल उद्देश्य तो इसके द्वारा भारत के प्राचीनतम गृहोद्योग को पुनर्जीवित करना ही था। खेती पर दबाव इतना अधिक बढ़ गया था कि किसानों को पूरी रोजी नहीं मिल पा रही थी; चरखा अच्छी फसलवाले साल में उन्हें कुछ रोजी दे सकता था और सूखे-गीले साल में तो वह भुखमरी और बेकारी के खिलाफ उनका 'बीमा' ही था।

कौंसिलों के बहिष्कार को लेकर कांग्रेस में बड़े बहस-मुवाहसे हुए और यहाँतक कहा गया कि धारा-सभाएं तो स्वशासन की कला सिखाने के आवश्यक केन्द्र हैं। लेकिन गांधीजी इस विचारधारा से ज़रा भी सहमत नहीं थे। न उन्होंने कौंसिलों के अंदर जाकर 'भीतर से तोड़-फोड़' करने की नीति का ही समर्थन किया। दिसंबर 1919 में भी, जबतक अंग्रेज़ों की ईमानदारी में उनका विश्वास बना रहा, उन्होंने मोंटेगू-चेम्स-फोर्ड सुधारों को कार्यान्वित कहने की सिफारिश की; लेकिन जब विश्वास उठ गया तो वह कौंसिलों को देशसेवकों के मार्ग की बाधा और प्रलोभन समझने लगे।

इस तरह गांधीजी के असहयोग-आंदोलन का सार था, अंग्रेज़ी अदालतों, शिक्षण-संस्थाओं, कौंसिलों और विदेशी कपड़ों का बहिष्कार। अपने इस आंदोलन को उन्होंने कभी अवैधानिक नहीं समझा, क्योंकि उनके शब्द-कोष में वैधानिक और नैतिक एक-दूसरे के पर्याय

ही थे। ब्रिटिश सत्ता इस बात को बहुत अच्छी तरह समझ गई थी कि असहयोग-आंदोलन सफल हो गया तो उसकी सारी प्रशासनिक मशीनरी ठप्प हो जाएगी। लार्ड चेम्स फोर्ड ने पहले तो “हद दर्ज़े की बेवकूफी" कहकर इस आंदोलन की खिल्ली उड़ाई; साथ ही, यह भी कहा कि जिनका सरकार से कुछ भी लेना-देना है, उन्हें यह तबाह कर देगी। साफ है कि वह ऐसी बात कहकर देश के संपन्न वर्गों को आतंकित करना चाह रहे थे। कई नरम दली (माडरेट) नेताओं ने भी इस आंदोलन की आलोचना में सरकार का साथ दिया। मुहम्मदअली जिन्ना ने कांग्रेस के दिसंबर 1920 के नागपुर-अधिवेशन में इस आंदोलन का ज़बर्दस्त विरोध किया। गोखले के उत्तराधिकारी श्रीनिवास शास्त्री ने “सरकार का अनुचित और अविवेकपूर्ण विरोध करनेवाले अव्यावहारिक कार्यक्रम” के खतरों से अपने देशवासियों को सचेत किया।

असहयोग-आंदोलन के विरोध में ब्रिटिश सरकार और देश के माडरेट नेताओं की भी मुख्य दलील यह थी कि इससे अराजकता फैल जाएगी। गांधीजी ने अराजकता के खिलाफ पहले से ही पेशबंदी कर ली थी, लेकिन असहयोग को नकारात्मक और खतरनाक आंदोलन कहकर निंदित करनेवालों ने उन सतर्कताओं की ओर ध्यान ही नहीं दिया। वास्तव में तो उस आंदोलन को 'असहयोग' का नाम देना ही भ्रामक था; क्योंकि जहाँ कुछ संस्थाओं को तोड़ा जा रहा था वहीं उनकी जगह नई संस्थाओं का निर्माण भी तो किया जाने को था। सरकारी स्कूलों और कॉलेजों को छोड़नेवाले शिक्षकों और विद्यार्थियों से राष्ट्रीय विद्यापीठों में सम्मिलित होने के लिए कहा गया था, अदालतों का बहिष्कार करनेवाले वकीलों और विवादार्थियों (मुवक्किलों) से कहा गया था कि वे अपने मुकदमे पंचायतों में ले जाएं; सेना और पुलिस से इस्तीफा देनेवालों को कांग्रेस और खिलाफत-समिति के स्वयंसेवक दलों में भर्ती होने के लिए कहा गया था। केवल विदेशी वस्त्र का बहिष्कार करके ही नहीं रह जाना था, उसके साथ-ही-साथ शहर और गाँदों के लोगों के पहनने के लिए खादी और कताई-बुनाई को प्रोत्साहन देने की बात भी थी। इस तरह बहिष्कार के द्वारा लोगों के बेकार और निठल्ले हो जाने का कोई डर नहीं था, वह निरा नकारात्मक ही नहीं रचनात्मक आंदोलन भी था। फिर यह भी नहीं भूलना चाहिए कि मूल प्रस्ताव के अनुसार “असहयोग को अनुशासन व आत्म-त्याग के एक साधन के रूप में पेश किया गया" था। सरकारी

उपाधियों और अवैतनिक पदों के परित्याग से आरंभ करके आंदोलन को सामूहिक सविनय अवज्ञा और करबंदी तक पहुँचाने के लिए बीच में कई सीढ़ियाँ रखी गई थीं और हर जिले अथवा प्रांत को उनके अनुशासन और संगठन की स्थिति के ही अनुसार एक के बाद दूसरा अगला कदम उठाने की अनुमति देने की बात थी। पूरा नियंत्रण गांधीजी ने अपने हाथ में रखा था। जहाँ अनुशासन की जितनी तैयारी होगी उन्हें उसी स्तर तक असहयोग करने की इजाज़त दी जाएगी और यदि आंदोलन के उग्र रूप धारण करने की ज़रा-सी भी संभावना दिखाई दी तो फौरन आंदोलन बंद कर दिया जाएगा, यह बात गांधीजी ने आरंभ में ही स्पष्ट कर दी थी। इस तरह अहिंसा शांति की सबसे बड़ी गारंटी थी जिसपर गांधीजी बहुत ज़ोर दे रहे थे। असहयोग ब्रिटिश राज्य से किया जा रहा था, लेकिन अंग्रेज़ों से नफरत या बुरा व्यवहार करने की कड़ी मनाही थी। गांधीजी ने बार-बार इस बात की घोषणा की थी कि वे किसी भी अंग्रेज़ के साथ ऐसा व्यवहार नहीं करेंगे जैसा अपने सगे भाई से नहीं कर सकते। और कई सैद्धांतिक प्रश्नों पर असहयोग तो वह अपने सगे भाई से भी कर चुके थे।

गांधीजी असहयोग-आंदोलन के आत्मपरिष्करणवाले अंग पर बराबर ज़ोर देते और उसके नैतिक और आध्यात्मिक पक्ष पर उसमें सम्मिलित होनेवालों का ध्यान बार-बार आकर्षित करते रहे। भारत में अंग्रेज़ी राज्य की जड़ें मजबूत हुई थीं लोगों की आपसी फूट, हिंसा और भ्रष्टाचार के कारण, इसलिए जनता को इन बुराइयों से मुक्त होना ही पड़ेगा। अंग्रेज़ों का हृदय- परिवर्तन करने से पहले स्वयं भारतीयों को अपना हृदय-परिवर्तन करना होगा । यही काफी नहीं है कि भारतीय जनता सरकार से निडर हो जाए, उसे सांप्रदायिकता, अस्पृश्यता, शराब आदि मादक द्रव्यों के सेवन, बेगार आदि सभी सामाजिक बुराइयों से भी अपना पीछा छुड़ाना होगा।

कांग्रेस के सितंबर 1920 के कलकत्ता अधिवेशन में गांधीजी ने कहा था कि यदि देश ने असहयोग के कार्यक्रम को सही ढंग से अपनाया तो एक साल में स्वराज्य प्राप्त किया जा सकता है। सुभाषचंद्र बोस ने इसे “नासमझी ही नहीं बचकानापन भी” कहा था।[3] भारत की भूमि में सौ वर्षों से पैर जमाए हुए ब्रिटिश साम्राज्य को अहिंसक आंदोलन के द्वारा सालभर में उखाड़ फेंकने की बात वैसे तो बहुत ही आशावादितापूर्ण लगती है, लेकिन गांधीजी ने कोई राजनैतिक

भविष्यवाणी या वादा तो किया नहीं था। उनकी राय में सदियों से सोई हुई जनता को जगाने, निडर बनाने और कमर सीधी करके खड़ा करने में एक साल का समय बहुत काफी था। भारतीय जनता का नैतिक कायाकल्प ही ब्रिटिश सरकार और ब्रिटिश जनता के विचारों को बदल सकता था। गांधीजी का कहना था कि “आज़ादी जन्म लेने की तरह है। जबतक हम पूरी तरह आज़ाद नहीं हो जाते गुलाम बने रहते हैं। और जन्म तो सभी का एक क्षण में ही होता है।” और उन्होंने यह भी कहा कि मैंने तो राष्ट्र के आगे एक व्यावहारिक कार्यक्रम रख दिया है। अगर राष्ट्र युगों पुरानी अस्पृश्यता और नशाखोरी के अभिशाप से पीछा छुड़ाकर केवल एक साल में, अपने फुरसत के समय का उपयोग कर साठ करोड़ की लागत की खादी तैयार कर सके तो उसका पुनर्जन्म हुआ ही समझना चाहिए। ऐसे राष्ट्र में अनुशासन, साहस और आत्मत्याग की कोई कमी न होगी; उसकी तेजस्विता से आश्वस्त इंग्लैंड को यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि बराबरी की भागीदारी के अतिरिक्त भारत से व्यवहार करने का दूसरा कोई आधार हो ही नहीं सकता। स्वराज्य इंग्लैंड से उपहार में नहीं मिल सकता। “पार्लमेंट तो अपने अधिनियम से भारतीय जनता की घोषित आकांक्षा पर केवल मुहर लगाने का काम करेगी, जैसाकि उसने दक्षिण अफ्रीका के संघ के समय किया था।“

किसी भी राजनैतिक कार्यक्रम की सिद्धि के लिए उपयुक्त राजनैतिक संगठन भी होना चाहिए, यह बात गांधीजी को पच्चीस वर्ष की उम्र में ही मालूम हो गई थी, जब नेटाल के भारतीयों की अधिकारों की लड़ाई लड़ने के लिए उन्होंने दक्षिण अफ्रीका में नेटाल भारतीय कांग्रेस की स्थापना की थी। अब 'अहिंसक असहयोग' के एक सार्थक संगठन के रूप में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को नए सिरे से ढालने और संगठित करने की आवश्यकता गांधीजी ने अनुभव की। देश को वार्षिक सम्मेलन और लच्छेदार भाषण करने के मंच की नहीं, जनता के सतत संपर्क में रहनेवाले प्राणवान और लड़ाकू संगठन की आवश्यकता थी। समय के अनुकूल कांग्रेस का नया विधान तैयार करने में गांधीजी का हाथ था और वह विधान कांग्रेस के नागपुर-अधिवेशन में 1920 के दिसंबर महीने में अंगीकृत कर लिया गया। उस विधान में 'सभी वैध और शांत उपायों से स्वराज्य की प्राप्ति' कांग्रेस का लक्ष्य घोषित किया गया था। इस तरह सत्याग्रह को कांग्रेस के

विधान में विधिपूर्वक स्थान प्राप्त हुआ। कांग्रेस संगठन को पहले से अधिक प्रातिनिधिक परंतु साथ ही ऐसा स्वरूप दिया गया, जिससे दो अधिवेशनों के बीच के समय में रोज़मर्रा के कामों को ज्यादा अच्छी तरह से किया जा सके।[4] अबतक कांग्रेस उच्च और मध्यम वर्ग की ही बपौती थी, लेकिन अब पहली बार इसके दरवाज़े छोटे शहरों और गाँवों में बसनेवाली उस लाखों-करोड़ों जनता के लिए खोल दिए गए, जिसकी राजनैतिक चेतना को गांधीजी जगाने में लगे हुए थे।

कलकत्ता में तीन महीने पहले एक विशेष अधिवेशन करके असहयोग का जो प्रस्ताव पारित किया गया था, दिसंबर 1920 के नागपुर अधिवेशन में उसपर स्वीकृति की मुहर लगा दी गई। असहयोग के कार्यक्रम का विरोध यहाँपर भी हुआ। स्वयं अधिवेशन के सभापति विजय राघवाचार्य ने उसकी आलोचना की और केलकर, जिन्ना और श्रीमती बेसेंट ने भी काफी विरोध किया। लेकिन आम प्रतिनिधियों के जोश और उत्साह के आगे विरोध टिक न सका; असहयोग कांग्रेस का मुख्य कार्यक्रम और गांधीजी उसके निर्विवाद नेता स्वीकार किए गए। उस दिन से लेकर जीवन के अंतिम दिन तक गांधीजी ने कांग्रेस और भारतीय राजनीति को जिस हद तक प्रभावित किया उसकी मिसाल विश्व के इतिहास में ढूँढ़े नहीं मिलता।

अब गांधीजी महात्मा थे; स्वेच्छा अपनाई हुई गरीबी, सादगी, विनम्रता और साधुता आदि गुणों के कारण वह अतीतकालीन ऋषि ही प्रतीत होते थे, जो मानो देश की मुक्ति के लिए पुराणों के बीते कल से वर्तमान में चले आए हों। देश की लाखों-करोड़ों जनता तो उन्हें अवतार पुरुष ही मानने लगी थी। एक बार बिहार के दौरे में जब मोटर का टायर फट गया तो गांधीजी ने उसमें से उतरने पर सड़क के किनारे एक बुढ़िया को खड़ा पाया। कहते हैं उसकी उम्र 104 वर्ष की थी और वह बिना कुछ खाए-पिए सारे दिन बरसते पानी में वहाँ खड़ी इंतज़ार करती रही थी। जब किसीने उससे पूछा कि "अम्मा, तुम किसका रास्ता देख रही हो ?” तो उसने कहा, “बेटा, तुममें महात्मा गाँधी कौन है ?” इस बीच गांधीजी भी उसके पास पहुँच गए थे। उन्होंने पूछा, “मैया, तुम गांधी को क्यों देखना चाहती हो ?” “वह भगवान् के अवतार हैं, मैं उनके दर्शन करना चाहती हूँ।” बुढ़िया ने जवाब दिया था। और पूरे पच्चीस बरसों तक लोग उनके पास केवल मार्गदर्शन के लिए ही नहीं, दर्शनों के लिए भी आते रहे। लोग महात्माजी के दर्शनों को काशी आदि तीर्थों की

यात्रा से भी अधिक पुण्यप्रद मानते थे। कभी-कभी तो गांधीजी जन सामान्य की इस श्रद्धा-भक्ति से दु:खी भी हो जाया करते थे। अपनी इस आत्मपीड़ा को व्यक्त करते हुए उन्होंने लिखा भी था—“महात्मा होने के कष्ट को केवल महात्मा ही जान सकता है।” लेकिन जनता की यह अपार श्रद्धा-भक्ति ही थी, जिसकी बदौलत वह भारत के सार्वजनिक जीवन को इतना प्रभावित कर सके। जवान या बूढ़ा, वह सभीमें समान रूप से प्राण फूँक देते थे। जवाहरलालजी ने अपनी आत्मकथा 'मेरी कहानी' में असहयोग-आंदोलन में गिरफ्तार होनेवाले उस किशोर की कहानी का विशद वर्णन किया है, जिसे टिकटी पर टाँगकर कोड़े मारे गए थे और चमड़ी उधेड़कर खून के फव्वारे उड़ानेवाले हर कोड़े की मार पर वह ‘महात्मा गांधी की जय' का नारा तबतक बुलंद करता रहा, जबतक पीड़ा से बेहोश न हो गया।

गांधीजी ने भारतीय जनता के दिल के तारों को झनझना दिया था। साहस और त्याग की उनकी अपील को लोगों ने हाथों-हाथ लिया और वह स्वयं भी साहस और त्याग की जीवित मूर्ति ही थे। जैसाकि चर्चिल ने कहा था, वह 'नंगे फकीर' थे और उनकी इस फकीरी, संयम और आत्मत्याग के ही कारण भारत की जनता उन्हें अपने प्राणों के इतना निकट अनुभव करती थी। उनसे प्रेरणा पाकर देश में और भी कई फकीर शीघ्र ही पैदा हो गए। वैभवपूर्ण जीवन का परित्याग कर गांधीजी के नेतृत्व में जेल जानेवालों में पं. मोतीलाल नेहरू, बाबू राजेन्द्र प्रसाद, सी. आर. दास, सरदार वललभभाई पटेल, सी. राजगोपालाचार्य आदि अनेक महापुरुष थे। गांधीजी के संपर्क में आने के बाद उन लोगों के जीवन का सारा अर्थ-बोध ही बदल गया था। बड़ौदा के भूतपूर्व न्यायाधीश अब्बास तय्यबजी ने एक गाँव से लिखा था—“लगता है, मानो मेरी उम्र बीस बरस कम हो गई; ओह कितना अद्भुत अनुभव है। जनता के प्रति मेरा प्रेम उमड़ा आ रहा है और खुद जनता में से एक हो जाना कितने बड़े सम्मान की बात है ! यह सब उस फकीर के बाने की करामात है, जिसने सारे भेद-भाव को खत्म कर दिया, हर बाधा-बंधन को तोड़ बहाया।” पं. मोतीलाल नेहरू ने इलाहाबाद के उच्च न्यायालय में अपनी लाखों की प्रैक्टिस को लात मार दी थी; बीमारी के बाद किसी स्वास्थ्यप्रद स्थान में स्वास्थ्य लाभ करते हुए उन्होंने गांधीजी को जो पत्र लिखा था उसके कुछ अंश इस प्रकार हैं—“पहले के राजसी रसोड़े की जगह सिर्फ दो छोटी-

सी रसोइयाँ और नौकरों की पुरानी पलटन में से अकेला एक मामूली-सा नौकर—चावल, दाल और मसाले की तीन छोटी-छोटी थैलियाँ, जो मजे से एक खच्चर पर आ जाती हैं...शिकार को धता बताई, दूर-दूर तक पैदल घूमने निकल जाता हूँ, राइफल और बंदूकों की जगह किताबों और पत्र-पत्रिकाओं ने ले ली है...कहाँ से कहाँ जा गिरे ! लेकिन ज़िन्दगी का जो लुत्फ आज है वह पहले कभी न था।“

और असहयोग के इन्हीं दिनों के बारे में पंडित जवाहरलाल नेहरू भी अपनी पुस्तक में लिखते हैं कि “मैं आंदोलन में इस कदर डूब गया था कि पुराने मुलाकातियों, दोस्तों और किताबों का भी ध्यान न रहा; अखबार भी सिर्फ आंदोलन की खबरों के लिए ही पढ़ता था...यहाँतक कि अपने परिवार, पत्नी और बेटी को भी करीब-करीब भूल चला था।”[5]

---

1. गांधीजी : हिन्द स्वराज्य; सस्ता साहित्य मंडल (1958); पृष्ठ 34।
2. लार्ड चेम्स फोर्ड को 22 जून, 1920 को लिखा गांधीजी का पत्र।
3. बोस, सुभाषचंद्र : 'इंडियन स्ट्रगल'; कलकत्ता, 1948, पृष्ठ 104।
4. इस विधान की दो खूबियाँ थीं—एक तो कांग्रेस का प्रांतीय संगठन प्रांतों की भाषा के अनुसार यानी भाषावार प्रांतों के अनुसार किया गया और दूसरे अध्यक्ष, मंत्री और कोषाध्यक्ष सहित पंद्रह सदस्यों की एक कार्यकारिणी नियुक्त की गई, जिसने कांग्रेस के रोज़मर्रा के कार्य में एक क्रांति ही कर दी। —अनुवादक
5. नेहरू, जवाहरलाल : 'मेरी कहानी', सस्ता साहित्य मंडल।

२१. उत्कर्ष

1921 भारत की जागृति का साल था। सर्वत्र उत्साह की लहर फैली हुई थी और असहयोग-आंदोलन ज़ोर पकड़ता जा रहा था। 'एक साल में स्वराज्य' के नारे ने मजे-मजे से चली आती भारतीय राजनीति को जैसे बिजली ही छुआ दी थी। गांधीजी के 'साहस और बलिदान' के गुरु मंत्र से दीक्षित सारा राष्ट्र युगों पुराने बंधन और भय की नागफाँस को तोड़कर उठ खड़ा हुआ था। सरकार चिन्तित थी और कुछ परेशान भी; वह तय नहीं कर पा रही थी कि सत्याग्रह को दबाने के लिए क्या करे; वह नहीं जानती थी कि हिंसात्मक आंदोलनों के खिलाफ की जानेवाली कार्रवाइयों से सत्याग्रह-आंदोलन दब जाएगा या और ज़ोर पकड़ लेगा ?

गांधीजी के लिए वे दिन घोर व्यस्तता के थे। वह अपनी सामर्थ्य से कहीं अधिक काम कर रहे थे। देश का कोई भाग ऐसा नहीं था जहाँ का उन्होंने दौरा न किया हो ! वह छोटे-से-छोटे कार्यकर्ता से संपर्क बनाए हुए थे। नेताओं को वह बराबर निर्देश देते, उनका मार्ग-दर्शन करते और आवश्यकता पड़ने पर कान-खिंचाई भी करते रहते थे। रोज़ ढेरों चिट्ठियाँ आतीं और वह सबका यथायोग्य उत्तर देते थे। उनके सचिव और सहायक गण दूर-दराज के गाँवों के सही पते-ठिकाने मालूम करने के लिए रेलों की समय सारणियों और डाक-तार की निर्देशिकाओं के पन्ने रात-दिन पलटा करते थे। कई बार जब पत्र लिखनेवालों का नाम-पता बहुत कोशिश करने के बाद भी पढ़ने में न आता तो मूल चिट्ठी में से उसे काटकर लिफाफे पर चिपका दिया जाता था। दम मारने की फुर्सत नहीं मिलती थी, फिर भी गांधीजी 'यंग इंडिया' और 'नवजीवन' में लिखने के लिए वक्त निकाल ही लेते थे। इन पत्रों के हर पन्ने पर वह अपनी आत्मा को उड़ेल दिया करते थे। देशवासियों में साहस और आस्था का संचार करनेवाले उस समय के अधिकांश लेख गांधीजी ने रेलगाड़ियों के तीसरे दर्जे में यात्रा करते हुए ही लिखे थे। सोने के लिए मुश्किल से चार-पाँच घंटे का समय मिल पाता था और उसमें भी प्राय: विघ्न पड़ जाया करता था। दिन हो या रात उनके रास्ते की हर स्टेशन पर अपार मानव-मेदिनी दर्शन, स्वागत और जय-जयकार के लिए खड़ी ही होती थी। ‘महात्मा गांधी के साथ सात मास' नामक पुस्तक के लेखक श्रीकृष्णदास ने आसाम के एक गाँव के लोगों का उल्लेख किया है। लोगों ने ठान लिया था कि यदि गांधीजी की ट्रेन उनके स्टेशन पर

नहीं रोकी गई तो सब-के-सब पटरियों पर लेट जाएंगे और ट्रेन को आगे बढ़ने न देंगे। उन्होंने जो कहा था उसे कर दिखाया। और जैसे ही गाड़ी रुकी सारा गाँव आधी रात के समय जलती मशालें लिए गांधीजी के डिब्बे में घुस गया और महात्मा गांधी की जय-जयकार से दिग्दिगंत को गुंजा दिया।

लोगों की इस श्रद्धा-भक्ति से गांधीजी को बड़ा कष्ट होता था। बेरिसाल की एक सभा में उन्होंने लोगों को फटकारा भी—"जब मैं महात्मा गांधी की जय" का नारा सुनता हूँ तो मेरे कलेजे में तीर चुभ जाता है। अगर आपके इस तरह चिल्लाने से स्वराज्य मिल जाए तो मैं यह दुःख भी सह लूंगा। लेकिन जब मैं लोगों को अपना समय और शक्ति इस तरह बेकार चिल्लाने में खर्च करते हुए देखता हूँ और जो असली काम करने का है वह नहीं किया जाता है तो जी चाहता है कि मेरी जय बोलने के बदले मेरे लिए चिता चुन दी जाए और मैं उसकी जलती लपटों में कूदकर अपने हृदय की धधकती आग को शांत कर सकूँ।"

कठोर शब्दों में गांधीजी ने बहुत बड़ी बात कह दी थी; लेकिन साथ ही यह फटकार इस बात की द्योतक भी थी कि उस देश-व्यापी जोश-खरोश के समय भी वह चुपचाप रचनात्मक काम के किए जाने को ही अधिक महत्त्व देते थे।

लेकिन जनता को इस तरह जाग्रत होते देखकर गांधीजी को प्रसन्नता भी अवश्य होती थी। अपनी यात्राओं के दौरान किसी जगह उन्होंने कहा भी था, "महाकवि तुलसीदासजी ने जिस करुणा और दया का इतना बखान किया है उसकी जड़ें जमने लगी हैं।" स्वराज्य के लिए उनका बताया हुआ रास्ता बिलकुल सीधा और साफ था। भारत अंग्रेज़ों की तोपों के ज़ोर से नहीं, खुद हिन्दुस्तानियों की खामियों और कमजोरियों की वजह से गुलाम था। जिस दिन भारत अपने को अस्पृश्यता, कौमी झगड़े, नशाखोरी, विदेशी कपड़ों और अंग्रेज़ी सरकार द्वारा संचालित या सहायता-प्राप्त संस्थाओं की गुलामी से मुक्त कर लेगा, उसमें एक नई शक्ति का संचार हो जाएगा। स्वराज्य ब्रिटिश पार्लमिंट से इनाम के तौर पर मिलनेवाला नहीं था। गांधीजी ने तो, उन्हींके शब्दों में, "यहाँतक कहने की धृष्टता कर डाली थी कि स्वराज्य भगवान् भी नहीं दे सकता। उसे तो खुद हमीं को अर्जित करना होगा।"

गांधीजी ने पहली बार अप्रैल 1919 में कानून भंग किया था। उस समय प्रांतीय और केन्द्रीय दोनों ही सरकारों ने बड़ी मुस्तैदी से काम लिया। वह दिल्ली जा रहे थे; उन्हें रास्ते में ही गिरफ्तार कर एक स्पेशल ट्रेन से फिर बंबई पहुँचा दिया गया और वहाँ पहुँचते ही रिहा भी कर दिए गए। उनकी अनुपस्थिति में गुज़रात में उपद्रव हो गया था, और फिर कुछ दिनों के बाद पंजाब में भी हुआ। इसलिए गांधीजी ने कुछ समय के लिए सविनय अवज्ञा के आंदोलन को स्थगित कर दिया था।

शुरू में तो सरकार भी जोश में आ गई थी और उसने गांधीजी को गिरफ्तार कर लिया और उनकी गिरफ्तारी को कोई खास महत्त्व नहीं दिया। लेकिन बाद में सोचने-विचारने पर सरकार को सत्याग्रह के मुकाबले का यह ढंग, यानी शक्ति का प्रयोग करना, उचित नहीं प्रतीत हुआ। उधर 1919 के बसंत में जो घटनाएं घटीं, उन्होंने जनता पर गांधीजी के अत्यधिक प्रभाव को सिद्ध कर दिया था; और ऐसे व्यक्ति की गिरफ्तारी खतरे से खाली नहीं हो सकती थी। फिर गांधीजी ने आंदोलन को पहले स्थगित और बाद में सीमित भी कर दिया था; और सरकार का ऐसा खयाल था एक तो शायद वह कोई बड़ा देशव्यापी आंदोलन चलाएंगे ही नहीं और दूसरे यह कि कांग्रेस के सब नेता और सारे गुट उनका साथ नहीं देंगे। इसलिए उनकी पहली गिरफ्तारी के समय की मुस्तैदी गवर्नरों और वाइसरायों द्वारा लगभग तीन वर्षों तक नहीं दुहराई गई।

तत्कालीन होम मेंबर सर विलियम विंसेंट ने 26 अप्रैल, 1919 के एक पत्र में लिखा था— गांधी और उनकी खामखयालियों से काफी लोग बहुत जल्दी तंग आ जाएंगे।" बंबई के गवर्नर सर जार्ज लायड ने 11 जून, 1919 को वाइसराय के नाम जो पत्र भेजा था, उसमें भी लगभग ऐसी ही बात कही गई थी—"मुझे यहाँ की फिक्र है, क्योंकि गांधी चुप नहीं बैठे हैं...पंजाब के बारे में उनका कुछ करने का इरादा ज़रूर है, मगर वह क्या है, इसका ठीक-ठाक पता मुझे अभी तक लग नहीं पाया है। उनकी सभाओं में ज्यादा लोग नहीं आते और उनके अनुयायी भी काफी असंतुष्ट मालूम पड़ते हैं...गांधी को अगर सूबे से बाहर निकालते हैं तो उसकी मुखालफत में ज़रूर ज़बर्दस्त तूफान उठ खड़ा होगा और न उनको गिरफ्तार करने की बात ही मेरी समझ में आती है। होम रूल पार्टी में तो यहाँ पूरी तरह फूट पड़ गई है। उसके कई बड़े नेताओं ने इस्तीफे दे दिए हैं...अगर

गांधी का बाबेला न हो तो यहाँ की हालत कुल मिलाकर संतोषप्रद समझनी चाहिए... लेकिन गांधी ही तो झगड़े की सच्ची जड़ हैं। वह हमें मजबूर ही कर दें तो बात दूसरी है, वरना हमारे लिए तो गिरफ्तार गांधी से आज़ाद गांधी कम ही खतरनाक हैं। उनका असर रोज़-ब-रोज़ कम होता जा रहा है। वह भी इस बात को जानते हैं और अपने असर को फिर से कायम करने के लिए कोई बहुत तेज कदम उठाए बगैर रहेंगे नहीं ।"

सरकारी पक्ष के इन्हीं विचारों के कारण, सितंबर 1920 में कांग्रेस द्वारा असहयोग कार्यक्रम के अपना लिए जाने पर भी भारत सरकार ने 4 सितंबर, 1920 के अपने गश्ती पत्र में हस्तक्षेप न करने को ही 'सबसे सही नीति' और 'समझदारी की बात' कहा था—"असहयोग की योजना बहुत ही मूर्खतापूर्ण है और भारत सरकार को आशा है कि सामान्यतः भारतवासी इसे नामंजूर ही कर देंगे...इस समय तो हस्तक्षेप न करने की नीति सबसे समझदारी की बात होगी । भारत सरकार की राय में इस समय आंदोलन के नेताओं के खिलाफ नए दमनकारी कानून बनाना या प्रचलित फौजदारी कानून के अंतर्गत उनपर मुकदमे चलाना बड़ी भारी भूल होगी । इस तरह से तो वे शहीद बन जाएंगे और काफी अनुयायी जमा कर लेंगे, जो यदि नेताओं को न छोड़ा गया तो आंदोलन से दूर ही रहेंगे ।"

2 अप्रैल, 1921 को लार्ड चेम्स फोर्ड की जगह लार्ड रीडिंग भारत के वाइसराय बनकर आए । अप्रैल महीने का अंत होते-होते उन्हें अपने एक पत्र में कहना पड़ा—"इंग्लैंड में था तो भारत की गंभीर हालत की बात जानकर मुझे कोई खास चिन्ता नहीं हुई थी, लेकिन यहाँ आकर हालत की जाँच-पड़ताल की तो मुझे सारे मामले पर गंभीर रुख अख्तियार करने के लिए मजबूर होना पड़ा ।" उन्होंने आंदोलन पर ज़बर्दस्त प्रहार करने का निश्चय कर लिया था, लेकिन इसके लिए समय चाहते थे, सो उन्होंने, उनके जीवनी-लेखक पुत्र के शब्दों में 'फेबियन नीति'[1] को अपनाया। मई का आधा महीना बीत जाने के बाद उन्होंने गांधीजी से भेंट की । पं. मदनमोहन मालवीय के प्रयत्नों से यह भेंट तय हुई थी । भेंट का मुख्य उद्देश्य खिलाफत आंदोलन के कुछ नेताओं द्वारा हिंसा को भड़कानेवाले तथाकथित भाषणों को लेकर जो गलतफहमी पैदा हो गई थी उसे दूर करना था । वाइसराय को यह शिकायत थी कि जब अफगानिस्तान के अमीर द्वारा

भारत पर आक्रमण करने की अफवाह गरम थी तो मौलाना मुहम्मद अली ने अफगानिस्तान का हवाला देकर जो भाषण किए, वे हिंसा को भड़कानेवाले थे। गांधीजी को वाइसराय की शिकायत सही प्रतीत हुई और वह मौलाना मुहम्मद अली से उन भावों का सार्वजनिक रूप से प्रतिवाद करवाने के लिए राज़ी हो गए । इसमें गांधीजी का उद्देश्य अपने अनुयायियों और वाइसराय को भी यह विश्वास दिलाना था कि उनके आंदोलन का मुख्य आधार अहिंसात्मक ही था। लेकिन वाइसराय का दृष्टिकोण कुछ और ही था । वह तो चाणक्य-नीति से काम ले रहे थे—"मुहम्मद अली हिन्दू और मुसलमानों को जोड़नेवाली कड़ी हैं; अगर उनमें और गांधीजी में झगड़ा हो गया तो वह कड़ी टूट जाएगी। अगर मुहम्मद अली ने गांधीजी का कहना मान लिया, और वह कहना मानकर अवश्य ही प्रतिवाद कर देंगे, तो उनकी (मुहम्मद अली की) सार्वजनिक प्रतिष्ठा खत्म हो जाएगी ।"[2] लार्ड रीडिंग की इस चाणक्य-नीति से इंग्लैंड के उपनिवेश-मंत्री इतने प्रसन्न हए थे कि उन्होंने वाइसराय को लंदन से बधाई का एक तार भेजा।

लेकिन इस सबके बावजूद अपने पुत्र को लिखे निज़ी पत्र में लार्ड रीडिंग ने स्वीकार किया है कि गांधीजी से मिलकर वह उल्लसित और रोमांचित हो जाया करते थे। उसी पत्र में उन्होंने गांधीजी के धार्मिक और नैतिक विचारों का उल्लेख करते हुए उन विचारों की सराहना की है और साथ ही यह भी कहा है कि राजनीति में धर्म और नैतिकता को घुसेड़ने की बात उनकी (लार्ड रीडिंग की) समझ में नहीं आती। गांधीजी लार्ड रीडिंग से सब मिलाकर छ: बार मिले थे और उन दोनों ने पंजाब के 1919 के उपद्रव, खिलाफत आंदोलन, स्वराज्य का अर्थ आदि कई विषयों पर चर्चाएं की थीं।

गांधीजी और अली बंधुओं में मन-मुटाव होने की जो आशा भारत सरकार ने लगा रखी थी वह फलीभूत नहीं हुई। सितंबर, 1921 में जब बंबई की सरकार ने अली-बंधुओं को गिरफ्तार कर उनपर भारतीय सैनिकों को "अंग्रेज़ी फौज़ में भरती न होने और जो भर्ती हो चुके हैं उन्हें नौकरी छोड़ देने" की विद्रोहात्मक बात कहने का आरोप लगाया तो गांधीजी सहित पचासेक नेताओं ने अपने हस्ताक्षरों से घोषणा-पत्र प्रकाशित कर सभी भारतीय सैनिकों और सिविलियनों को सरकारी नौकरी छोड़कर जीवन-निर्वाह का कोई और प्रबंध कर लेने की सलाह दी थी।

प्रिंस आफ वेल्स की भारत-यात्रा का कार्यक्रम तो लार्ड रीडिंग के भारत का वाइसराय बनकर आने से पहले ही तैयार हो गया था। लेकिन लार्ड रीडिंग देश की बिगड़ी हुई राजनैतिक परिस्थिति के बावजूद युवराज के दौरे को स्थगित करने के पक्ष में नहीं थे। उन्होंने उपनिवेश-मंत्री को लिखा था—"इस समय दौरे को स्थगित करना असहयोग-आंदोलन की ताकत के आगे झुक जाना ही नहीं, इंग्लैंड, दूसरे सभी उपनिवेशों और सारी दुनिया के सामने यह स्वीकार कर लेना होगा कि भारत इतना विद्रोही हो गया है कि वहाँपर राजकुमार को भेजना सुरक्षित नहीं समझा गया।"

17 नवंबर, 1921 को जब प्रिंस आफ वेल्स बंबई पहुँचे तो सरकारी स्वागत-समारोह में असहयोग-आंदोलन में भाग लेनेवालों में से एक भी उपस्थित नहीं था। गांधीजी उस दिन बंबई में ही थे और सवेरे एक विशाल आम सभा में विदेशी कपड़ों की होली उन्होंने जलाई थी; तीसरे पहर शहर में दंगा हो गया और युवराज एडवर्ड के स्वागत में सम्मिलित होनेवाले यूरोपियनों, पारसियों और अन्य राजभक्तों पर हमले भी हुए। गांधीजी और उनके साथियों ने जी-तोड़ कोशिशें कीं, गांधीजी ने खुद जा-जाकर लोगों को समझाया, उपवास भी किया तब कहीं जाकर बड़ी मुश्किलों से शांति स्थापित हो सकी। दूसरे शहरों में दंगे तो नहीं हुए, लेकिन लोगों ने स्वागत-समारोह का पूर्ण बहिष्कार कर ब्रिटिश राज्य के प्रति अपनी वास्तविक भावनाओं का बहुत अच्छी तरह परिचय दे दिया । राजकुमार जहाँ भी गए अधिकारियों ने उनके सम्मान में परेड, स्वागत-समारोह और भोज आदि का पूरा-पूरा प्रबंध किया था, लेकिन जैसाकि ड्यूक आव विंड्सर ने अपने संस्मरणों में लिखा है, "सड़कें सूनी, दुकाने बंद और चारों ओर सन्नाटा" था।

प्रिंस आफ वेल्स का कलकत्ते का दौरा दिसंबर, 1921 के अंतिम सप्ताह में रखा गया था। वाइसराय घबराए कि कहीं दूसरे शहरों की तरह यहाँ भी हड़ताल और विरोधी प्रदर्शन न होने लगें। उन्होंने तुरंत पं. मदनमोहन मालवीय की मध्यस्थता से कांग्रेस के साथ समझौता-वार्ता के प्रयत्न शुरू कर दिए। मालवीयजी ने 16 दिसंबर, 1921 को गांधीजी को तार से सूचित किया कि वह गोलमेज-परिषद् बुलवाने के लिए वाइसराय के पास एक प्रतिनिधि-मंडल ले जाना चाहते हैं; अगर वाइसराय ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर नेताओं को छोड़ दिया, तो क्या वह जबतक

गोलमेज-परिषद् की बैठकें होती रहेगी तबतक के लिए युवराज के बहिष्कार और सविनय अवज्ञा के आंदोलन को स्थगित कर देंगे ? ठीक यही प्रस्ताव सी. आर. दास को भी भेजा गया, जो उस समय कलकत्ते की प्रेसिडेंसी जेल में सज़ा काट रहे थे। सी. आर. दास और मौलाना अबुल कलाम आज़ाद को मालवीयजी का यह प्रस्ताव विचारणीय लगा और उन्होंने तार द्वारा गांधीजी से इसको स्वीकार कर लेने का अनुरोध किया। गांधीजी ने स्वीकृति के लिए दो शर्तें रखीं—एक तो यह कि परिषद् के सदस्यों के बारे में और उसकी तिथियाँ पहले से तय हो जानी चाहिए, और दूसरे यह कि अन्य राजनैतिक बंदियों के साथ-साथ अली-बंधुओं को भी रिहा किया जाना चाहिए। मालवीयजी इस तरह का आश्वासन न दे सके, इसलिए समझौता-वार्ता वहीं भंग हो गई।

अब दमन का चक्र ज़ोरों से चल पडा। दिसंबर, 1921 और जनवरी, 1922 में लगभग तीस हज़ार लोगों को जेलों में ठूँस दिया गया। सभी तरह के स्वयंसेवक संगठन गैर-कानूनी कर दिए गए; सभाओं और जलूसों को बल-प्रयोग करके तोड़ा जाने लगा। आधी रात में कांग्रेस और खिलाफत कमेटियों के दफ्तरों के ताले तोड़कर तलाशियाँ लेना तो आम बात हो गई थी। उधर राजनैतिक बंदियों के साथ जेलों में सख्तियाँ की जाने लगीं। इन्हीं परिस्थितियों में दिसंबर, 1921 में कांग्रेस का अहमदाबाद में अधिवेशन हुआ और कांग्रेस-संगठन तथा आंदोलन को चलाने का सारा अधिकार गांधीजी को सौंप दिया गया। कांग्रेस के भीतर कार्यकर्ता इस बात पर बहुत ज़ोर दे रहे थे कि संघर्ष को और तेज़ किया जाए और सविनय अवज्ञा को अधिक व्यापक पैमाने पर शुरू किया जाए। गांधीजी के सत्याग्रह के हरबे में जन-संघर्ष निश्चय ही बहुत प्रभावशाली पर साथ ही खतरनाक हथियार भी था। उन्होंने भूकंप से इसकी तुलना करते हुए कहा था— "राजनैतिक पैमाने पर एक भारी उथल-पुथल—सरकार बिलकुल ठप्प हो जाती है—पुलिस थानें, अदालतें और सरकारी दफ्तर सरकार की संपत्ति नहीं रहते, जनता के अधिकार में चले जाते हैं।"

गांधीजी सविनय अवज्ञा को पहले एक जिले में शुरू करना चाहते थे, वहाँ सफल हो जाने पर दूसरे जिले में, फिर तीसरे जिले में और इसी तरह सारे देश में उसे फैलाने की उनकी योजना थी। उन्होंने बहुत स्पष्ट शब्दों में यह चेतावनी दे दी थी कि यदि देश के किसी भी भाग में हिंसा का

ज़रा-सा भी प्रदर्शन हुआ तो आंदोलन शांतिपूर्ण न रह सकेगा; "एक तार के टूट जाने से भी वीणा का स्वर विसंवादी हो जाता है।"

नवंबर, 192। में, प्रिंस आफ वेल्स के आगमन पर बंबई में जो दंगा और खून-खच्चर हुआ था, उसमें गांधीजी सविनय अवज्ञा आंदोलन को स्थगित करने के लिए विवश हो गए थे। उस समय उन्हें वातावरण इस तरह के आंदोलन के उपयुक्त नहीं लग रहा था। लेकिन अगले दो महीनों में सरकार ने जैसा धुआंधार दमन किया उससे उन्हें अपने विचारों को बदलना पड़ा। सभाओं पर प्रतिबंध तो लगाए ही जा रहे थे, अखबारों का गला भी घोंटा जाने लभा। जैसाकि गांधीजी ने स्वयं कहा था, "अब उन्हें सविनय अवज्ञा को जनसंघर्ष का रूप देकर उसके सारे खतरों को मोल लेने अथवा जनता की वैध कार्रवाइयों के गैर-कानूनी दमन" में से किसी एक का 'चुनाव' करना था। उन्होंने खतरे को ही मोल लेने का फैसला किया। स्वयं अपने नेतृत्व में गुज़रात के बारडोली तालुके में जन-सत्याग्रह शुरू करने की तैयारियों में वे जुट गए। बारडोली का चुनाव करते समय उन्होंने वहाँ के निवासियों को साफ शब्दों में बता दिया था कि कर देने से इनकार करने की सूरत में उनकी खड़ी फसलें कुर्क की जा सकती हैं, ज़मीनें ज़ब्त की जा सकती हैं, जानवर नीलाम किए जा सकते हैं और नक्शे पर से बारडोली तालुके का नाम-निशान भी मिट सकता है।

गांधीजी ने वाइसराय के नाम एक खुला पत्र लिखकर बारडोली में जन-सत्याग्रह शुरू करने के अपने इरादे की सूचना सरकार को दे दी। भारत सरकार ने भी तुरंत एक वक्तव्य निकालकर उसका यह जवाब दिया कि "इस समय देश के सामने इस या उस राजनैतिक कार्यक्रम को आगे बढ़ाने का नहीं, कानून-भंग से होनेवाले नतीजों और जिन सिद्धांतों पर तमाम सभ्य सरकारें टिकी हुई हैं, उनके निर्वाह और रक्षा का है।" सरकार का मतलब साफ था—आंदोलन करोगे तो कठोर दमन से उसको कुचल दिया जाएगा।

और यों कांग्रेस और सरकार दोनों ही सीधी भिड़ंत के लिए आमने-सामने आ खड़े हुए थे।

---

1. शत्रु को पराजित करने के लिए सावधान-एवं दीर्घसूत्री युद्ध-कौशल का प्रयोग करने की नीति। —-अनुवादक
2. रीडिंग, मार्क्वेस आफ : 'रुफस इजाक्स, फर्स्ट मार्क्वेस आफ रीडिंग', खंड-2 पृष्ठ 119।

२२. अपकर्ष

जिस ‘खुले पत्र' को वाइसराय ने अल्टीमेटम समझ लिया था, मगर जो गांधीजी की दृष्टि में सत्याग्रही का केवल पुनीत कर्तव्य ही था, वह 1 फरवरी, 1922 को लिखा गया था। उसके तीन ही दिन बाद संयुक्त प्रांत (अब उत्तर प्रदेश) के गोरखपुर जिले के एक छोटे-से गाँव चौरी चौरा में पुलिस और कांग्रेस का जलूस निकालनेवालों के बीच भीषण रक्तकांड हो गया। जलूस का मुख्य हिस्सा थाने के सामने से आगे निकल गया था। जो पीछे रह गए थे पुलिस के सिपाहियों ने उनकी खिल्ली उड़ाई तो उन्होंने भी वैसा ही जवाब दिया। इसपर पुलिस ने गोली चला दी और जब गोली-बारूद खत्म हो गया तो थाने में घुसकर अंदर से किबाड़ बंद कर लिए। इतने में पूरा जलूस लौट आया और क्रोधोन्मत्त भीड़ ने थाने में आग लगा दी; सिपाहियों ने भागकर जान बचाने की कोशिश की तो सभी के टुकड़े-टुकड़े कर दिए गए। उस रक्तकांड की बाइस बलियों में थानेदार और सिपाहियों के साथ थानेदार का नन्हा बेटा भी था।

गांधीजी के लिए तो यह हत्याकांड अनभ्र आकाश से होनेवाले वज्रपात की ही तरह था। वह इस नतीजे पर पहुँचे कि देश का वातावरण अभी जन-सत्याग्रह के उपयुक्त नहीं है और इसलिए उन्होंने बारडोली के सत्याग्रह को, जिसे केवल एक सप्ताह पहले ही शुरू किया गया था, वापस लेने का फैसला कर लिया। कांग्रेस की कार्यकारिणी के जो सदस्य जेल से बाहर थे उनसे उन्होंने इस संबंध में सलाह-मशविरा भी किया। 24 फरवरी, 1922 को दिल्ली में महासमिति की बैठक हुई और गांधीजी की प्रेरणा से चौरी-चौरा-कांड पर खेद प्रकाश करते हुए सत्याग्रह के स्थगन का प्रस्ताव मंजूर कर लिया गया; और कांग्रेसियों से अनुरोध किया गया कि गिरफ्तार होने और सज़ा पाने के लिए कोई काम न करें। आंदोलन के ‘उग्र’ रूप के बदले अब सारा ज़ोर रचनात्मक कार्यक्रम[1] पर था; क्योंकि “यह राय कायम की गई थी कि यदि कार्यकर्त्ता रचनात्मक कार्य में अपनी सारी शक्ति लगा दें तो जिस अहिंसात्मक वातावरण की आवश्यकता थी, वह अवश्य उत्पन्न हो जाएगा ।”

सत्याग्रह को स्थगित करने के इस निश्चय की सारे देश में ज़बर्दस्त प्रतिक्रिया हुई है। यहाँतक कि गांधीजी के घनिष्ठ सहयोगी भी किंकर्तव्यविमूढ़- से रह गए। सुभाषचंद्र बोस उस

समय जेल में सी. आर. दास के साथ थे और उनकी उस समय की मनःस्थिति का वर्णन करते हुए वह लिखते हैं—"गांधीजी को फिर इस तरह घपला करते हुए देख देशबंधु को बड़ा दुःख हुआ और गुस्सा भी खूब आया।"[2] मोतीलाल नेहरू और लाला लाजपतराय ने जेल के भीतर से लंबे-लंबे पत्र लिखे और किसी एक स्थान के पाप के कारण सारे देश को सज़ा देने के लिए उन्हें खूब आड़े हाथों लिया। गांधीजी को अब पता चला कि कार्य-समिति और महासमिति में अधिकांश सदस्यों ने सैद्धांतिक आधार पर नहीं केवल उनके प्रति भक्ति के ही कारण उन प्रस्तावों का समर्थन किया था। यहाँतक कि उनके कुछ कट्टर समर्थकों के मन भी बारडोली प्रस्ताव के औचित्य के संबंध में संदेहों से डाँवाडोल होने लगे थे। चौरी-चौरा की घटना के कारण बारडोली के सत्याग्रह को स्थगित कर देना किसी भी तर्क से उनकी समझ में नहीं आ रहा था। अहिंसात्क विद्रोह को दबाने के लिए क्या सरकार अपने शोहदों के द्वारा ऐसे कांड नहीं करवा सकती ? कांग्रेस राजनैतिक संस्था है या महात्माजी के अंतःसंघर्ष का परीक्षण और प्रयोग करने का मंच ? क्या राष्ट्र के बलिदानों को इसी तरह व्यर्थ हो जाने देना उचित है ? और हज़ारों राजनैतिक कार्यकर्त्ता आखिर कबतक योंही जेल में सड़ते रहेंगे ? आंदोलन के सबसे 'उग्र' और क्रांतिकारी कदम को यों वापस ले लेना क्या सरकार को कार्यकर्त्ताओं पर अत्याचार और दमन करने का न्यौता देना ही नहीं है ?

गांधीजी पर चारों ओर से ऐसी ही बौछारें पड़ने लगीं। उस समय का शायद ही कोई आलोचक इस बात को समझ सका था कि चौरी-चौरा सत्याग्रह-आंदोलन को वापस लेने का मूल कारण नहीं, केवल निमित्त था। जबसे गांधीजी ने रौलट बिलों का विरोध किया और देश के सामने राजनैतिक और सामाजिक अन्याय को मिटाने के लिए सत्याग्रह को एक कारगर हथियार के रूप में पेश किया था तभी से वह अहिंसा के महत्त्व पर बराबर ज़ोर देते आ रहे थे; उनके भाषणों और लेखों का मूल विषय भी यही रहा था। लेकिन फिर भी अहमदाबाद, वीरमगाम और अमृतसर में, 1919 में हिंसात्मक कार्रवाइयाँ हो ही गईं। जब स्थानीय अधिकारी जी-जान से लोगों को उकसाने में लगे हों तो भीड़ की हिंसात्मक कार्रवाइयों को रोकना आसान भी नहीं होता। 18 अप्रैल, 1919 को बंबई में गांधीजी ने कहा था, "मुझे इस बात का अफसोस है कि जन-आंदोलन शुरू करते

समय मैंने हिंसा की शक्ति को कम करके आँका ।" देशवासियों में हिंसा-भाव के प्रबल होने का ज्ञान तो उन्हें पहले से ही था; इसीलिए उन्होंने खिलाफत आंदोलन का नेतृत्व स्वीकार कर लिया था, जिससे उस हिंसा-भाव को अहिंसा के रसायन में परिवर्तित किया जा सके। खतरों की उन्हें जानकारी थी, इसलिए पूरे आंदोलन को देश के राजनैतिक स्तर के अनुरूप विभिन्न क्रमागत चरणों में बड़ी सावधानी से विभाजित किया गया था। असहयोग का कार्यक्रम शुरू होता था व्यक्तियों द्वारा सरकारी उपाधियों और अवैतनिक पदों को छोड़ने से और अंत होता था करबंदी और सामूहिक रूप से कानून के सविनय-भंग में। आंदोलन के इन दोनों छोरों के बीच जनता की राष्ट्रीय भावना को अभिव्यक्त करनेवाले ऐसे और भी कई कार्यक्रम थे, जो लोगों को अनुशासनबद्ध करने के साथ-ही-साथ उन्हें जन-आंदोलन के लिए तैयार भी करते थे। अछूतोद्धार, राष्ट्रीय विद्यापीठों की स्थापना, अदालतों का बहिष्कार और पंचायतों में आपसी झगड़ों का निपटारा, स्वयंसेवकों का संगठन, शराब की दुकानों पर धरना, विदेशी कपड़ों का बहिष्कार और खादी का प्रचार जनता को संगठित करने के ठोस और व्यावहारिक उपाय थे। जनता अहिंसक रहकर सरकारी दमन का जिस सीमा तक मुकाबला कर सके उसी सीमा तक कानून-भंग की इजाज़त देकर असहयोग के कार्यक्रम को क्रमशः बढ़ाते जाने का गांधीजी का विचार था। विदेशी शासन के विरुद्ध देश के जनबल को संगठित करते समय गांधीजी ने इस बात की पूरी सावधानी बरती थी कि कहीं सामाजिक और आर्थिक विद्रोह की ज्वालाएं न भड़क उठें। इसीलिए करबंदी में सरकार को कर देने की मनाही के बावजूद किसानों को यह सलाह दी गई थी कि वे अपने जमींदारों को बराबर कर देते रहें। मज़दूरों को सलाह दी गई थी कि वे अपने मालिकों से छुट्टी लेकर ही हड़तालों में शरीक हों। इस संबंध में गांधीजी ने लिखा भी था कि "जबतक मज़दूरों को देश की राजनैतिक परिस्थिति का ज्ञान नहीं हो जाता, राजनीति के लिए उनका उपयोग करना बहुत ही खतरनाक होता है।" कांग्रेस स्वयंसेवक दल के संगठन पर भी उन्होंने काफी चिन्तन-मनन किया था और 'यंग इंडिया' में आम सभाएं करने और भीड़ को नियंत्रित करने के तरीकों पर कई लेख लिखे थे। सरकार की हिंसात्मक कार्रवाइयों से उन्हें ज़रा भी डर नहीं लगता था, उससे तो आंदोलनकारियों का जोश और संख्या-बल बढ़ता ही था। असली डर उन्हें जनता की

हिंसात्मक कार्रवाइयों से था, क्योंकि उससे आंदोलन कमज़ोर होता, अराजकता फैलती और सरकार को खून-खच्चर करने का मौका मिल जाता था।

देश के किसी भी भाग में ज़रा-सी हिंसा या उपद्रव होता तो गांधीजी का सारा ध्यान फौरन वहाँ केन्द्रित हो जाता था। माले गाँव में भीड़ द्वारा पुलिस के सिपाहियों के मारे जाने और मलाबार के मोपला विद्रोह में हिन्दुओं के सताए जाने की उन्होंने तुरंत और कड़ी निन्दा की थी। प्रिंस आफ वेल्स के आगमन पर जब बंबई में नवंबर 1921 में दंगा हुआ तो गांधीजी वहीं थे। उसमें 58 मारे गए और 381 घायल हुए थे। उस समय जनता के नाम अपने संदेश में गांधीजी ने कहा था कि असहयोग करनेवालों की अहिंसा ने तो सहयोग करनेवालों की हिंसा को भी मात कर दिया; "जो हमसे सहमत न हुए, अहिंसा के हम मौखिक पुजारियों ने उन्हें बुरी तरह आतंकित कर डाला...पिछले दो दिनों स्वराज्य का जो रूप देखने को मिला है उसकी मुझे सड़ांद आ रही है।"

सी. एफ. एंडरूज़ दक्षिण अफ्रीका से हाल ही में लौटकर आए थे और बंबई के दंगों के तुरंत बाद गांधीजी से मिले थे। उनका कहना था कि गांधीजी "इतने दुबले और कमज़ोर लग रहे थे, मानो अभी-अभी मौत के मुँह से लौटकर आए हों।" एंडरूज़ साहब ने यह भी देखा कि जैसे-जैसे सरकार की ओर से हिंसा बढ़ती गई, आंदोलनकारी जनता भी हिंसात्मक कार्रवाइयों को अपनाती गई। भारत की जाग्रत जनता अपनी शक्ति को जान तो गई थी, लेकिन उसे काबू में रखना अभी सीख नहीं पाई थी। एंडरूज़ साहब विदेशी कपड़ों की होली जलाने के पक्ष में भी नहीं थे, क्योंकि उन्हें डर था कि "वह हिंसा के भाव जाग्रत करेगी" और उसमें उन्हें "कुछ जातीय भेदभाव की गंध" भी आती थी। 1913-14 का दक्षिण अफ्रीका का सत्याग्रह वह देख चुके थे; अब जो 1921 में भारत में चल रहे सत्याग्रह को देखा तो वह उन्हें "बिलकुल ही नए ढंग का और आध्यात्मिकता से विरहित" प्रतीत हुआ।

मतलब यह कि चौरी-चौरा की दुर्घटना कोई अकेली एक घटना नहीं थी। वह तो, जैसाकि गांधीजी ने पं. जवाहरलाल नेहरू को लिखा था, घटनाओं की एक पूरी परंपरा की 'अंतिम कड़ी' थी। अनेक स्थानों में आंदोलनकारियों के बेकाबू हो जाने और अनुशासन-भंग के मामलों के बराबर बढ़ते जाने की कई रिपोर्टें उन्हें मिल चुकी थीं। उसी पत्र में उन्होंने जवाहरलालजी को यह

भी लिखा था—"आप विश्वास मानिए कि अगर आंदोलन को स्थगित न किया जाता तो हम अहिंसात्मक संघर्ष के स्थान पर हिंसात्मक संघर्ष ही कर रहे होते।"[3] जवाहरलालजी को सविनय अवज्ञा के स्थगित किए जाने के समाचार जेल में ही मिले थे। सुनकर वह विस्मित भी हुए और व्याकुल भी। लेकिन इस प्रस्ताव के लाभ और हानि पर काफी चर्चा कर लेने के बाद, 'मेरी कहानी' में यह लिखते हैं कि "प्रस्ताव बिलकुल उचित था; जो गंदगी फैल रही थी उसे रोककर नए सिरे से कुछ करना गांधीजी के लिए निहायत ज़रूरी हो गया था।"

गांधीजी यह भी जानते थे कि उनके बहुत-से सहयोगी और अधिकारी कार्यकर्त्ता गुस्से से फुँके जा रहे थे और सरकार पर वार करने को बेताब हो रहे थे—अहिंसात्मक ही सही, पर वार ज़रूर होना चाहिए। लेकिन गांधीजी के निकट तो सत्याग्रह का यह तरीका भी उचित नहीं था, क्योंकि सत्याग्रह का उद्देश्य तो होता है, आत्मा को जगाना, दिल को पिघलाना और विरोधी की आँखें खोलना, यानी उसे सत्य के दर्शन करवाना। अहिंसात्मक युद्ध की तो पूरी शैली ही भिन्न होती है; युद्ध के दूसरे प्रकारों में लक्ष्य-प्राप्ति के लिए साधनों की पवित्रता पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता, परंतु सत्याग्रह में तो साध्य और साधन दोनों ही पवित्र होने चाहिए। युद्ध और राजनीति में सामान्यतः यह दृष्टिकोण रखा जाता है कि विरोधी को हटाने के लिए जहाँ जितने दबाव की आवश्यकता हो ज़रूर लगाना चाहिए। लेकिन सत्याग्रह में इसकी पूरी तरह मनाही होती है, वहाँ तो 'उत्तेजना' के लिए भी कोई गुंजाइश नहीं। गांधीजी ने सविनय अवज्ञा की परिभाषा करते हुए उसे मौन कष्ट-सहन की तैयारी कहा था, "जिसका प्रभाव-चमत्कारिक, पर अप्रत्यक्ष और कोमल होता है।"

सत्याग्रह-आंदोलन को स्थगित करने के संबंध में रोम्यां रोलां ने अपनी पुस्तक 'महात्मा गांधी' में लिखा है—'यह बड़ा ही खतरनाक है कि पहले तो राष्ट्र के संपूर्ण जन-बल को संगठित और एकताबद्ध करके एक आंदोलन के लिए तैयार किया जाए, और आदेश पाकर जैसे ही आंदोलन शुरू हो उसे तुरंत स्थगित भी कर दिया जाए । इससे राष्ट्र का उत्साह भंग हो जाता है, गति शक्ति टूट जाती है; तेज़ी से भागती हुई मोटर को एकदम रोक दिया जाए तो ब्रेक भी टूट जाएंगे और इंजिन को भी क्षति पहुँचेगी ।''[4] लेकिन बात ऐसी नहीं थी। अगर रोम्यां रोलां के ही

रूपक का प्रयोग करके कहें तो कहना होगा कि गांधीजी आंदोलन की मोटरगाड़ी को एकदम रोककर स्थिर नहीं किए दे रहे थे, वह असमय ही 'टाप गीअर' (गति की अंतिम सीम) में दौड़ने लगी थी सो उन्होंने उसे तीसरे गीअर (मद्धिम) में कर दिया। उस समय ‘उग्र कार्यक्रम' को स्थगित करने से ‘रचनात्मक कार्यक्रम’ ही सत्याग्रह-आंदोलन का निश्चयात्मक पक्ष था और वह चलता रहा। आलोचक भले ही सहमत न हों, लेकिन गांधीजी का तो विश्वास था कि सत्याग्रह-आंदोलन को सामूहिक सविनय अवज्ञा के बिना भी प्रभावशाली बनाया जा सकता है।[5]

चौरी-चौरा के बाद गांधीजी ने जो कुछ किया उसे न तो कांग्रेसी ठीक से समझ सके, न खिलाफतवाले और न सरकार ही। लार्ड रीडिंग ने अपने लड़के को पत्र में लिखा था—“गिरफ्तारी के छः सप्ताह पहले गांधी ने जो कुछ किया उससे उनकी राजनैतिक प्रतिष्ठा पर पानी फिर गया।”[6]

और शायद इसीलिए सरकार की उन्हें गिरफ्तार करने की हिम्मत हुई। 10 मार्च की शाम को गांधीजी गिरफ्तार कर लिए गए। उन्होंने आश्रमवासियों से विदा ली, 'वैष्णव जन' वाला अपना प्रिय भजन सुना और मोटर में बैठकर जेल पहुँच गए। अहमदाबाद के जिला और सेशन जज सी. एन. ब्रूमफील्ड की अदालत में उनका मुकदमा पेश हुआ। ‘यंग इंडिया' के 'राजभक्ति में दखल', 'समस्या और उसका हल' तथा 'गर्जन-तर्जन' इन तीन लेखों के आधार पर गांधीजी और ‘यंग इंडिया’ के प्रकाशक शंकरलाल बैंकर पर राजद्रोह का अभियोग लगाया गया था। सर जी. टी. स्ट्रैंगमैन सरकारी पक्ष के वकील थे। दोनों सत्याग्रही अभियुक्तों ने अपना बचाव नहीं किया और स्वीकार कर लिया कि लेख उन्होंने लिखे और छापे थे और उनकी पूरी जिम्मेवारी उन्हीं दोनों पर थी। जज अभियुक्तों के साथ बड़ी विनम्रता और सम्मान से पेश आया; कुर्सी पर बैठने से पहले उसने कटघरे में खड़े दोनों अभियुक्तों को सिर झुकाकर नमस्कार भी किया था। अपराध को स्वीकार कर गांधीजी ने जज के काम को बहुत हलका और आसान कर दिया था। गांधीजी ने उत्कृष्ट शैली में लिखे उच्च भावोंवाले अपने लिखित बयान में यह बताया कि वह कट्टर राजभक्त से विद्रोही कैसे हो गए :

“मेरे सार्वजनिक जीवन का आरंभ 1893 में दक्षिण अफ्रीका में विषम परिस्थिति में हुआ। उस देश के ब्रिटिश अधिकारियों से मेरा पहला संपर्क कुछ अच्छा न रहा। मुझे पता चला कि एक

मनुष्य और एक भारतीय के नाते वहाँ मेरा कोई अधिकार नहीं है। इसके कारण का जब मैंने पता लगाया तो मालूम हुआ कि मेरा कोई अधिकार इसलिए नहीं है, क्योंकि मैं भारतीय हूँ। लेकिन मैंने हिम्मत न हारी। मैंने सोचा कि भारतीयों के साथ दुर्व्यवहार करने का दोष एक अच्छी-भली शासन-व्यवस्था में योंही घुस गया है। यह सोचकर मैंने अपनी मरजी से सरकार को पूरे दिल से सहयोग दिया, जहाँ खामियाँ दिखाई दीं उनकी आलोचना भी की, लेकिन सरकार के विनाश की इच्छा कभी नहीं की..."

हिंसात्मक उपद्रवों की पूरी जिम्मेवारी अपने ऊपर लेते हुए उन्होंने कड़े-से-कड़े दंड की माँग की थी :

"जनाब जजसाहब, आपके सामने सिर्फ दो ही मार्ग हैं...अथवा आपको विश्वास हो कि जिस कानून का प्रयोग करने में आप सहायता दे रहे हैं, वह वास्तव में इस देश की जनता के मंगल के लिए है और मेरा आचरण लोगों के अहित के लिए हो तो मुझे कड़े-से-कड़ा दंड दें ।"

गांधीजी को छः साल की सज़ा दी गई। एक दर्शक का कहना है कि मुकदमा कोई पौने दो घंटे चला और गांधीजी सारे समय निरुद्विग्न और प्रसन्न रहे। सज़ा सुनाए जाने के बाद जज से उन्होंने कहा था, "यह कम-से-कम सज़ा है, जो कोई जज मुझे दे सकता था; और जहाँतक मुकदमे की कार्रवाई का सवाल है, जितनी विनम्रता और सम्मान आपने प्रदर्शित किया उससे अधिक की तो मैं आशा नहीं कर सकता।"

जेल-यात्राएं तो असहयोग का एक अंग ही थीं। अपने लेखों और भाषणों में गांधीजी उसके महत्त्व पर बराबर ज़ोर देते रहे थे। उन्होंने कई बार लिखा भी था कि "जेल की चहारदीवारियों में और फांसी के तख्तों पर ही हमें आज़ादी का वर्णन करना होगा।" पिछले अठारह महीनों में हज़ारों आंदोलनकारी पकड़े जाकर जेल भेजे गए थे। गांधीजी की राय में आदर्श सत्याग्रही वह था, जो सरकार को परेशान करने के उद्देश्य से नहीं, परंतु न्याय के लिए कष्ट सहकर सरकार का हृदय-परिवर्तन करने के उद्देश्य से जेल जाता है। गिरफ्तारी के समय "अशिष्टता, उच्छृंखलता, झेंप और हिंसात्मक आचरण कदापि उचित नहीं; शांति, शिष्टता, विनम्रता, तत्परता और बहादुरी के साथ

गिरफ्तार होना चाहिए ।" सत्याग्रही से जेल के अनुशासन का पालन करने की अपेक्षा भी की जाती थी। वह न तो विशेष सुविधाओं की माँग कर सकता था और न उन्हें स्वीकार ही। जेल-जीवन के सारे कष्टों को उसे हँसते-हँसते सह लेना होता था, क्योंकि "अपनी शक्ति के भान और ज्ञान से उत्पन्न विनम्रता अंत में आततायी के अत्याचार को मिटाकर ही रहती है—अपनी इच्छा से कष्ट-सहन करना अन्याय और अत्याचार को मिटाने का श्रेष्ठ और त्वरित उपाय है ।"

यरवदा-जेल में गांधीजी को न तो चरखा दिया गया और न बाहर सोने की इजाज़त। बाद में अधिकारियों ने दोनों ही प्रतिबंध उठा लिए थे। लेकिन पुस्तकों के मामले में 'उच्च अधिकारी' बड़ी मुश्किल से राज़ी हुए और शुरू- शुरू में कुछ धार्मिक पुस्तकों, एक पुराने शब्द-कोश और उर्दू के कायदे के अतिरिक्त उन्हें अपने पास और कोई किताब रखने की इजाज़त नहीं दी गई। तकिया भी नहीं दिया गया; वह पुराने कपड़ों में किताबों को लपेटकर उसीसे काम चलाते रहे। और गांधीजी-जैसे राजद्रोही को रोटी काटने के लिए चाकू-जैसी खतरनाक चीज़ सरकार दे ही कैसे सकती थी ! बाद में चाकू के उपयोग की इजाज़त इस शर्त पर दी गई कि हर बार इस्तेमाल के बाद उसे जेल-अधिकारी के पास जमा करवा दिया जाए। शंकरलाल बैंकर को उनके साथ नहीं, अलग दूसरी कोठरी में रखा गया और कड़ी ताकीद कर दी गई कि कोई भी कैदी गांधीजी से मिलने न पाए। उनकी सेवा-टहल के लिए एक अफ्रीकी कैदी को नियुक्त किया गया, जो गांधीजी की भाषा नहीं समझता था और न गांधीजी उसकी भाषा जानते थे। बातचीत के अभाव में दोनों को इशारों से काम चलाना पड़ता था। लेकिन गांधीजी तो सब भाषाओं से श्रेष्ठ दिल की भाषा के जानकार थे। एक बार अफ्रीकी कैदी को बिच्छू ने काट खाया तो गांधीजी ने अपने मुँह से जहर चूसकर उसे भला-चँगा कर दिया। गांधीजी के इस दयालु व्यवहार का उसपर इतना असर हुआ कि वह उनका पट्ट शिष्य बन गया और उसने चरखा चलाना सीख लिया।

जेल का वह एकांत और शांति गांधीजी को पसंद आए। भारत आने के बाद लगातार सात वर्षों तक वह बराबर काम में लगे रहे थे। जिस शांति और आराम की उन्हें ज़रूरत थी वह जेल में अनायास ही मिल गए। सायं प्रातः प्रार्थनाओं और चरखा चलाने के अपने नियम का वह बराबर पालन करते रहे। दूसरे-दूसरे कामों में लग जाने से धार्मिक और साहित्यिक अध्ययन का जो क्रम

खंडित हो गया था, उसे भी उन्होंने पुनः शुरू किया। जेल में उन्होंने कम-से-कम डेढ़ सौ पुस्तकें तो पढ़ी ही होंगी। उनमें हेनरी जेम्स की 'दि वैराइटीज आफ रिलीजियस एक्स्पिरिअंस, बकल की ‘हिस्ट्री आफ सिविलिजेशन’, वेल्स की ‘आउट लाइन आफ हिस्ट्री’, बर्नार्ड शा की 'मैन एंड सुपरमैन', गेते का 'फाउस्त' और किपलिंग का ‘बैरक रूम क्लाड्स' आदि भी थीं।[7] इसमें तो कोई संदेह ही नहीं कि छोटी-मोटी परेशानियों के बावजूद यह जेल-यात्रा गांधीजी के लिए, महाकवि ठाकुर के शब्दों में, 'बंदी चिकित्सा’ साबित हुई।

---

1. बारडोली में कार्यसमिति के आगे गांधीजी ने रचनात्मक कार्यों की जो सूची पेश की थी और जिसपर दिल्ली में महासमिति ने अपनी मुहर लगाई वह इस प्रकार थी—कांग्रेस के लिए एक करोड़ सदस्य भरती करना, चरखे का प्रचार, राष्ट्रीय विद्यालयों को खोलना, मादक-द्रव्य निषेध और पंचायतों का संगठन आदि।—अनुवादक
2. बोस, सुभाषचंद्र—दि इंडियन स्ट्रगल', कलकत्ता, 1948, पृष्ठ 108।
3. तेंदुलकर के ग्रंथ 'महात्मा' की जिल्द-2, पृष्ठ 118 पर उद्धृत।
4. रोम्यां रोलां : 'महात्मा गांधी', लंदन, 1942, पृष्ठ 132।
5. बारडोली की कार्यसमिति की बैठक और उसके पश्चात् दिल्ली में महासमिति की बैठक में सामूहिक सत्याग्रह को वापस लिया गया था, लेकिन व्यक्तिगत रूप से किसी खास कानून के खिलाफ सत्याग्रह करने की अनुमति अवश्य दी गई थी। व्यक्तिगत सत्याग्रह की परिभाषा यह थी कि एक व्यक्ति या व्यक्ति-समूह के द्वारा किसी सरकारी आज्ञा या कानून का उल्लंघन करना । शराब की दुकानों पर धरना और विदेशी कपड़े की पिकेटिंग भी व्यक्तिगत सत्याग्रह में ही शुमार किए गए थे।

   —अनुवादक
6. रीडिंग, मार्क्वेस आफ : 'रूफस इज़ाक्स, फर्स्ट मार्क्वेस आफ रीडिंग', जिल्द 2, पृष्ठ 249।
7. विभिन्न धार्मिक अनुभव; सभ्यता का इतिहास; इतिहास की रूपरेखा; मानव और महामानव; फाउस्त; बैरक की गीति-कथाएँ।

२३. कौंसिलें और सांप्रदायिकता

असहयोग आंदोलन के 'उग्र कार्यक्रम' को वापस लेने का परिणाम यह हुआ कि कांग्रेस के साधारण सदस्यों में गड़बड़ी फैल गई और नेताओं में मतभेद पैदा हो गया। सी. आर. दास, पं. मोतीलाल नेहरू और विट्ठलभाई पटेल आदि कई चोटी के नेता मन से तो कभी भी कौंसिलों के बहिष्कार के पक्ष में नहीं थे। वकील और अच्छे वक्ता होने के कारण वे ऊपर के मन से कौंसिलों के बहिष्कार के लिए राज़ी हो गए थे। लेकिन जब सामूहिक सविनय अवज्ञा को वापस ले लिया गया तो उनकी राय में सरकार का विरोध करने का सिर्फ एक ही रास्ता बचा रह गया और वह था कौंसिलों में जाना—1919 के सुधार कानूनवाले नए विधान को कार्यान्वित करने के लिए नहीं, बल्कि दुनिया को यह दिखलाने के लिए कि वह कितना संकुचित और अनुत्तरदायित्वपूर्ण था।

भारत सरकार नए विधान के द्वारा निर्मित केन्द्रीय विधान-मंडल के प्रति नाम-मात्र को भी जवाबदेह न थी। इसके उच्च सदन का नाम रखा गया था राज्य कौंसिल (कौंसिल आफ स्टेट), जिसमें अधिकांश अधिकारी वर्ग के और नामजद सदस्य थे। निम्न सदन, केन्द्रीय विधि परिषद् (सेंट्रल लेजिस्लेटिव असेंबली) के एक-तिहाई सदस्य या तो अंग्रेज़ अफसर या उनके द्वारा नामजद भारतीय थे। केन्द्रीय विधि-परिषद् को सारे बजट के मुश्किल से सातवें हिस्से पर विचार करने और स्वीकृति देने का अधिकार दिया गया था। विधि-परिषद् द्वारा अस्वीकृत तजवीजों को वाइसराय अपने विशेषाधिकार से कानून का रूप देकर जारी कर सकता था।

प्रांतीय शासन की हालत तो और भी विचित्र थी। वहाँ एक तरह की द्वैध शासन की प्रणाली लागू की गई थी। कुछ विभाग तो मंत्रियों को सौंपे गए थे, जो अपने प्रांतों की विधि-परिषदों के प्रति जिम्मेवार थे; लेकिन वित्त, न्याय आदि कई विभाग अधिकारियों के जिम्मे कर दिए गए थे, और वे अधिकारी प्रांतीय विधि-परिषदों के प्रति नहीं, सीधे गवर्नर के प्रति जिम्मेवार थे; और गवर्नरों को 'वीटो' का अधिकार दे दिया गया था। कौंसिल-प्रवेश के समर्थक कांग्रेस नेताओं ने कौंसिलों की सीमित उपयोगिता को अस्वीकार किया हो सो बात नहीं। उनका कहना था कि ये कौंसिलें ब्रिटिश नौकरशाही ने दुनिया को धोखा देने के लिए बनाई हैं और इसलिए कांग्रेसियों को इनका भंडाफोड़ करना ही चाहिए। यह सच था कि कौंसिलों के द्वारा वास्तविक सत्ता जनता के

हाथ में नहीं आई थी, लेकिन राजनैतिक युद्ध के एक मंच के रूप में तो उनका उपयोग किया ही जा सकता था। यदि कांग्रेस जन-कौंसिलों में सरकारी प्रस्तावों और माँगों को अस्वीकार करने लायक शक्ति बन सके तो या तो सरकार को विशेषाधिकारों का प्रयोग करना होगा या कौंसिलों के निर्णय के आगे झुकना होगा। दोनों ही सूरतों में दुनिया को मालूम हो जाएगा कि नए विधान में अंतिम सत्ता जनता के हाथों में नहीं विदेशी शासन-सत्ता के ही हाथों में रख दी गई है ! असल में आयरलैंड के होमरूल आंदोलन के सिलसिले में पारनेल और उसके दल के लोगों ने ब्रिटिश पार्लमेंट के हाउस आफ कामन्स की कार्रवाइयों में बाधा पहुँचाने की नीति को जिस सफलता से कार्यान्वित किया था उससे कौंसिल-प्रवेश के समर्थक कुछ कांग्रेसी नेता बहुत ही प्रभावित जान पड़ते थे।[1] उनका कहना था कि 'निरंतर और स्थायी अड़ंगेबाजियों' से कौंसिलें सरकार के हाथों का हथियार न रहकर उसकी बगल का काँटा बन जाएंगी।

मार्च 1922 में गांधीजी की गिरफ्तारी के तत्काल बाद ही उनके अनुयायियों में गहरे मतभेद के चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे।

सी. आर. दास तो अलीपुर-जेल में ही कौंसिल-प्रवेश की योजनाएं बनाने में तल्लीन थे; जैसे ही रिहा हुए वह जी-जान से इस कार्य में जुट गए। दिसंबर 1922 में कांग्रेस के गया-अधिवेशन के अध्यक्ष-पद से भाषण करते हुए उन्होंने कहा कि या तो कौंसिलों का इस तरह सुधार करना चाहिए कि उनके द्वारा भारत को स्वतंत्र किया जा सके, अथवा उन्हें समाप्त कर देना चाहिए। कौंसिल-प्रवेश को वह असहयोग-आंदोलन की भावना के विपरीत नहीं मानते थे। उनका कहना कि हम कौंसिलों में जाकर, अंदर से बहिष्कार और असहयोग करेंगे। लेकिन गांधीजी के निष्ठावान सहयोगियों को उनके ये तर्क स्वीकार नहुए। उनका कहना था कि कौंसिल-प्रवेश रणनीति का परिवर्तित रूप नहीं अहिंसात्मक असहयोग की मूल भावना और सिद्धांतों पर प्रहार ही है। गांधीजी के दृढ़ समर्थकों में से किसी ने ठीक ही कहा था : "हमारा तो शुद्ध, पवित्र और निष्कलंक आंदोलन है, इसमें कूटनीति के लिए कोई भी गुंजाइश नहीं। और कौंसिलों को असफल करने की दृष्टि से उनमें जाना कूटनीति ही नहीं छल और कपट भी है, जिसका कोई सत्याग्रही कभी भी समर्थन नहीं कर सकता।"[2]

विट्ठलभाई पटेल की राय में कौंसिल-प्रवेश शत्रु के गढ़ को जीतने के उद्देश्य से उसके अंदर घुसना था। सरदार वल्लभभाई पटेल ने अपने बड़े भाई को बड़ा ही माकूल जवाब दिया था। उन्होंने कहा, “कौंसिलें ही दुश्मन का किला नहीं हैं, किला तो उसके बाहर भी है और जबतक बाहर का वह किला बरकरार है सरकार सैकड़ों बरसों तक बिना कौंसिलों के भी शासन करती रहेगी।"

इस तरह कांग्रेस के नेता दो दलों में बँट गए। जो असहयोग के कार्यक्रम में परिवर्तन चाहते थे वे 'परिवर्तनवादी' कहलाए और सरदार वल्लभभाई पटेल, राजेन्द्रबाबु और राजाजी आदि, जो परिवर्तन नहीं चाहते थे 'अपरिवर्तनवादी'। ये लोग जेल में बंद गांधीजी के प्रति अपनी निष्ठा को बराबर बनाए रहे। कांग्रेस के गया अधिवेशन में पं. मोतीलाल नेहरू, श्रीनिवास आयंगर और विट्ठलभाई पटेल के दृढ़ समर्थन के बावजूद सी. आर. दास को कौंसिल-प्रवेश के अपने प्रस्ताव पर बहुमत प्राप्त न हो सका। कौंसिलों के बहिष्कार की नीति यथावत ही बनी रही। इसके फलस्वरूप सी. आर. दास ने गया-कांग्रेस के तत्काल बाद कांग्रेस की अध्यक्षता से त्यागपत्र दे दिया और स्वराज्य पार्टी के नाम से एक नया दल बनाया। वह स्वयं उसके अध्यक्ष बने और पं. मोतीलाल नेहरू को मंत्री नियुक्त किया गया। कांग्रेस जनों में जो मतभेद अंदर-ही-अंदर घुमड़ रहा था वह अब पूरी तरह से ऊपर आ गया।

इसके बाद स्वराजियों और अपरिवर्तनवादियों में समझौते के प्रयत्न होने लगे। नये संवैधानिक सुधारों के अंतर्गत नवंबर 1923 में कौंसिलों के चुनाव होने जा रहे थे। चुनावों के बारे में कांग्रेस का क्या रुख हो, इस पर अंतिम रूप से निर्णय करने के लिए सितंबर 1923 में दिल्ली में कांग्रेस का एक विशेष अधिवेशन किया गया। इस बीच खिलाफत के नेता मौलाना मुहम्मद अली जेल से छूट आए थे; उन्होंने अपना पूरा ज़ोर स्वराजियों के पक्ष में लगा दिया। जब उन्होंने जेल में गांधीजी से इस आशय का संदेश (मौलाना साहब को यह कथित संदेश शायद मानसिक अथवा आध्यात्मिक संचार-प्रणाली से मिला था!) पाने की बात कही कि देश की बदली हुई हालतों में मौजूँ हो सके इस तरह का रद्दोबदल असहयोग के प्रोग्राम में करने के लिए कांग्रेस आज़ाद है, तो अधिवेशन में सनसनी फैल गई। यहाँ अपरिवर्तनवादी तटस्थ रहे, जिसका फल यह

हुआ कि स्वराजियों की जीत हुई और वे कौंसिल-प्रवेश एवं चुनाव में हिस्सा लेने की बात कांग्रेस में मंजूर करवा सके। तैयारियों के लिए मुश्किल से दो महीने का समय मिला था, फिर भी स्वराज्य पार्टी को केन्द्रीय विधि-परिषद में काफी अच्छी सीटें मिल गईं और मध्य प्रांत की कौंसिल में तो उनका बहुमत ही हो गया; दूसरे प्रांतों की कौंसिलों में भी वे काफी अच्छी तादाद में चुन लिए गए। पं. मोतीलाल नेहरू ने केन्द्रीय कौंसिल का और सी. आर. दास ने बंगाल की प्रांतीय कौंसिल का नेतृत्व-पद संभाला ।

इसी बीच 11 जनवरी, 1924 को गांधीजी का पूना के सेसून अस्पताल में एपेंडिसाइटिस का आपरेशन हुआ और वे डॉक्टरी सलाह पर जेल से रिहा कर दिए गए। गांधीजी को अपना इस तरह रिहा किया जाना तनिक भी पसंद न आया। उन्होंने कहा भी कि कैदी की बीमारी उसकी रिहाई का कोई ठोस कारण नहीं हो सकती। बधाई के सैकड़ों तार पाकर वह घबरा उठे; क्योंकि उनसे बड़ी-बड़ी उम्मीदें की जा रही थीं ! स्वयं उन्होंने तो यह आशा बांध रखी थी कि 'स्वराज्य की पार्लमेंट' उन्हें रिहा करेगी, जो निराशा में ही परिणत हुई थी।

लार्ड रीडिंग का यह खयाल कि कांग्रेसजनों में असंतोष और आपसी फूट के कारण गांधीजी की शक्ति बहुत-कुछ बैठ जाएगी, सर्वथा गलत तो नहीं ही था। स्वराज्य पार्टी ने चुनाव लड़े, जीती और कई कौंसिलों में उसने खासा तगड़ा स्थान बना लिया था। अब वह गांधीजी के आशीर्वाद चाहती थी; इसलिए सी. आर. दास और पं. मोतीलाल नेहरू उनसे मिलने के लिए जुहू गए, जहाँ वह आपरेशन के बाद स्वास्थ्य-लाभ कर रहे थे। दोनों नेताओं ने मिलकर अपने दृष्टिकोण के समर्थन में ढेरों तर्क दिए, लेकिन गांधीजी किसी भी तरह सहमत न हो सके। “अंदर से विरोध करने” का स्वराजियों का तर्क तो उन्हें सिरे से ही गलत लगता था। उनका कहना था कि या तो सरकार से सहयोग किया जा सकता है या असहयोग, अंदर जाकर असहयोग और विरोध करने का तो कोई अर्थ ही नहीं होता; खुद भ्रम में रहने और दूसरों को भ्रम में रखने से कोई लाभ नहीं। उन्होंने यह चेतावनी भी दी कौंसिलें केवल चटपटा मसाला दे सकती हैं, रोटी नहीं। यद्यपि कौंसिल-प्रवेश के किसी तर्क से वह सहमत नहीं हो सके थे, फिर भी स्वराजियों के मार्ग में बाधक बनना उन्होंने उचित नहीं समझा और ‘अपरिवर्तनवादियों’ को इस मामले में तटस्थ रहने की सलाह दी।

पं. मोतीलाल नेहरू और सी. आर. दास को गांधीजी का समर्थन तो नहीं मिला, लेकिन आनेवाले महीनों ने यह अवश्य सिद्ध कर दिया कि देश के राजनैतिक मंच पर अब कुछ समय के लिए स्वराज्य पार्टी का ही अधिकार रहेगा। गांधीजी की अनुपस्थिति में देश का राजनैतिक वातावरण काफी हद तक बदल गया था, जिसे वह स्वयं भी अनुभव करने लगे थे। सत्याग्रही "सरकार से उतना सहयोग नहीं कर रहे थे जितना आपस में एक-दूसरे से।" हिन्दू-मुस्लिम एकता भी छिन्न-विच्छिन्न हो गई थी। रचनात्मक कार्यक्रम में बुद्धिजीवियों की कोई रुचि ही नहीं थी। अब गांधीजी को कांग्रेस को आपसी फूट से बचाने की चिंता हुई, क्योंकि 1907 की सूरत की फूट के विनाशकारी परिणामों को वह देख चुके। उन्होंने स्वराजियों की थोड़ी-सी दिलजोई की तो उनके अनुयायियों को उसमें शरणागति की गंध आने लग गई। लेकिन गांधीजी एकता के अपने प्रयत्नों में लगे रहे। वह बंगाल भी गए, जहाँ की प्रांतीय सरकार दमन पर उतर आई थी और स्वराज्य पार्टी के कई सदस्यों को हिंसा का अभियोग लगाकर जेल में ठूँस दिया था। वहाँ की हालत को देखने के बाद उन्होंने पं. मोतीलाल नेहरू और सी. आर. दास के साथ मिलकर एक संयुक्त वक्तव्य प्रकाशित किया, जिसमें कहा गया था कि विदेशी कपड़ों की पिकेटिंग को छोड़कर असहयोग के शेष सभी कार्यक्रमों को स्थगित कर देना चाहिए और स्वराज्य पार्टी को कांग्रेस का अभिन्न अंग मानकर अपने लिए अलग से चंदा जमा करने और उसको खर्च करने का अधिकार दे देना चाहिए। गांधीजी की यह नई नीति स्वराज्य पार्टी की निश्चित जीत थी, इसमें तो किसी को संदेह हो ही नहीं सकता।

दिसंबर 1924 में बेलगाम के अधिवेशन में कांग्रेस ने गांधी-नेहरू-दास समझौते पर स्वीकृति की मुहर लगा दी । अधिवेशन से पहले उसके मनोनीत अध्यक्ष की हैसियत से गांधीजी ने फूट को रोकने की दृष्टि से दोनों गुटों के नेताओं से बातचीत की। अपनी कार्यसमिति में राजाजी और सरदार पटेल जैसे कट्टर 'अपरिवर्तनवादियों' को सम्मिलित न करके उन्होंने एक बार फिर स्वराज्यों की दिलजोई की। अब उनकी नीति स्वराजियों को केवल बर्दाश्त करने की ही नहीं, उनकी ताकत बढ़ाने की भी थी। इसपर कई लोगों की, जिनमें स्वयं उनके कट्टर अनुयायी और 'अपरिवर्तनवादी' भी थे, यह प्रतिक्रिया हुई कि गांधीजी स्वराजियों के आगे बहुत अधिक झुक

गए हैं। वाइसराय ने भी इंग्लैंड अपने पुत्र को लिखा था, "गांधी अब दास और नेहरू का पुछल्ला बन गए हैं, हालाँकि वे लोग गांधी और उनके साथियों को यह अहसास कराने की हरचंद कोशिश करते रहते हैं कि वे उनके सरगना नहीं तो सरगनाओं में से एक तो ज़रूर ही हैं।"[3]

कौंसिल-प्रवेश के सवाल पर ही कांग्रेसजनों की आपसी फूट से गांधीजी को जितनी निराशा हुई थी उससे कहीं अधिक सांप्रदायिक फूट के कारण हुई।

असहयोग-आंदोलन के उभार के दिनों की हिन्दू-मुस्लिम एकता की तो अब केवल याद-भर रह गई थी। पारस्परिक विश्वास का स्थान गहरे अविश्वासों ने ले लिया था। सांप्रदायिक दंगे तो हो ही रहे थे, अखबारों और राजनीति में एक नई तरह की कटुता भी घर करती जाती थी। लाला लाजपतराय, पं. मदनमोहन मालवीय और स्वामी श्रद्धानंद जैसे कई हिन्दू नेता यह अनुभव करने लगे थे कि खिलाफत और असहयोग-आंदोलनों के जुड़ जाने से मुसलमानों में राजनैतिक जागृति के नाम पर हानिप्रद सांप्रदायिकता ही पनपी, जो ब्रिटिश सरकार का सहारा पाकर और भी भयानक रूप धारण करती जा रही थी। उनकी दृष्टि में इस मुस्लिम सांप्रदायिकता से आत्मरक्षा के उपाय करना हिन्दुओं के लिए नितांत आवश्यक हो गया था। उधर खिलाफत आंदोलन में आगे बढ़कर हिस्सा लेनेवाले बहुत-से मुस्लिम नेता यह तो सोचने लगे थे कि कांग्रेस से हाथ मिलाने में इतनी जल्दबाजी करना ठीक न हुआ, क्योंकि कांग्रेस जिन राजनैतिक सुधारों के लिए लड़ रही थी, उनमें मुसलमानों की स्थिति उन्हें कुछ बहुत सुरक्षित नज़र नहीं आती थी।

पारस्परिक संदेह और भय इतने हावी हो गए थे कि एक की हर बात और हर चाल में दूसरे को फरेब और बेईमानी की गंध आने लगती थी। 1921 में मलाबार के मोपलों ने धर्मोन्माद में अपने हिन्दू पड़ोसियों के साथ जो-कुछ किया उसकी याद हिन्दुओं के दिलों में काँटे-सी खटकती रहती थी। हिन्दुओं की शुद्धि और संगठन की कार्रवाइयों का जवाब मुसलमानों ने फौरन तबलिग और तंजिम से दिया। मुस्लिम बुद्धिजीवियों को गैर-मुस्लिमों के इस्लाम में दीक्षित किए जाने पर कोई एतराज नहीं था, लेकिन गैर-हिन्दुओं की शुद्धि करके उनका हिन्दू धर्म में दाखिल किया जाना उनकी बर्दाश्त के बाहर हो जाता और वे इस तरह के धर्मपरिवर्तनों की ज़ोरों से मुखालफत करने लग जाते थे। सब पिछली अच्छी बात भुला दी गई थीं। हिन्दुओं की भावनाओं

का खयाल करके मुसलमानों ने 1920-22 में खुद गाय की कुर्बानी बंद कर दी थी, अब वही मुसलमान इस पाक मजहबी फर्ज को हर सूरत पर वजा लाने के लिए आमादा थे। उधर हिन्दू भी इस ज़िद पर अड़ने लगे थे कि नमाज के वक्त मस्जिद के आगे से बाजा बजाते हुए निकलेंगे और ज़रूर निकलेंगे। फिर नौकरियों और व्यापार आदि में सरकारी संरक्षण के सवाल पर तो एक अनंत झगड़े और शिकवे-शिकायतें थीं।

इस सबके लिए गांधीजी को जिम्मेवार ठहराकर उनपर खिलाफत के साथ असहयोग-आंदोलन को नत्थी कर समय से पहले जन-जागरण के खिलवाड़ का दोषारोपण करनेवालों की भी कोई कमी नहीं थी। गांधीजी ने इसका यह कहकर जवाब दिया था कि “जन-जागरण तो राजनैतिक शिक्षा का एक आवश्यक अंग होता है और जागी हुई जनता को फिर से सुलाने का पाप मैं कभी नहीं करूँगा।” लेकिन साथ ही वह यह भी चाहते थे कि जनता की जागृति का उपयोग रचनात्मक कार्यों में हो। दोनों संप्रदायों की मानसिक जड़ता को दूर करके बौद्धिक विकास और विचारों को उदार बनानेवाली शिक्षा की आवश्यकता भी वह महसूस करते थे। 'नवजीवन' और ‘यंग इंडिया' में वह इस बीमारी का अपने ढंग से निदान किया करते थे, और एक बार तो 'यंग इंडिया' के पूरे अंक में उन्होंने सांप्रदायिकता के कारण और निवारण के उपायों पर ही लिखा था। उनका कहना था कि यदि मुल्क सत्याग्रह के तरींकों को ठीक से समझकर उसपर पूरा-पूरा अमल करता तो हिन्दू-मुस्लिम तनाव ही पैदा न होता। उनके मतानुसार अहिंसा देश की आज़ादी की चाभी ही नहीं सांप्रदायिक शांति की कुंजी भी थी। सभ्य समाज में अहिंसात्मक तरीकों से यदि वैयक्तिक झगड़े निपटाए जा सकते हैं तो उसी समाज में संप्रदायगत झगड़ों और मतभेदों को अहिंसात्मक ढंग से क्यों नहीं निपटाया जा सकता ? पारस्परिक सहिष्णुता और आपसी समझौते से, पंच-फैसलों से और अंत में अदालतों के द्वारा आपसी झगड़ों को निपटाया जा सकता है। सामनेवाले का माथा फोड़कर तो कोई उसके दिल में अपनी बात बिठा नहीं सकता। मस्जिद के आगे बाजा बजाने और गाय की कुरबानी के सवाल को लेकर हिन्दू-मुसलमानों के आपसी झगड़ों को गांधीजी सच्चे धर्म की खिल्ली उड़ाना ही कहते थे। मुसलमानों के नमाज पढ़ते वक्त मस्जिद के आगे ज़ोर-ज़ोर से बाजा बजाते हुए हिन्दू

धर्मावलंबियों का जुलूस निकालना न हिन्दू धर्म के अनुकूल था और न हिन्दू पड़ोसियों की भावनाओं को चोट पहुँचाने के लिए इस्लाम मतावलंबियों का गाय की कुरबानी करना इस्लाम के अनुकूल और जिस धर्म-परिवर्तन से आत्मा की उन्नति न हो, जो महज एक चौखटे से दूसरे चौखटे में चले जाने की तरह हो और जिसके मुँह पर कुछ और मन में कुछ और रहता हो वैसे धर्म-परिवर्तन से लाभ ही क्या ? सरकारी नौकरियों की होड़ा-होड़ी और गिले-शिकवे के बारे में गांधीजी का कहना था कि उम्मीदवार तो बहुत-से और नौकरियाँ केवल गिनी-चुनी हैं, पिछड़े हुए संप्रदाय ऊँची नौकरियों की काबलियत के लिए पढ़ाई-लिखाई की खास सुविधाएँ माँगें यह तो समझ में आता है। मगर योग्यता के बदले धर्म को नौकरी पाने की कसौटी बनाना किसी भी तरह उचित नहीं कहा जा सकता। इस तरह तो हुकूमत का सारा ढाँचा ही कमज़ोर और बेकार हो जाएगा।

गांधीजी को आशा थी कि सांप्रदायिक विद्वेष के मूल कारणों का पता लगाकर उन्हें जनता के सामने रख देने और दोनों संप्रदायों के सद्विवेक को जाग्रत करने से सारा धर्मोन्माद समाप्त हो जाएगा। लेकिन सांप्रदायिकता का विष उनके सारे प्रयत्नों के बावजूद निरंतर फैलता ही गया। सांभर, अमेठी और गुलबर्गा में हिन्दू-मुस्लिम दंगे हुए। सितंबर, 1924 में कोहाट में जो दंगा हुआ वह सबसे भीषण था; 155 हिन्दू जान से मारे गए और वहाँ की सारी हिन्दू आबादी को शहर से बाहर खदेड़ दिया गया। इस नरमेध ने गांधीजी को गहरा आघात पहुँचाया। उन्हें इस विचार से अपने-आप पर ग्लानि होने लगी कि असहयोग-आंदोलन के द्वारा उन्होंने जनता में जो जागृति पैदा की थी वह विध्वंसात्मक कार्यों में लग गई !

“क्या मैंने ही जनता की अपार शक्ति को नहीं जगाया था ? यदि वह शक्ति अपने ही विनाश में लग जाए तो उसे रोकने का उपाय भी मुझी को करना होगा....क्या मैंने गलती की, उतावलेपन से काम लिया, बुराई से समझौता किया ? हो सकता है कि यह सब किया या शायद ऐसा कुछ भी नहीं किया....जो आँखों के सामने दिखाई दे रहा है, मैं तो सिर्फ उसी को जानता हूँ। अगर जनता ने सच्ची अहिंसा और सत्य पर आचरण किया होता तो आज की यह खून-खराबी और दंगे-फसाद गैर-मुमकिन थे।”

अपने इस दारुण दु:ख से शांति पाने के लिए गांधीजी ने इक्कीस दिन का उपवास किया। उपवास की प्रतिक्रिया भी तुरंत हुई। एक सप्ताह के अंदर दिल्ली में एक विशाल 'एकता सम्मेलन' हुआ। देश के कोने-कोने से भाग लेनेवाले उसके तीनसौ प्रतिनिधियों में भारत के लाट पादरी डॉ. वेस्ट कॉट, श्रीमती एनी बेसेंट, अलीबंधु, स्वामी श्रद्धानंद और पं. मदनमोहन मालवीय जैसे महापुरुष भी थे। इस सम्मेलन में धर्म और मत की स्वतंत्रता को तो स्वीकार किया गया, परंतु धार्मिक मामलों में हिंसा तथा ज़ोर-जबर्दस्ती की घोर निंदा की गई और उन्हें अनावश्यक बताया गया। सम्मेलन में और भी कई प्रस्ताव पास किए गए, जिनका आशय दोनों कौमों में सद्भावना पैदा करना और पारस्परिक संदेहों को मिटाना था। उपवास आरंभ करने के ठीक इक्कीस दिन बाद, 8 अक्टूबर 1924 को, गांधीजी ने सभी संप्रदायों के नेताओं की उपस्थिति में अपने इस ऐतिहासिक उपवास को तोड़ा। कुरान की आयतों, उपनिषद के मंत्रों और ईसा मसीह के भजनों की समवेत ध्वनि के बीच सी. एफ. एंडरूज़ ने इस सम्मेलन की सफलता पर टिप्पणी करते हुए कहा था, "दिल एक-दूसरे के नज़दीक आ गए थे।"

लेकिन नज़दीक खिंचकर आए हुए दिल ज्यादा समय तक पास-पास न रह सके। उपवास के कुछ ही महीनों बाद गांधीजी को बड़े दु:ख के साथ यह स्वीकार करना पड़ा कि दिलों को जोड़ने की बात करनेवालों का असली मंशा दिलों को तोड़ना ही था, और दोनों संप्रदायों के नेतागण वास्तव में गोश्त-रोटी के लिए नहीं लड़ रहे थे, उनकी हालत "कहानी के उस कुत्ते की तरह थी, जो हड्डी के लिए नहीं, बल्कि छाया के लिए लड़ता था।" उनकी निराशा का पता 1927 के जनवरी महीने में बंगाल के कोमिल्ला नामक स्थान पर दिए उनके भाषण के इन शब्दों से चलता है—"हिन्दू-मुस्लिम सवाल आदमी के हाथ से निकलकर भगवान् के हाथ में पहुँच गया है।"

वैसे तो 1925 के बाद भी गांधीजी 'यंग इंडिया' में सांप्रदायिक एकता के बारे में लिखते रहे थे, लेकिन इसके निकट भविष्य में हल होने की कोई आशा उन्हें नहीं रह गई थी। शहर का बुद्धिजीवी वर्ग साफतौर पर दो विरोधी और लड़ाकू सांप्रदायिक गुटों में बँट गया था और वह

गांधीजी की एक भी बात इस मामले में मानने को राज़ी न था। स्वयं उन्हीं के शब्दों में—“मेरा तरीका उनका तरीका नहीं है; मैं नीचे से शुरू करके ऊपर की ओर जाने की कोशिश कर रहा हूँ।”

---

1. पटेल, जी. आई. : ‘विट्ठलभाई पटेल’ खंड-2; पृष्ट 540।
2. वही, पृष्ट 537।
3. रीडिंग, मार्क्वेस आफ : 'रूफस इज़ाक्स, फर्स्ट मार्क्वेस आफ रीडिंग', जिल्द 2, पृष्ठ 304।

२४. नीचे से शुरुआत

अगले तीन वर्षों तक गांधीजी ने अपने-आपको राजनैतिक विवादों से बिलकुल अलग रखा और अपना पूरा समय 'नीचे की ओर से' राष्ट्र का निर्माण करने के महत्त्वपूर्ण काम में लगाया।

उन्होंने रेल, मोटर, बैलगाड़ी जो भी सवारी मिली उससे सारे देश का एक छोर से दूसरे छोर तक दौरा किया। वह नदी-नाले, कीचड़-काँटों, झाड़-झंखाड़ को पार करके देश के हृदय गाँवों तक पहुँचे। सब कहीं लोगों ने अपार उत्साह और परम श्रद्धा भावना से अपने इस महात्मा का स्वागत किया। भारत के भोले ग्रामीणों को न आधुनिक सभ्यता की जानकारी थी न अपने देश की वर्तमान राजनीति का कोई ज्ञान ही। वे तो बस महात्माजी की वाणी सुनने के लिए आतुर थे, जो उनके मन में भगवान् का साक्षात अवतार थे। गांधीजी को अपना ऐसा महात्मापन ज़रा भी पसंद नहीं था। वह अपने प्रति लोगों की भक्ति को रचनात्मक दिशा में मोड़ने का सतत प्रयत्न करते रहते थे। वह जहाँ भी जाते लोगों को बाल-विवाह और छूत-छात की युगों पुरानी सामाजिक क्रीतियों को छोड़ने और चरखा चलाने की सलाह देते थे।

उन दिनों गांधीजी के बारे में प्राय: हर अंग्रेज़ यही कहता सुना जाता था कि गांधी थक गया है, खत्म हो गया है; और भारतीय नेता ऐसा मानने लगे थे कि साबरमती के संत ने राजनीति से संन्यास ले लिया है। उस समय की राजनीति में—प्रांतीय और केन्द्रीय कौंसिलों की कार्रवाइयों और समाचार-पत्रों के सांप्रदायिक विवादों में अवश्य गांधीजी की कोई दिलचस्पी नहीं थी। राजनैतिक स्वतंत्रता को वह देश के आर्थिक और सामाजिक पुनरुत्थान की अनुवर्ती मानते थे और उनका कहना था कि स्वयं जनता के अपने प्रयत्नों से ही यह पुनरुत्थान होगा। इस संबंध में उन्होंने लिखा था—"राजनैतिक आज़ादी का मतलब ही है जन-चेतना में वृद्धि; और जनता की चेतना में वृद्धि तभी संभव है जब राष्ट्रीय जीवन के सभी क्षेत्रों में काम हो।"

उन दिनों के उनके भाषणों और लेखों के मुख्य विषय भी केवल दो ही थे—चरखा और अस्पृश्यता। यों तो चरखा और खादी का असहयोग के कार्यक्रम में भी स्थान था, लेकिन राजनैतिक शिथिलता के उन तीन वर्षों में तो गांधीजी ने दोनों को नित्य की नियमित पूजा के ही

स्थान पर बिठा दिया था। हाथकते सूत को वह देश के 'प्रारब्ध की डोर' कहने लगे थे। कांग्रेस-संगठन के लिए उन्होंने 'खादी मताधिकार' का सुझाव दिया और 'सूत का मुद्रा की तरह उपयोग' करने की बात भी सोचने लगे थे।[1] पश्चिमी शिक्षा पाए हुए भारतीयों और बहुत-से कट्टर कांग्रेसियों का भी उस समय यही खयाल था कि गांधीजी ने चरखे और खादी को ज़रूरत से ज्यादा महत्त्व दे डाला है। और जब सविनय अवज्ञा का संकट टल गया तो सरकार ने भी खादी को गांधीजी की महज एक सनक ही समझा। 1930 में खादी फिर सक्रिय राजनीति का अंग बन गई तो सरकार चौंकी ज़रूर, लेकिन तब भी वह उसे राजनैतिक संघर्ष का आर्थिक हथियार ही समझती रही ।

चरखे से गांधीजी के इतने अधिक लगाव को न तो अंग्रेज़ ठीक से समझ पाते थे और न शहरों में रहनेवाले आधुनिक शिक्षा-प्राप्त भारतीय ही। गांधीजी के चरखा-प्रेम को समझने के लिए भारतीय ग्रामीणों की भयंकर गरीबी का सही ज्ञान होना नितांत आवश्यक था। अंग्रेज़ों की इस ओर न रुचि थी न इच्छा; और पाश्चात्य शिक्षा-प्राप्त भारतीय नागरिकों का गाँवों के संबंध में घोर अज्ञान स्थिति को ठीक से समझने में बाधक था। अपने धार्मिक दृष्टिकोण से गांधीजी ने ग्रामीण जनता और उसकी गरीबी का जो चित्रण किया वह उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार है— "भूख से बिलखनेवाले इन स्त्री-पुरुषों के लिए स्वतंत्रता और ईश्वर में न कोई भेद है और न इन शब्दों का उनके निकट कोई अर्थ ही; जो इन्हें रोटी का एक टुकड़ा देगा वही इन दुखियारों का ईश्वर और त्राता होगा ।" बेज़मीन मज़दूर ही गरीबी से त्रस्त नहीं थे, लाखों किसानों को साल में छः महीने बेकार रहना पड़ता था। गांधीजी का कहना था कि गृहोद्योगों से उनकी बिलकुल ही नगण्य आय में काफी वृद्धि की जा सकती है; और चरखा चलाकर सूत कातने से बढ़िया और सीधा-सादा गृहोद्योग भारतीय गाँवों के लिए दूसरा कोई हो ही नहीं सकता; लोग अपने घरों में कातने और बुनने का काम उतनी ही आसानी से कर सकते हैं जितनी आसानी से वे खाना पकाते हैं। माना कि चरखे से बहुत थोड़ी आमदनी होगी, लेकिन जैसाकि गांधीजी ने अगस्त, 1928 में कलकत्ता के राटेरी क्लब में भाषण करते हुए बताया कि जिस मुल्क की आबादी का दसवाँ भाग सिर्फ एक जून भोजन पाता हो और जिनकी औसत माहवारी आमदनी तीन रुपए से कुछ ही ज्यादा हो उनके लिए चरखे से पाँच-छः रुपया कमा लेना कितनी बड़ी बात होगी !

गांधीजी को चरखे पर इतना अधिक ज़ोर देते देख महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर को यह आशंका होने लगी थी कि तब तो देश में विविधता रह ही नहीं जाएगी, “सर्वत्र मृत्यु-जैसी तद्रूपता ही दिखाई देने लगेगी।” गांधीजी ने यह कहकर कवि की आशंका को निर्मूल कर दिया“—मैं यह नहीं चाहता कि कवि अपना संगीत छोड़ दे, किसान अपना हल, वकील अपने मुकदमे और डॉक्टर अपना शल्य-शालाक्य। मैं तो उनसे सिर्फ तीस मिनट रोज़ कातने का त्याग चाहता हूँ। मैंने भूखों मर रहे बेकार स्त्री-पुरुषों को गुजारे के लिए और अधपेट रहनेवाले किसानों को अपनी आमदनी बढ़ाने के लिए चरखा कातने की सलाह ज़रूर दी है।”

इस तरह गाँव के किसान, मज़दूर और निराधार विधवा के लिए चरखे जहाँ आर्थिक महत्त्व था, शहर में रहनेवालों के लिए उसका नैतिक, या गांधीजी के शब्दों में तो आध्यात्मिक महत्त्व था। भारत के नगर गाँवों की गरीबी पर फलते-फूलते रहे थे, अब अवसर आ गया था कि वे गाँव का कता-बुना कपड़ा खरीदकर अपने पुराने पापों का प्रायश्चित्त करें और इस तरह शहर और गाँव के बीच आर्थिक एवं भावनात्मक संबंध स्थापित किए जाएं।

गांधीवादी अर्थशास्त्र के अनुसार मलेरिया-निवारण, सफाई, स्वास्थ्य-रक्षा, आपसी झगड़ों के निपटारे के लिए पंचायतों की स्थापना, पशु-धन की रक्षा और उनकी नस्ल में सुधार आदि ग्रामोद्धार के जितने भी कार्यक्रम थे, चरखा धीरे-धीरे उन सभी का केन्द्रस्थल बन गया। कहा जा सकता है कि चरखे का अर्थशास्त्र नए गाँव की संपन्नता का अर्थशास्त्र था। आरंभ में तो गांधीजी ने इसकी सिफारिश गाँवों की संपूर्ण अथवा आंशिक गरीबी को मिटाने के ही लिए की थी, लेकिन शीघ्र ही वह ग्रामोद्योग के एक सरल रूप से ऊँचा उठकर गाँव की महत्त्वपूर्ण संस्था बन गया। गांधीजी चरखे को निरंतर कई गुणों से विभूषित करते गए। चरखा आर्थिक बीमारियों का रामबाण इलाज ही नहीं राष्ट्रीय एकता और आज़ादी का मूलमंत्र भी था। चरखा विदेशी राज्य के विरोध का प्रतीक और जैसाकि पं. जवाहरलाल नेहरू ने कहा था, “स्वतंत्रता का भूषण” हो गया।

गांधीजी के लिए चरखा जहाँ एक ओर आधुनिक यंत्रवाद, औद्योगिकता और भौतिकवाद के विरोध का मूर्तरूप था वहीं उन्हें गाँव के सबसे हीन और गरीब लोगों के साथ जोड़नेवाली कड़ी भी। चरखे के ही माध्यम से वह गाँवों के लाखों-करोड़ों गरीबों में से एक और ठीक उन्हीं के जैसे

बन सकते थे और उनके दु:ख-दर्दों को समझ सके थे। वह लिखते हैं—"गाँववालों की सूनी निगाहें मेरे कलेजे को टूक-टूक कर देती हैं। अपने बैलों के साथ कड़ी-कठोर मजूरी करते-करते वे बेचारे भी उन्हीं के जैसे बन गए हैं।" बैलों के साथ चलती हुई ये ज़िन्दा ठठरियाँ उनकी आँखों में बस गई थीं और दिन-रात में कभी भी उन्हें चैन न लेने देती थीं। जब किसी ने उनसे कहा कि शराबबंदी के लिए देश इंतज़ार कर सकता है तो वह नाराज़ हो उठे और बोले—"किसी शराबी की औरत से जाकर इंतज़ार करने के लिए कहो, फिर देखना वह तुम्हारी क्या गत बनाती है। मैं तो हज़ारों शराबियों की औरत बनकर देख चुका हूँ और इसलिए एक मिनट का भी इंतज़ार करने का धीरज अब मुझमें नहीं रहा ।" वे हज़ारों शराबियों और उनकी घरवालियों के दु:ख को ही नहीं देश के लाखों-करोड़ों अधभूखे ग्रामीणों के अपार दु:ख को भी जानते और समझते थे; वह इतने अधिक संवेदनशील थे कि दूसरों की अनुभूतियों को आत्मसात् करने में उन्हें ज़रा भी समय नहीं लगता था। भारतीय गाँवों की गरीबी और बेचारगी का ज्ञान उनके मन-प्राण को हर घड़ी लोहे की तेज अनी-सा सालता रहता था। "जब भी कोई मुझसे चरखे के बारे में पूछता है," उन्होंने एक बार कहा था, "तो मेरे अंदर एक पूरा ज्वालामुखी ही धधक उठता है।" उनकी यह मनोव्यथा अकसर उनके शब्दों में फूट पड़ती थी। जलपाई गुड़ी की एक सभा में भाषण करते हुए उन्होंने कहा था—"भारत मर रहा है...अगर तुम भारत को बचाना चाहते हो तो जो छोटा-सा काम मैं करने के लिए कहता हूँ उसे करके इसे बचा लो। मैं तो कहता हूँ कि अभी भी समय है और चरखा चलाकर तुम अपने को बचा सकते हो, वरना तबाह हो जाओगे ।" और चटगाँव के नकचढ़े विद्यार्थियों से उन्होंने कहा था, "चटगाँव की खादी खुरदुरी है और चुभती है, मगर भारत की गरीबी तो उससे भी खुरदुरी और ज्यादा चुभनेवाली है।"

अपने देशवासियों को युगों से चली आती जड़ता, निष्क्रियता, भय और अंधविश्वास से मुक्त करने के लिए उन्होंने सारे देश के दौरे किए। जब उन्हें चाँदी और सोने से मढ़े हुए मानपत्र भेंट किए जाते तो वह तिलमिला उठते और स्थानीय कारीगरों के हाथ की बनी किसी सस्ती और सुंदर कलाकृति की माँग करते थे। वह उन स्वर्ण-रजत-खचित मानपत्रों को वहीं नीलाम कर देते और नीलामी में मिला धन खादी फंड में जमा करा देते थे। एक गाँववाले जब उन्हें पहनाने के

लिए हार ले आए तो वह बुरी तरह बिगड़ उठे—'हारों पर पैसा क्यों खर्च किया ? एक रुपए में तो सोलह औरतों को एक बार खाना खिलाया जा सकता है। कितना रुपया बर्बाद कर डाला।" दक्षिण भारत गए तो वहाँ देवदासी-प्रथा की निंदा की और इस कलंक को जल्दी-से-जल्दी मिटाने पर ज़ोर दिया। मैसूर राज्य की एक नगरपालिका ने अपने यहाँ तीन लाख रुपए मूल्य का जलप्रदाय होने और छः महीनों में विद्युत्-प्रदाय के आरंभ में किए जाने की बात कही तो गांधीजी ने बधाई ज़रूर दी, पर साथ ही यह भी पूछा, "क्या आप लोग शहर के सब बच्चों को शुद्ध और सस्ता दूध दे सकते हैं ? जबतक आप लोग खुद अपने हाथ में झाड़ू और टोकरी नहीं लेंगे शहर और कस्बों की सफाई नहीं हो सकती।"

---

1. 1924 में गांधीजी की सलाह पर यह तय किया गया था कि कांग्रेस सदस्यों द्वारा साल में दिए जानेवाले चार आना शुल्क के स्थान पर दो हज़ार गज का कता सूत प्रतिमास दिया जाए। आगे चलकर, महासमिति के सदस्यों के लिए खादी पहनना अनिवार्य कर दिया गया। जो नियमित खादी नहीं पहनता था वह कांग्रेस संगठन के किसी भी निर्वाचन में भाग नहीं ले सकता था। कुछ समय बाद सूत की मुद्रा का चलन भी 'सूत की गुंडी' के रूप में शुरू हो गया; इन सूती गुंडियों के बदले खादी-भंडार से तैयार खादी दी जाने लगा। —अनुवादक

२५. बढ़ती हुई सरगर्मियाँ

पं. जवाहरलाल नेहरू बाइस महीने यूरोप में बिताकर जब दिसंबर 1927 में भारत लौटे तो उन्हें देश का राजनैतिक वातावरण काफी बदला हुआ दिखाई दिया। वह लिखते हैं—"1926 की शुरुआत में भारत सुन्न और खामोश पड़ा था, मानो 1919-22 के धक्के से पूरी तरह संभल न पाया हो; लेकिन 1928 में चारों ओर ताजगी, हलचल और बेताबी नज़र आती थी।" बात सच थी। समाज के कुछ खास-खास हिस्सों में और खासतौर पर कारखानों के मज़दूरों, किसानों और मध्यवर्गीय युवकों में बेचैनी के आसार दिखाई देने लगे थे। अखिल भारत ट्रेड यूनियन कांग्रेस मज़दूरों की लड़ाकू और वर्ग-चेतन संस्था का रूप ले चुकी थी; पं. जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचंद्र बोस जैसे तरुण क्रांतिकारी नेता उसकी कार्रवाइयों में दिलचस्पी ले रहे थे। 1928-29 में देशव्यापी हड़तालों का एक दौर आया; सबसे ज्यादा हड़तालें बंबई की सूती मिलों में, बंगाल की जूट मिल में और जमशेदपुर के लोहे और इस्पात के कारखानों में हुई थीं। मज़दूर आंदोलन देश के आम राजनैतिक आंदोलन से सीधी तरह जुड़ा हुआ तो नहीं था, लेकिन मौजूदा व्यवस्था के खिलाफ तो था ही।

छुटपुट आतंकवादी घटनाओं के अलावा, जो असंगठित होते हुए भी सरकार के लिए अच्छा-खासा सिरदर्द हो गई थीं, देश में हर जगह यूथ लीग के नाम से युवकों के संगठन भी बन रहे थे। कई युवक-सम्मेलन भी हुए, जिनमें राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक समस्याओं के काफी उग्र समाधान पेश किए गए थे।

किसानों में असंतोष की आग यों तो कई प्रांतों में अंदर-ही-अंदर सुलग रही थी, लेकिन भड़ककर ऊपर आई बंबई अहाते के गुज़रात के किसानों में ही। जिस बारडोली तालुक्के को गांधीजी ने 1922 के असहयोग का आंदोलन में करबंदी के लिए चुना था, किसानों के असंतोष का शंखनाद वहीं से गूँजना शुरू हुआ। बंबई सरकार के माल-विभाग की राय में यहाँ का बंदोबस्त करवाना ज़रूरी हो गया था। जयकर नामक एक डिप्टी कलक्टर को यह काम सौंपा गया और उसने सर्वेक्षण के बाद लगान में पैंतीस प्रतिशत बढ़ोतरी की सिफारिश की। बंदोबस्त कमिश्नर ने जयकर की रिपोर्ट को ठीक नहीं माना, लेकिन बंबई सरकार ने फिर भी लगान में बाइस प्रतिशत

वृद्धि करने की मंजूरी दे दी। बारडोली के किसानों ने बंबई की कौंसिल में अपने प्रतिनिधियों की मार्फत इस बढ़ती का विरोध किया। जब दरख्वास्तों से कोई बात नहीं बनी तो उन्होंने वल्लभभाई पटेल से इस लड़ाई का नेतृत्व करने के लिए कहा। वल्लभभाई अच्छी-खासी वकालत छोड़कर असहयोग आंदोलन में शरीक हुए थे। अहमदाबाद की नगरपालिका के अध्यक्ष की हैसियत से उन्होंने काफी नाम भी कमाया था। लेकिन देश को उनकी संगठन करने की शक्ति और योग्यता का परिचय बारडोली के संग्राम में ही मिला। उन्होंने स्थिति की जाँच-पड़ताल करके गांधीजी को यह रिपोर्ट दी कि किसानों की शिकायत सही है। "तो आगे बढ़ो !" गांधीजी ने आशीर्वाद दिए, "गुज़रात की जय हो !"

सरकार ने इस आंदोलन को तोड़ने में अपनी पूरी ताकत लगा दी। लगान चुकानेवालों को रियायतें देने की घोषणा की गई । धनी और डरपोक किसानों को फूसलाया जाने लगा। खड़ी फसलें कौड़ियों के मोल बेच दी गईं। लगान की वसूली में ज़मीनें, घर-गृहस्थी का सामान और जानवर कुर्क किए जाने लगे। गाँव में न कोई नीलामी की बोली बोलने को तैयार होता था न ज़ब्तशुदा जायदादों और जानवरों को खरीदने के लिए राज़ी। तब इस काम के लिए बाहर से पठानों को लाया गया। किसानों के पास सिर्फ एक ही हथियार था—बहिष्कार; और उन्होंने अत्याचारी अफसरों और सरकार का साथ देनेवाले अपने डरपोक भाइयों के खिलाफ भी इस हथियार को खूब इस्तेमाल किया।

सत्याग्रह के इस व्यापक प्रयोग में गांधीजी की गहरी दिलचस्पी थी। वह इसका पूरा समर्थन कर रहे थे; लेकिन वल्लभभाई पटेल ने उन्हें बारडोली आने की सलाह नहीं दी, क्योंकि हर क्षण ऐसा लग रहा था कि यह लड़ाई अखिल भारतीय रूप ग्रहण कर लेगी। विट्ठलभाई पटेल ने लार्ड इर्विन से हस्तक्षेप करने का अनुरोध किया। कांग्रेस की कार्यसमिति ने बारडोली-संघर्ष के संभावित परिणामों पर विस्तार से विचार किया और तटस्थ पर्यवेक्षकों का एक दल, जिसमें पं. हृदयनाथ कुंजरू भी थे, मौके की जाँच-पड़ताल के लिए बारडोली भेजा गया। बंबई कौंसिल के कुछ सदस्यों ने इस सवाल पर अपने त्यागपत्र भी दे दिए। सभी भारतीय अखबारों और अंग्रेज़ों के 'स्टेट्समेन' और 'पायोनियर' ने भी जाँच-समिति बैठाने की माँग का समर्थन किया। बड़े हीले-हवालों के बाद

सरकार राज़ी हुई और दो ब्रिटिश अधिकारियों की एक जाँच-समिति नियुक्त की गई। इस जाँच-समिति ने बाईस प्रतिशत वृद्धि को अनुचित बतलाते हुए केवल पाँच प्रतिशत वृद्धि की सिफारिश की। बारडोली के किसानों की जीत हुई। उन्होंने अपने नेता वल्लभभाई पटेल को सरदार की पदवी से विभूषित किया। कई वर्षों की निष्क्रियता और जड़ता के बाद बारडोली के सफल संग्राम ने देशभक्तों के दिलों में एक नया जोश पैदा कर दिया। बारडोली की लड़ाई इस बात का संकेत थी कि देश की जनता आज़ादी के लिए लड़ने को तैयार खड़ी थी।

उधर देश के राजनैतिक क्षितिज पर से अन्यमनस्कता का कुहासा भी धीरे-धीरे छँटता जा रहा था। स्वराज्य पार्टी 1923 से देश के राजनैतिक मंच पर आसीन थी। वह नए विधान को विफल करने और नौकरशाही के खिलाफ वातावरण बनाने पर तुली हुई थी। उसके संस्थापक पं. मोतीलाल नेहरू और सी. आर. दास के अतिरिक्त लाला लाजपत राय और माननीय जयकर का सक्रिय सहयोग भी उसे प्राप्त था। उसने अपने काम का आरंभ काफी अच्छी तरह किया। 1923 और 1924 में दो प्रांतों में द्वैध शासन-प्रणाली को चलने ही नहीं दिया। केन्द्र में सांप्रदायिक मताधिकार और अफसरों एवं मनोनीत सदस्यों का बाहुल्य होते हुए भी सरकारी प्रतिष्ठा को हानि पहुँचानेवाले कई काम किए; बजट मंजूर नहीं होने दिए और नए विधान के लिए गोलमेज परिषद् बुलाने की माँग बुलंद की। शुरू के दिनों में सरकार पर स्वराज्य पार्टी का कितना दबदबा था, यह बात तत्कालीन वाइसराय द्वारा उपनिवेश-मंत्री के नाम लिखे एक पत्र से मालूम होती है : ‘इस समय तो बस स्वराजी का बोलबाला है; न कोई उसकी बराबरी करनेवाला है और न कोई उसपर वार करनेवाला...स्वराजियों के मुकाबले नरमदली (माडरेट) तो बड़ा ही सुस्त और घोंघा बसंत मालूम पड़ता है।“[1]

लेकिन स्वराज्य पार्टी का यह ऊँचा अनुशासन ज्यादा दिन चल न पाया। कौंसिलों में अपना बहुमत न होने से दूसरे दलों का सहयोग लेना आवश्यक हो जाता था, और कई बार सिद्धांतों की बलि देकर भी सहयोग लेना पड़ता था। सरकार स्वराज्य पार्टी के कमज़ोर सदस्यों को फुसलाकर तोड़ने में कामयाब भी हो जाती थी—किसी के आगे प्रांत के मंत्री-पद का टुकड़ा फेंका जाता, तो किसी को जिनेवा की सैर का लालच दिया जाता था। जो लोग सांप्रदायिक मताधिकार से चुनकर

आए थे वे अंत तक देशव्यापी सांप्रदायिकता के जहर से अछूते न रह सके। मुस्लिम सदस्य पार्टी से किनारा करते चले गए और महाराष्ट्र के स्वराजियों ने 'सापेक्ष सहयोग'[2] का नारा बुलंद कर दिया। पार्टी को करारी चोट तो उस समय लगी जब दल के उपनेता लाला लाजपतराय ने त्यागपत्र दे दिया। 1926 के आम चुनाव में स्वराजियों की संख्या केन्द्रीय और प्रांतीय दोनों ही तरह की कौंसिलों में काफी कम हो गई। केवल मदरास को छोड़कर सब जगह उन्हें अपनी 'सीटों' से हाथ धोना पड़ा। संयुक्तप्रांत से अकेले पं. मोतीलाल नेहरू ही केन्द्रीय कौंसिल के लिए चुने जा सके। उन्हींके शब्दों में, "राष्ट्रीयता और हीन कोटि की सांप्रदायिकता के बीच लड़ाई थी, और उसमें सांप्रदायिकता की जीत हुई।"

अब सरकार को कौंसिलों में अपने मन की करने का मौका मिल गया। 1926 के आम चुनाव से कुछ ही दिन पहले फरवरी में पं. मोतीलाल नेहरू को कहना पड़ा था कि "ये दिखावटी संस्थाएं अब हमारे किसी काम के नहीं रह गई हैं।" कौंसिलों की उपयोगिता के बारे में उनके विचारों ने कैसे पलटा खाया और वह क्योंकर इस नतीजे पर पहुँचे कि मौजूदा हालतों में भारत के लिए वैध उपाय बिलकुल ही अनुपयुक्त थे, इसका बहुत अच्छा वर्णन उनके सुपुत्र पं. जवाहरलाल नेहरू ने अपनी आत्मकथा 'मेरी कहानी' में किया है। और अधिकांश स्वराज़ी, जो फिर गांधीजी के साथ आ गए, उसका सबसे बड़ा कारण पार्लमेंटरी तरीकों में उन लोगों के भ्रमों का निवारण ही था।

1927 में असंतोष की आग अंदर-ही-अंदर तो अवश्य घुमड़ रही थी, लेकिन ऊपर से राजनैतिक वातावरण बिलकुल शांत था। लार्ड रीडिंग की भविष्यवाणी सही थी कि उनके उत्तराधिकारी के अठारह महीने शांति से बीतेंगे, लेकिन वह शांति तूफान से पहले का सन्नाटा होगा। आखिर तूफान आया, लेकिन उसे लाने की जिम्मेवारी ब्रिटिश सरकार पर ही थी। 2 नवंबर, 1927 को वाइसराय ने गांधीजी, पं. मोतीलाल नेहरू, डॉ. अंसारी और जिन्नासाहब को दिल्ली बुलाकर शाही कमीशन की नियुक्ति की घोषणा का एक पर्चा थमा दिया। इन लोगों को दिल्ली सिर्फ इसीलिए बुलाया गया था। गांधीजी उस समय दक्षिण में थे और करीब हज़ार मील की यात्रा करके दिल्ली पहुँचे थे। बड़े ही क्षोभ के साथ उन्होंने कहा था कि क्या एक पोस्टकार्ड से इसकी

सूचना नहीं दी जा सकती थी ! और भारतीय नेताओं को जो पर्चा दिया गया था, उसका विषय बिलकुल नया हो, सो बात भी नहीं थी। समाचार-पत्र उसकी पूर्व-सूचना अपने पाठकों को पहले ही दे चुके थे। वाइसराय के जीवनी-लेखक का कहना है कि भारतीय नेता इतने अपमानित पहले कभी नहीं हुए थे।[3]

1919 के इंडियन रिफार्म्स एक्ट में दस वर्ष के बाद भारत की संवैधानिक स्थिति पर विचार करने का प्रावधान रखा गया था। अनुदार दली (कंजरवेटिव) अंग्रेज़ उस प्रावधान को अपनी सुरक्षा और भारतीय देशभक्त आगे बढ़ने का अवसर मानते थे। निर्धारित अवधि से दो वर्ष पूर्व, 1927 में, शाही कमीशन की नियुक्ति होते देख लोग-बाग तरह-तरह की अटकलें लगाने लगे। आम राय यह थी कि इंग्लैंड की कंजरवेटिव सरकार अपनी उत्तराधिकारी मज़दूर सरकार को, इंग्लैंड के आम चुनाव के बाद जिसके बन जाने की पूरी संभावना थी, भारतीय समस्या को हल करने का मौका नहीं देना चाहती; उसे स्वयं ही हल करना चाहती है। लार्ड बरकनहेड ने अपनी पुस्तक ‘अंतिम दौर' (दि लास्ट फेज़) में लिखा भी है कि “हम इस बात का ज़रा भी खतरा मोल नहीं लेना चाहते कि 1928 के कमीशन की नियुक्तियाँ हमारे उत्तराधिकारी करें।” लार्ड बरकनहेड का उद्देश्य जो भी रहा हो उनका नियुक्त किया हुआ कमीशन भारत में सफल न हो सका।

कमीशन के अध्यक्ष सर जान साइमन[4] को छोड़कर उसके शेष सभी सदस्य 'द्वितीय श्रेणी' के लोग थे। अंग्रेज़ लेखक वाइकाउंट साइमन के शब्दों में 'कमीशन के कनिष्ठ सदस्य' क्लीमेंट इटली, जो आगे चलकर इंग्लैंड के प्रधानमंत्री बने, उस समय पार्लमेंट की कामंस सभा की पिछली बेंचों पर बैठनेवाले अप्रसिद्ध व्यक्ति थे। लेकिन जिस बात से भारतीय को सबसे अधिक आघात पहुँचा था वह यह थी कि उस कमीशन में एक भी भारतीय को नहीं रखा गया था, सब-के-सब गोरे थे। यह तर्क कि ब्रिटिश पार्लमेंट के प्रति उत्तरदायी शाही कमीशन में किसी बाहरी आदमी को नहीं रखा जा सकता था, वैधानिक दृष्टि से तो ठीक था, लेकिन राजनैतिक दृष्टि से वह एक बहुत बड़ी भूल थी। भारत में उस कमीशन को स्वतंत्र होने की भारतीयों की योग्यता का विदेशी परीक्षक समझा गया। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने 'हर जगह और हर तरह’[5] से उसके बहिष्कार

का फैसला किया। यहाँतक कि जिन माडरेट और मुस्लिम नेताओं के सहयोग की बरकनहेड को पूरी आशा थी, उन्होंने भी कमीशन का विरोध करने में राष्ट्र का साथ दिया।

साइमन कमीशन जहाँ भी गया सर्वत्र काले झंडों से[5] उसका स्वागत किया गया और उसके विरोध में आम हड़तालें हुईं। पुलिस ने सभी शहरों में प्रदर्शनकारियों पर डंडे बरसाए और पंजाब केसरी लाला लाजपतराय पर तो एक युवक अंग्रेज़ अफसर के हाथों इतनी मार पड़ी कि अंदरूनी चोटों के फलस्वरूप थोड़े ही दिनों के बाद उनकी मृत्यु भी हो गई। इस दुर्घटना से जनता का गुस्सा और भी भड़का और बहिष्कार में ज्यादा तेज़ी आ गई। सरकार भी और ज्यादा कठोरता से काम लेने लगी और प्रदर्शनकारियों पर डंडे बरसाना आम बात हो गई ।

साइमन कमीशन के बहिष्कार से देश की सोई हुई राजनीति में एक उफान-सा आ गया और इधर-उधर बिखरे हुए सारे राजनैतिक दल एक मंच पर आ जमा हुए। बरकनहेड की इस चुनौती का कि "भारतीय अपने लिए जिस तरह का विधान चाहते हैं उसकी रूप-रेखा प्रस्तुत क्यों नहीं करते, जबकि अपने तीन वर्ष के उपनिवेश-मंत्रीत्व काल में मैं दो बार उनसे यह कह चुका हूँ और आज फिर कह रहा हूँ।" जवाब देने के लिए एक सर्वदल-सम्मलेन का आयोजन किया गया और उसने विधान की जो रूपरेखा तैयार की वह इतिहास में 'नेहरू-रिपोर्ट' के नाम से प्रसिद्ध है। इस रिपोर्ट में पार्लामेंटरी ढंग की सरकार, संयुक्त चुनाव-पद्धति और अल्प-संख्यकों के संरक्षण की कुछ जटिल-सी प्रणाली की बात कही गई थी। अगस्त 1928 में सर्वदल, सम्मेलन की अंतिम बैठक में जब इस मसविदे को स्वीकृति के लिए पेश किया गया तो 'औपनिवेशिक स्वराज्य' और 'पूर्ण स्वाधीनता' के प्रश्न को लेकर विवाद छिड़ गया। नेहरू-रिपोर्ट में 'औपनिवेशिक स्वराज्य' की बात कांग्रेस के नरम और गरम सभी विचार के नेताओं में एकता बनाए रखने के उद्देश्य से कही गई थी। लेकिन उग्र विचारों के तरुण नेताओं को यह स्वीकार न हुआ; वे देश की स्वतंत्रता को सीमित करने के ज़रा भी पक्ष में नहीं थे। लेकिन पं. मोतीलाल नेहरू, जिनके नाम पर रिपोर्ट का नामकरण हुआ था, उसकी उसी रूप में, बिना किसी परिवर्तन के, स्वीकृति चाहते थे। इसपर पं. जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचंद्र बोस इतने नाराज़ हुए कि उन्होंने कांग्रेस से इस्तीफे ही दे दिए। लेकिन उनके इस्तीफे मंजूर नहीं किए गए। तब उन लोगों ने कांग्रेस जनों में पूर्ण स्वाधीनता

के विचारों का प्रचार करने के लिए एक स्वाधीनता (इंडिपेंडेंस) लीग बना डाली। दिसंबर 1928 में कलकत्ते में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन होनेवाला था और अभी से ऐसा लग रहा था कि वहाँ नए और पुराने खून में ठनकर ही रहेगी।

सर्वदल-सम्मेलन और नेहरू-रिपोर्ट को तैयार करने में गांधीजी ने कोई भाग नहीं लिया था। लेकिन उन्होंने रिपोर्ट को "समस्त उचित आकांक्षाओं" को संतुष्ट करनेवाली अवश्य माना था। कांग्रेस के गौहाटी (1926) और मदरास (1927) अधिवेशनों में भी उन्होंने सक्रिय रूप से हिस्सा नहीं लिया था। अगर कलकत्ता-अधिवेशन के अध्यक्ष पं. मोतीलाल नेहरू ने उन्हें जल्दी-से बुलाने न भेजा होता तो संभवतः 1928 के अधिवेशन में भी वह कोई दिलचस्पी न लेते। उन्होंने यह कहकर गांधीजी को संकट में सहायता करने के लिए बुला लिया था—"आपने मुझे अध्यक्ष की कुर्सी पर काँटों का ताज पहनाकर बिठा तो दिया है; अब मेरी मुसीबतों का तमाशा दूर से तो न देखिए।"

कलकत्ता-अधिवेशन में गांधीजी के समझौता-प्रयत्नों से कांग्रेस की फूट टल गई। अधिवेशन ने एक प्रस्ताव करके नेहरू-रिपोर्ट को इस शर्त के साथ स्वीकार कर लिया कि यदि 31 दिसंबर, 1929 तक सरकार ने इसे स्वीकार नहीं किया तो कांग्रेस पूर्ण स्वाधीनता की माँग करेगी और आवश्यक हुआ तो उसके लिए अहिंसात्मक असहयोग भी करेगी। गांधीजी सरकार को दो वर्ष का समय देना चाहते थे, जिससे कांग्रेस भी इतने समय में अपने संगठन को मजबूत बना सके। आज़ादी के बारे में बकवास करनेवालों से उन्होंने खुले अधिवेशन में कहा था : "आप लोग चाहे स्वतंत्रता का राग अलापा करें, जैसे कि मुसलमान अल्ला का राग अलापता है और हिन्दू राम या कृष्ण का; लेकिन यदि इस अलाप के पीछे सचाई नहीं है तो आपका यह अलाप कोई मतलब नहीं रखता।" उन्होंने यह चेतावनी भी दी कि जबतक राष्ट्र अपने अधिकारों का दावा करने की तैयारी नहीं कर लेता, "अपनी बात को मनवाने के लिए इतनी ताकत नहीं जमा कर लेता," ब्रिटिश सरकार न तो औपनिवेशिक स्वराज्य देने को राज़ी होगी और न पूर्ण स्वाधीनता ही। अगर कांग्रेस सरकार से अहिंसात्मक लड़ाई लड़ना चाहती है तो पहले उसे अपना संगठन मजबूत बनाना होगा। कांग्रेस की सदस्य-संख्या को उन्होंने 'नकली' बताया और कांग्रेस को सच्चे,

प्राणवान, सक्रिय सदस्यों की संस्था बनाने पर ज़ोर दिया। अंत में उन्होंने यह भी कहा कि प्रस्ताव का महत्त्व और उसकी उपयोगिता तभी होगी जब आगे डटकर काम किया जाए।

कलकत्ता-कांग्रेस ने गांधीजी के राजनीति में लौट आने का मार्ग साफ कर दिया। अगर ब्रिटिश सरकार ने कांग्रेस की माँग को मंजूर नहीं किया-और मंजूर किए जाने की कोई संभावना दिखाई नहीं देती थी—तो कांग्रेस असहयोग आंदोलन छेड़ने के लिए वचनबद्ध हो चुकी थी और सभी जानते थे कि केवल गांधीजी ही ऐसे आंदोलन का संचालन कर सकते थे। मार्च 1922 में उन्हें छः साल की कैद की सज़ा दी गई थी, बीमारी के कारण 1924 में मियाद से पहले रिहा किया जाना उन्हें ज़रा भी अच्छा नहीं लगा था। मार्च, 1928 तक वह ‘नैतिक दृष्टि से' अपने को बंदी ही मानते थे। लेकिन अब मियाद पूरी हो चली थी और सक्रिय राजनीति से लिए हुए संन्यास को राजनैतिक एवं वैयक्तिक दोनों ही कारणों से समाप्त करने का समय आ गया था।

---

1. रीडिंग, मार्क्वेस आफ : 'रूफस इज़ाक्स, फर्स्ट मार्क्वेस आफ रीडिंग', जिल्द 2, पृष्ठ 283।
2. रेसपांसिव कोआपरेशन ।
3. जान्सन, एलन केंपबेल : 'वाइकाउंट हैली फेक्स', पृष्ठ 190।
4. अध्यक्ष के ही नाम पर उस कमीशन का नामकरण 'साइमन कमीशन' किया गया था।
5. और 'साइमन कमीशन गो बैक (साइमन कमीशन लौट जाओ) के नारों से।

—अनुवादक

२६. रियायत का एक साल

कांग्रेस के कलकत्ता-अधिवेशन ने ब्रिटिश सरकार को, पं. जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में, "एक साल की रियायत और विनम्र चेतावनी (अल्टीमेटम)" दे दी थी। अगर सरकार ने 1929 के अंत तक औपनिवेशिक स्वराज्य की माँग को पूरा न किया तो कांग्रेस आंदोलन छेड़ देगी। गांधीजी को 1929 में यूरोप जाने का निमंत्रण मिला था, लेकिन कलकत्ता-कांग्रेस में मुख्य प्रस्ताव पास करवा चुकने के बाद यूरोप जाना उन्हें "काम छोड़कर भागने" जैसा लग रहा था। कांग्रेस ने अपनी ओर से एक साल का अवसर दे दिया था; अब कुछ करने की बारी सरकार की थी। परंतु गांधीजी जानते थे कि आज़ादी अंग्रेज़ों से सेंत में नहीं मिलेगी।

सत्याग्रह के पैंतरे और मोर्चेबंदियाँ महीनों या बरसों पहले से तय नहीं की जातीं। लेकिन देश की जनता को राजनैतिक शिक्षा देना और अनुशासित करना तो आवश्यक था ही। इसके लिए गांधीजी ने देशव्यापी दौरा शुरू किया। सब जगह उन्होंने लोगों से चरखा चलाने, खादी पहनने और विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार करने के लिए कहा। कांग्रेस की ओर से स्वयंसेवकों के द्वारा खादी-बिक्री की एक योजना भी उन्होंने तैयार की। घर-घर जाकर विदेशी कपड़े जमा करने, सार्वजनिक रूप से उनकी होली जलाने और विदेशी कपड़ा बेचनेवाली दुकानों की पिकेटिंग करने का कार्यक्रम भी इस योजना में सम्मिलित था। मार्च 1929 में जब गांधीजी कलकत्ता में थे, उनकी उपस्थिति में वहाँ के श्रद्धानंद पार्क में विदेशी कपड़ों की बहुत बड़ी होली जलाई गई। सरकार ने पहले ही बंगाल प्रांतीय कांग्रेस कमेटी पर नोटिस तामील कर दिया था कि सार्वजनिक स्थानों में या उनके आस-पास विदेशी कपड़ों की होली जलाना जुर्म है। गांधीजी का इरादा इस समय किसी भी कानून को तोड़ने का नहीं था। उन्होंने कहा था, "वैसे तो जितने भी कानून नैतिक दृष्टि से अनुचित हैं उन सभी को मैं तोड़ सकता हूँ, लेकिन अभी मेरे लिए वह समय नहीं आया है।" फिर लोगों ने उन्हें यह भी बता दिया था कि श्रद्धानंद पार्क, जहाँ सभा करके होली जलाई जानेवाली थी, सार्वजनिक स्थान नहीं था। खैर, होली जलाई गई और सरकार ने वहीं मौके पर गांधीजी को गिरफ्तार कर लिया। चीफ प्रेसीडेंसी मैजिस्ट्रेट की अदालत में 5 मार्च को हाज़िर रहने के मुचलके पर उन्होंने दस्तखत करने से इनकार कर दिया। वह उस समय बर्मा जा रहे थे, जो चौदह वर्षों के

बाद उस देश में उनकी दूसरी यात्रा थी; इसलिए मुकदमा उनके लौट आने तक स्थगित कर दिया गया। तीन सप्ताह बाद, बर्मा से लौट आकर, वह स्वयं अदालत में हाज़िर हो गए, मुकदमा चला और उनपर एक रुपया जुर्माना किया गया। उनके अनजान में ही किसीने जुर्माना अदा भी कर दिया। इस मुकदमे से विदेशी कपड़ों के बहिष्कार ने और तेज़ी पकड़ ली। जिस दिन गांधीजी के मुकदमे की सुनवाई हुई उस दिन सारे देश में विदेशी कपड़ों की होलियाँ जलाई गईं।

देशव्यापी असंतोष की जानकारी सरकार को भी थी। कांग्रेस ने अल्टीमेटम दे ही दिया था; 1930 के आरंभ में आंदोलन शुरू होने की हवा गरम थी; इसके सिवा अशांति के कुछ और चिह्न भी दृष्टिगोचर होने लगे थे। औद्योगिक मज़दूरों में असंतोष फैलता जा रहा था। बंबई और जमशेदपुर में तो हड़तालें भी हो गई थीं। 1929 के अप्रैल महीने में केन्द्रीय असेंबली के अध्यक्ष विट्ठलभाई पटेल जब असेंबली-भवन में पब्लिक सेफ्टी बिल पर अपना निर्णय देने के लिए खड़े हुए तो दर्शक गैलरी से असेंबली-भवन में बम फेंके गए। भगतसिंह और बटुकेश्वरदत्त ने ये बम फेंके थे; दोनों वहीं गिरफ्तार कर लिए गए। बाद में जब मुकदमा चला तो उन्होंने यह बताया था कि उनका इरादा किसी की जान लेने का नहीं, सरकार के बहरे कानों तक भारतवासियों की उमंगों का संदेश पहुँचाना था। देश के कई हिस्सों में आतंकवादी कार्रवाइयाँ होने लगीं; सरकार ने नौजवानों और क्रांतिकारियों की अंधाधुंध गिरफ्तारियाँ कर सबपर षड्यंत्र केस चला दिए। देश के बच्चे-बच्चे की जबान पर क्रांतिकारियों का नाम हो गया। जो आतंकवाद के समर्थक नहीं थे वे भी आतंकवादियों के उद्देश्य की सराहना करने लगे। जब क्रांतिकारियों ने जेल के दुर्व्यवहार के खिलाफ भूख हड़ताल कर दी तो सारे देश में गुस्से और बेचैनी की लहर दौड़ गई। उस भूख-हड़ताल में यतीन्द्रनाथ दास जेल में ही शहीद हो गए। उनके बलिदान के उपलक्ष्य में देशव्यापी हड़ताल करके जनता ने ब्रिटिश राज्य के प्रति अपने गुस्से और नफरत को ज़ाहिर किया।

देश के बढ़ते हुए असंतोष और रोष को कुचलने के ही लिए सरकार ने पब्लिक सेफ्टी बिल पेश किया था। उसमें कार्यपालिका को और भी अनियंत्रित अधिकार दिए गए थे। असेंबली के अध्यक्ष विट्ठलभाई पटेल ने अपने विशेषाधिकारों का प्रयोग करके उसे कानून का रूप दे दिया। मार्च, 1929 में कई प्रमुख ट्रेड यूनियन नेताओं को, जिनमें 'कुछ कम्यूनिस्ट, कुछ कम्यूनिस्ट-

समर्थक और कुछ निरे ट्रेड यूनियनिस्ट थे,' पकड़कर जेल में डाल दिया और उनपर सुप्रसिद्ध 'मेरठ षड्यंत्र केस' के नाम से मुकदमा चलाया गया। गांधीजी ने इस मुकदमे पर टिप्पणी करते हुए लिखा था कि "मुझे तो इस मुकदमे का उद्देश्य साम्यवाद को खत्म करना नहीं, लोगों के दिलों में आतंक पैदा करना ही लगता है।" और उन्होंने यह भी कहा था कि "सरकार अपने खूनी पंजे दिखा रही थी।"

लेकिन इतना सब होते हुए भी तत्कालीन वाइसराय लार्ड इर्विन का इरादा बहुत ज्यादा सख्ती करने का नहीं था। 1929 की गर्मियों में वह इंग्लैंड गए और वहाँ के राजनीतिज्ञों से भारत की स्थिति पर विचार-विमर्श किया। जब वह वहाँ पहुँचे तो सरकार बदल गई थी और मज़दूर दल के मंत्रिमंडल ने शासन-सूत्र संभाल लिया था। मज़दूर-दल की सरकार के उपनिवेश-मंत्री वेजवुडबेन भारतीयों के निरंतर बढ़ते हुए असंतोष को रोकने के लिए कुछ करने की लार्ड इर्विन की सलाह से सहमत थे। संवैधानिक प्रश्न पर विचार करने के लिए भारतीयों और अंग्रेज़ों की मिली-जुली गोलमेज परिषद् बुलाने के लार्ड इर्विन के सुझाव का उन्होंने समर्थन किया। लार्ड इर्विन भारत लौट आकर गोलमेज परिषद् की सूचना देते समय इस बात पर ज़ोर देना चाहते थे कि भारत में ब्रिटिश नीति का लक्ष्य अब भी औपनिवेशिक स्वराज्य ही है, वेजवुड साहब ने उनके इस विचार का भी समर्थन किया। लेकिन लिबरल पार्टी के दो प्रमुख स्तंभ लायर्ड जार्ज और लार्ड रीडिंग ने लार्ड इर्विन के प्रयत्नों को कोई बढ़ावा नहीं दिया। लेबर सरकार का हाउस आफ कामन्स में बहुमत नहीं था, उसे लिबरलों के समर्थन पर निर्भर करना पड़ता था; लेकिन उपनिवेश-मंत्री वेजवुड खतरा मोल लेने को तैयार हो गए।

भारत लौटकर लार्ड इर्विन ने 31 अक्तूबर, 1929 के दिन एक 'असाधारण राजपत्र' के द्वारा गोलमेज परिषद् की सूचना भारतवासियों को दे दी। वाइसराय ने यह बात इतनी चतुराई से कही थी कि उससे ज्यादा पाने और कम देने के, दोनों ही अर्थ निकाले जा सकते थे। लेकिन कुल मिलाकर उस घोषणा का देश में अच्छा ही स्वागत हुआ। माडरेट नेताओं ने तो, वाइसराय के जीवनी-लेखक के शब्दों में, "परिषद् को अपनी बुद्धिकौशल दिखलाने का मनचाहा अवसर माना और वह लार्ड इर्विन के विश्वस्त मित्र बन गए।" कांग्रेस के नेता तो किसी ऐसे संकेत की प्रतीक्षा

ही कर रहे थे, जो औपनिवेशिक स्वराज्य की आशा को बढ़ाने और सरकार से संघर्ष को टालनेवाला हो; इसलिए उन्होंने इस घोषणा को सरकार का 'हृदय-परिवर्तन' माना। एक 'संयुक्त वक्तव्य के द्वारा गांधीजी, पं. मोतीलाल नेहरू, पटेल, तेजबहादुर सप्रू, श्रीमती एनी बेसेंट और जवाहरलाल नेहरु आदि प्रमुख नेताओं ने इस घोषणा पर संतोष प्रकट किया और उसमें निहित सदिच्छाओं की सराहना की।

लेकिन उधर इंग्लैंड के कंज़रवेटिव अखबारों और पार्लमेंट की लार्ड सभा में इसीपर तूफान खड़ा हो गया। अनुदार दल के लार्डों ने लेबर सरकार पर यह आरोप लगाया कि वाइसराय की घोषणा इंग्लैंड की भारत के प्रति अबतक की नीति के खिलाफ थी। लेबर सरकार का कामंस सभा में बहुमत तो था नहीं, केवल लीपापोती करके जान बचाई जा सकती थी। वेजवुड साहब ने यह साबित करने की कोशिश करके किसी तरह मामले को ठंडा किया कि भेद केवल घोषणा के शब्दों में है, नीति तो वही पुरानी है। अगस्त, 1917 की मांटेगू-घोषणा की सिर्फ नए सिरे से व्याख्या कर दी गई है।

पार्लमेंट की बहस का भारतीय नेताओं पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। सरकार की सदिच्छा में उनके विश्वास को एक बार फिर ठोकर लगी। वाइसराय ने भारत में जो कुछ करना चाहा था, इंग्लैंड में परिस्थितियों के शिकार उपनिवेश-मंत्री ने उस पर पानी फेर दिया। वाइसराय की घोषणा ने सरकार और भारतीय नेताओं के दिलों को जोड़ने के लिए जो अस्थायी कड़ी प्रस्तुत कर दी थी, वह फिर टूट गई।

विट्ठलभाई पटेल और सर तेजबहादुर सप्रू ने कांग्रेस और सरकार में समझौता कराने का एक अंतिम प्रयत्न और किया। वाइसराय ने कांग्रेसी नेताओं को 23 दिसंबर के दिन दिल्ली मिलने के लिए बुलाया। उसी दिन सवेरे दक्षिण के दौरे से लौटते हुए नई दिल्ली के निकट लार्ड इर्विन की रेलगाड़ी के पहिए के नीचे बम फटा, पर वह बाल-बाल बच गए | इस दुर्घटना से बच जाने पर गांधीजी ने वाइसराय को बधाई दी। लेकिन नेताओं और वाइसराय की भेंट का इच्छित परिणाम नहीं हुआ। वह नेताओं को यह आश्वासन नहीं दे सके कि गोलमेज परिषद् की कार्रवाई पूर्ण औपनिवेशिक स्वराज्य को आधार मानकर होगी ।

दिल्ली में वाइसराय और भारतीय नेताओं के असफल सम्मेलन के तुरंत बाद ही लाहौर में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन होने जा रहा था। दिसंबर 1928 में कांग्रेस ने सरकार को जो एक साल की अवधि दी थी उसके भी पूरा होने का समय करीब आ गया था। कांग्रेस तो प्रस्ताव कर ही चुकी थी कि अगर सरकार ने एक साल की अवधि में औपनिवेशिक स्वराज्य की माँग को मंजूर नहीं किया तो पूर्ण स्वाधीनता की घोषणा कर दी जाएगी। भारतीय नेता वाइसराय से ब्रिटिश नीति के लक्ष्य के बारे में गोलमोल बातें नहीं स्वशासन की ओर कदम बढ़ानेवाला कोई ठोस और स्पष्ट आश्वासन चाहते थे। लार्ड इर्विन की इस बात से कि “लक्ष्य की प्राप्ति के लिए लक्ष्य के दाबे पर ज़ोर देना ज्यादा ज़रूरी होता है” गांधीजी और पं. मोतीलाल नेहरू कांग्रेस के आगामी अधिवेशन में आम सदस्यों का समर्थन प्राप्त नहीं कर सकते थे। इस तर्क को भी लोगों के गले नहीं उतारा जा सकता था कि जो पार्लमेंट का संवैधानिक दायित्व है, उसमें हस्तक्षेप नहीं किया जा सकता; क्योंकि ब्रिटिश मंत्रीमंडल अनेक अवसरों पर पार्लमेंट की पूर्ण अनुमति अथवा स्वीकृति के बिना नीति-संबंधी ऐसी घोषणाएं कर चूका था, जिनका बाद में पार्लमेंट ने अनुमोदन कर दिया। देश की जनता का यह विचार ठीक ही प्रतीत होता था कि भारत में साम्राज्यवादी शासन-प्रणाली के बदले औपनिवेशिक स्वराज्य स्थापित करने की मज़दूर-दल की सरकार में न हिम्मत थी और न तैयारी ही।

भारतीयों की उस समय की मनःस्थिति का पं. मोतीलाल नेहरू ने विट्ठलभाई पटेल के नाम लिखे अपने एक पत्र में बिलकुल यथार्थ वर्णन किया है; उन्होंने लिखा था—“सबकी आँखें लाहौर पर टिकी हैं।" लाहौर का अधिवेशन सभी दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण लग रहा था। एक ऐसे संघर्ष के छेड़े जाने की पूरी आशा थी, जिसका नेतृत्व गांधीजी ही कर सकते थे। गांधीजी को लाहौर-कांग्रेस का सभापति बनाने की बात लगभग निश्चित ही समझी जा रही थी। लेकिन उन्होंने यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि अध्यक्ष के लिए आवश्यक दैनंदिन कार्यों को करने का समय उनके पास नहीं है; और जहाँतक कांग्रेस की सेवा करने का प्रश्न है, उसे तो वह बिना कोई पद ग्रहण किए भी बराबर करते ही रहेंगे। उनकी प्रेरणा से कांग्रेस की महा-समिति ने पं. जवाहरलाल नेहरु को लाहौर-अधिवेशन का अध्यक्ष निर्वाचित किया; स्वयं नेहरू जी के शब्दों में—“मुख्य द्वार

से, यहाँतक कि बगल के दरवाज़े से भी नहीं, बल्कि चोर दरवाज़े से" पहुँचकर वे इस उच्च पद पर आसीन हुए थे।

पं. जवाहरलाल नेहरू का अध्यक्ष-पद पर चुनाव महात्मा गांधी का सर्वोत्कृष्ट राजनैतिक कृतित्व था। पिछले ही साल कलकत्ता-कांग्रेस में नए और पुराने नेतृत्व में जमकर लड़ाई हुई थी। नई पीढ़ी पुराने नेतृत्व की रीति-नीति में अपना संदेह और अविश्वास प्रकट कर चुकी थी। गांधीजी की कुशलता के कारण फूट किसी तरह टल गई थी। लेकिन नई आशा और उत्साह से भरे देश की प्रतिनिधि संस्था कांग्रेस नया खून और नूतन नेतृत्व चाहती थी। इसलिए गांधीजी ने कांग्रेस की बागडोर बयालीस वर्षीय जवाहरलाल नेहरू के हाथों में सौंप दी, जो समय पाकर गांधीजी के सच्चे राजनैतिक उत्तराधिकारी बने और जिनके बारे में गांधीजी ने उस समय कहा था—‘सौ टंच का सोना...एकदम खरा और विश्वसनीय...निडर और साहसी शूरमा।”

पं. जवाहरलाल नेहरू गांधीजी से उम्र में बीस वर्ष छोटे थे, दोनों के विचारों में भी काफी अंतर था, लेकिन फिर भी दोनों का पारस्परिक स्नेह अद्भुत और अगाध था। 1927 में यूरोप से लौटकर पंडितजी ने कई ऐसे काम किए थे, जो गांधीजी को पसंद नहीं आए। उन्होंने 1928 के आरंभ में नेहरूजी को लिखा भी था - “तुम बहुत तेज चल रहे हो; सोचने और अपने-आपको हमारे यहाँ की हालतों के माफिक ढालने में तुम्हें थोड़ा समय लगाना चाहिए।” थोड़े दिनों बाद गांधीजी ने अपने दूसरे पत्र में यह स्वीकार किया कि “तुममें और मुझमें विचारों का अन्तर इतना अधिक और उग्र है कि हम कहीं एकराय हो ही नहीं सकते।” विचारों का यह अंतर कभी बढ़ जाता था और कभी कम हो जाता था। मिटा तो कभी नहीं, लेकिन इससे उनके पारस्परिक स्नेह और श्रद्धा में कभी बाधा नहीं आई।

दिसंबर 1929 में घटना-चक्र बहुत तेज़ी से चल रहा था, सरकार से संघर्ष का वातावरण निर्मित हो चुका था और जवाहरलाल नेहरू देश के सेनानायक थे।

२७. सविनय अवज्ञा

पंजाब में कांग्रेस का अधिवेशन पूरे दस वर्षों के बाद हो रहा था। दिसंबर 1919 में अमृतसर में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ था। उसके एक वर्ष बाद 1920 में सत्याग्रह-आंदोलन शुरू किया गया था। 31 दिसंबर, 1929 को रावी के तट पर पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव पास हुआ, कांग्रेस ने अपने सदस्यों को कौंसिलों से इस्तीफा देने का आदेश दिया और महासमिति को सविनय अवज्ञा शुरू करने के अधिकार दे दिए गए।

सरकार भी सतर्क हो गई। कांग्रेस के लाहौर-अधिवेशन का वास्तविक महत्त्व वह पहले ही जान चुकी थी। लार्ड इर्विन के जीवनी-लेखक एलन कैंपबेल जान्सन का कहना है कि वाइसराय तो इस अधिवेशन पर पाबंदी लगाने की बात भी सोच रहे थे। जनवरी के आरंभ में पंजाब सरकार ने भारत सरकार से यह सिफारिश की कि उसके कानूनी सलाहकार की राय में अध्यक्ष डॉ. सैफुद्दीन किचलू को उनके भाषणों के लिए गिरफ्तार कर लेना चाहिए। भारत सरकार ने पंजाब सरकार के इस सुझाव को मानने से इनकार कर दिया, क्योंकि घटनाएं एक के बाद एक बहुत तेज़ी से घट रही थीं।

लाहौर-अधिवेशन के बाद कांग्रेस की स्थिति और शक्ति के बारे में वाइसराय ने लंदन के उपनिवेश-मंत्री को लिखा था—"उसने देश की राजनैतिक स्थिति पर बहुत गहरा प्रभाव डाला है" उन्होंने यह भी लिखा कि यहाँ नए और पुराने नेतृत्व में झगड़ा होने की उम्मीद थी, लेकिन गांधीजी और मोतीलाल नेहरू ने क्रांतिकारी वामपक्ष के आगे हथियार डाल दिए इसलिए कांग्रेस में फूट नहीं पड़ी। अब कांग्रेस का नेतृत्व पूरी तरह लड़ाकू और उग्र क्रांतिकारियों के हाथ में आ गया; कौंसिलों के बहिष्कार के प्रश्न पर शायद अब भी फूट पड़ जाए, लेकिन सब मिलाकर कांग्रेस "गैर-कानूनी और अवैधानिक उपायों से अवैध लक्ष्य" को प्राप्त करनेवाली आपत्तिजनक संस्था बन गई थी।

यह तो मानी हुई बात थी कि लाहौर-अधिवेशन के निर्णयों को गांधीजी के ही नेतृत्व में कार्यान्वित किया जाता। इस समय के उनके भाषणों और लेखों में उतनी ही स्पष्टता और सच्चाई

थी जितनी दस वर्ष पहले असहयोग-आंदोलन के समय भी। उन्होंने साफ शब्दों में लिखा था कि अन्यायी सरकार को बदलने या मिटाने का जनता को अधिकार है। अगर वातावरण अहिंसात्मक रहा तो सविनय अवज्ञा आंदोलन को शुरू करने की अपनी रज़ामंदी भी उन्होंने ज़ाहिर की। जन-आंदोलन के खतरों से वह परिचित थे। लेकिन चौरी-चौरा का सबक भी कांग्रेस-जन भूले नहीं थे। इस बार तो गांधीजी ने यह भी साफ कह दिया था कि एक बार आंदोलन शुरू करने के बाद उसे वापस लेना आसान नहीं होगा; आंदोलन को हिंसात्मक रूप धारण करने से बचाने की पूरी कोशिश की जाएगी, फिर भी, “जबतक एक भी सत्याग्रही जिन्दा या जेल से बाहर रहेगा” आंदोलन बंद न होगा, चलता रहेगा। 1920-22 में गांधीजी ने बड़ी तैयारियाँ की थीं, सारे आंदोलन को कई खंडों में विभाजित किया था और सविनय अवज्ञा शुरू करने के लिए एकदम तैयार नहीं हुए थे। इस बार उन्होंने एकदम बिगुल बजा दिया। पिछले दस वर्षों से वह जन-जागरण की दिशा में जो परिश्रम करते रहे थे वह अब काम आया। 1922 में उन्होंने आंदोलन को जहाँ और जिस स्थिति में छोड़ा था, इस बार वहीं से तुरंत शुरू कर दिया। स्वयं उन्हीं के शब्दों में, “1920 का संघर्ष देश की तैयारियों के लिए था, 1930 का संघर्ष अंतिम मुठभेड़ के लिए ।

सरकार और कांग्रेस के बीच संघर्ष अनिवार्य हो गया था। जनवरी 1930 में गांधीजी ने. कवीन्द्र रवीन्द्र को लिखा था कि “मैं रात-दिन आंदोलन के ही विषय में सोचता रहता हूँ।” 26 जनवरी को देशव्यापी पैमाने पर 'स्वाधीनता दिवस' मनाने का आदेश देकर उन्होंने आंदोलन की दिशा में पहला कदम उठाया। उस दिन देश के नगर-नगर और गाँव-गाँव में लाखों लोगों ने झंडा फहराया और स्वाधीनता की प्रतिज्ञा ली कि “ब्रिटिश शासन में रहना मनुष्य और भगवान् दोनों के प्रति अपराध है” और कांग्रेस द्वारा शुरू किए जानेवाले सविनय अवज्ञा और करबंदी आंदोलनों में सम्मिलित होने के प्रण किए। स्वाधीनता-दिवस के समारोहों में जनता का जोश और उत्साह उभरकर ऊपर आ गया। गांधीजी को विश्वास हो गया कि देश जन-आंदोलन के लिए तैयार है। गांधीजी नमक-कानून[1] तोड़कर (नमक-सत्याग्रह के द्वारा) सविनय अवज्ञा शुरू करना चाहते थे। नमक-कर वैसे अधिक तो नहीं था, परंतु उसका सारा बोझ देश के गरीबों पर ही पड़ता था। लेकिन नमक राष्ट्र-व्यापी संघर्ष का रूप ले सकेगा या नहीं, इसमें गांधीजी के निकटतम साथियों

को भी गहरा संदेह था। उन्हें नमक-सत्याग्रह का भविष्य बहुत उज्ज्वल नहीं दिखाई देता था, क्योंकि एक तो समुद्री किनारों पर बनाए और खानों से निकाले जाने के कारण इसके उत्पादन का क्षेत्र सीमित था और दूसरे नमक बनानेवाले मज़दूर इतने थोड़े और राजनैतिक दृष्टि से इतने पिछड़े हुए थे कि उनकी हड़ताल देशव्यापी आंदोलन का रूप नहीं धारण कर सकती थी।[2]

गांधीजी ने घोषणा की कि अपने नेतृत्व में सत्याग्रहियों का एक जत्था समुद्र-तट पर ले जाकर और नमक-कानून तोड़कर सबसे पहले वह स्वयं सविनय अवज्ञा करेंगे। उन्होंने वाइसराय को एक पत्र लिखकर अपनी पूरी योजना उन्हें बता दी। पत्र क्या, ब्रिटिश राज्य पर आरोपों का कच्चा चिट्ठा ही था और उसमें भारत को उसका हक देने का अनुरोध भी वाइसराय से किया गया था। गांधीजी ने लिखा था :

“प्रिय मित्र, सविनय अवज्ञा शुरू करने से और जिस जोखिम को उठाने के लिए मैं इतने सालों से सदा हिचकिचाता रहा हूँ उसे उठाने से पहले मुझे आपतक पहुँचकर कोई रास्ता निकालने की कोशिश करने में प्रसन्नता है। अहिंसा पर मेरा व्यक्तिगत विश्वास एकदम स्पष्ट है । जान-बूझकर मैं किसी प्राणी को दुःख नहीं पहुँचा सकता, मनुष्यों को तो दुःख पहुँचाने की बात ही नहीं—भले ही वह मेरा और मेरे स्वजनों का कितना ही अहित कर दें। इसलिए जहाँ मैं ब्रिटिश राज्य को अभिशाप समझता हूँ, वहाँ एक भी अंग्रेज़ या भारत में उसके किसी भी उचित हित को हानि नहीं पहुँचाना चाहता।

“लेकिन मेरी बात का अर्थ गलत न समझा जाए । मैं ब्रिटिश शासन को भारत के लिए अभिशाप ज़रूर समझता हूँ, लेकिन केवल इसी कारण अंग्रेज़ मात्र को संसार की अन्य जाति से बुरा भी नहीं मानता। सौभाग्य से बहुत-से अंग्रेज़ मेरे घनिष्ठ मित्र हैं। असल बात तो यह है कि अंग्रेज़ी राज्य की ज्यादातर बुराइयों की जानकारी मुझे स्पष्टवादी और साहसी अंग्रेज़ों की कलम से ही हुई है, जिन्होंने सच्चाई को उसके वास्तविक रूप में निडरतापूर्वक प्रकट किया है।

“अपने अनेक देशबंधुओं की तरह मुझे भी यह आशा थी कि प्रस्तावित गोलमेज परिषद् शायद समस्या को हल कर सके...लेकिन जब अपने स्पष्ट कह दिया कि आप या ब्रिटिश मंत्रीमंडल

पूर्ण औपनिवेशिक स्वराज्य की योजना का समर्थन करने का आश्वासन नहीं दे सकते तो गोलमेज परिषद् वह चीज़ नहीं दे सकती, जिसके लिए शिक्षित भारतवासी सचेतन रूप से और आम जनता अचेतन भाव से छटपटा रही है।

"...यदि भारतीय राष्ट्र को जीवित रहना है और यदि भारतवासियों को भूख से तड़प-तड़पकर शनै:-शनैः मिट नहीं जाना है तो कष्ट मिटाने का कोई-न-कोई उपाय तुरंत ढूँढ़ना होगा। प्रस्तावित परिषद् इस संबंध में कुछ कर सकेगी, यह तो किसी तर्क से माना नहीं जा सकता। तर्क-वर्क से नहीं, बराबर की ताकत खड़ी करने से ही मामला हल हो सकेगा। ब्रिटेन अपनी पूरी ताकत लगाकर अपने व्यापार एवं हितों की रक्षा करेगा। इसलिए भारत को अगर मौत के चंगुल से छूटना है तो उतनी ही ताकत हासिल कर लेनी होगी।

"मैं जानता हूँ कि अहिंसात्मक आंदोलन शुरू करने में जोखिम है। इसे ठीक ही पागलपन कहा जाएगा। लेकिन सत्य की विजय बहुधा बड़ी-से-बड़ी जोखिमों को उठाए बिना नहीं हुई है। जिस राष्ट्र ने जान या अनजान में अपने से अधिक जनसंख्यावाले, अधिक प्राचीन और अपने समान सभ्य दूसरे राष्ट्र को शिकार बनाया है, उसको रास्ते पर लाने के लिए कोई भी जोखिम बड़ी नहीं।

"मैंने रास्ते पर लाने' के शब्दों का जान-बूझकर प्रयोग किया है। मेरी यह महत्त्वाकांक्षा है कि मैं अहिंसा के द्वारा ब्रिटिश जाति का हृदय पलट दूँ और उसे भारत के प्रति किए गए अन्याय का अनुभव करा दूँ। मैं अंग्रेज़ जाति को हानि नहीं पहुँचाना चाहता। मैं उनकी वैसी ही सेवा करना चाहता हूँ जैसी अपने देशवासियों की। मेरा विश्वास है कि मैंने सदैव ऐसी सेवा की है। 1919 तक मैं आँखें बंद करके उनकी सेवा करता रहा। अब मेरी आँखें खुलीं और मैंने असहयोग की आवाज़ बुलंद की। तब भी मेरा उद्देश्य उनकी सेवा ही था। जिस हथियार का उपयोग मैंने अपने प्रिय-से-प्रिय रिश्तेदार पर सफलता से किया वही मैंने सरकार के खिलाफ भी उठाया है। अगर यह सच है कि मैं भारतवासियों के ही समान अंग्रेज़ों को भी चाहता हूँ तो वह बात ज्यादा देर तक छिपी नहीं रहेगी। बरसों तक मेरी परीक्षा लेने के बाद जिस तरह परिवारवालों ने मेरे प्रेम के दावे को स्वीकार कर लिया, उसी तरह अंग्रेज़-जाति भी उसे किसी दिन स्वीकार करेगी। मेरी आशाओं के अनुकूल

अगर जनता ने मेरा साथ दिया तो या तो ब्रिटिश जाति पहले ही अपना कदम पीछे हटा लेगी, या जनता ऐसे-ऐसे कष्ट सहन करेगी, जिन्हें देखकर पत्थर का दिल भी पिघल जाएगा।"[3]

वाइसराय ने इस पत्र का संक्षिप्त-सा उत्तर दिया। उन्होंने इस बात पर खेद प्रकट किया कि "मि. गांधी जो कदम उठाने जा रहे हैं, उससे निश्चित रूप से कानून और सार्वजनिक शांति भंग होगी।"

गांधीजी अपने नेतृत्व में सत्याग्रहियों के एक जत्थे को अहमदाबाद से दांडी ले गए, जो पश्चिमी समुद्र-तट पर है। सत्याग्रहियों का चुनाव साबरमती के आश्रमवासियों में से किया गया था। इन सत्याग्रहियों का "उत्साह और मनोबल चरम सीमा पर था।"[4] साबरमती का अब वही दर्जा था, जो दक्षिण अफ्रीका में फिनिक्स-बस्ती और टाल्स्टाय-फार्म का रह चुका था। यह आश्रम स्वाधीनता संग्राम के सैनिकों के प्रशिक्षण और राजनैतिक हलचलों का केन्द्र बन गया था। यहाँ राजनीति और आंदोलन-संबंधी कोई बात गुप्त नहीं रखी जाती थी। रिचार्ड ग्रेग ने अंग्रेज़ों की मालिकी के एक अखबार के संवाददाता का किस्सा बयान किया है, जिसे 'दुश्मन की छावनी' के अंदर की कार्रवाइयों के समाचार लाने के लिए अहमदाबाद भेजा था। गांधीजी ने उसे निकाल बाहर नहीं किया, आश्रम में अतिथि की तरह रखा और वहाँ का राई-रत्ती हाल जानने की अनुमति दे दी।

11 मार्च की शाम को जो प्रार्थना-सभा हुई, उसमें लोगों की भीड़ उमड़ पड़ी थी। गांधीजी ने उसमें कहा था, "हमारे उद्देश्य में न्याय का बल है, हमारे साधन पवित्र हैं और भगवान् हमारे साथ हैं। सत्य पर अटल रहे तो सत्याग्रहियों की कभी हार नहीं हो सकती। कल जो संग्राम शुरू हो रहा है, मैं उसके लिए प्रार्थना करता हूँ।" उस रात आश्रम में अकेले गांधीजी को छोड़ और कोई नहीं सोया । सब जोश-खरोश से तैयारियों में लगे रहे।

दूसरे दिन सबेरे साढ़े छः बजे 241 मील लंबा दांडी-कूच शुरू हुआ। 79 सत्याग्रहियों में विद्वान और पंडित, संपादक और लेखक, जुलाहे और अछूत सभी तरह के लोग थे। जत्थे के सबसे वयस्क सदस्य, उसके नेता गांधीजी, इकसठ वर्ष के थे और सबसे अल्पवयस्क सोलह बरस

का एक लड़का था। इस अवसर पर अहमदाबाद में जितना बड़ा जलूस निकला, उतना पहले कभी नहीं निकला था। सारा शहर सड़कों पर उमड़ आया था और हर रास्ता तोरण और वंदनवारों से सज़ाया गया था। इकसठ वर्ष के बूढ़े नेता जत्थे के आगे-आगे हाथ में लंबी लकड़ी लिए जवानों से भी तेज चाल से चल रहे थे। इतना चलने के बाद भी थकावट का कोई चिह्न नहीं था। हमेशा की तरह रोज चार बजे उठते, सवेरे की प्रार्थना करते, रास्ते के गाँवों में भाषण देते, चरखा चलाते, अपने अखबारों के लिए लेख लिखते और विश्वव्यापी पत्र-व्यवहार के क्रम को भी उसी तरह बनाए हुए थे। प्रस्थान के समय गांधीजी ने यह ऐतिहासिक घोषणा की थी—"यदि स्वराज्य न मिला तो या तो रास्ते में मर जाऊँगा, या आश्रम के बाहर रहूँगा। नमक-कर न उठा सका तो आश्रम लौटने का भी इरादा नहीं है।"

अपना भारतीय साम्राज्य छोड़ने को अंग्रेज़ ज़रा भी तैयार न थे। भारत उपमंत्री अर्ल रसल ने कांग्रेस की पूर्ण स्वाधीनता की माँग पर यह टिप्पणी की थी—"भारतीय खुद भी इस बात को बहुत अच्छी तरह जानते हैं कि पूर्ण स्वाधीनता की माँग कितनी मूर्खतापूर्ण है। अभी तो औपनिवेशिक स्वराज्य ही संभव नहीं है और काफी समय तक संभव न होगा ।"

कांग्रेस के बुद्धिजीवी वर्ग की भांति सरकार ने भी शुरू में तो इस 'बचकाना राजनैतिक क्रांति' की खिल्ली ही उड़ाई—कड़ाही में समुद्र के पानी को उबालकर ये बादशाह सलामत से मुल्क और हुकूमत छीन लेंगे ! भारत-सरकार के अर्थ-विशेषज्ञों ने भी नमक-कानून के भंग को कोई खास आर्थिक महत्त्व नहीं दिया। केन्द्रीय रेवेन्यू बोर्ड के सदस्य टाटेनहेम ने (नमक-कर की वसूली का काम माल-विभाग के ही जिम्मे था) नमक-सत्याग्रह को "मि. गांधी का शेखचिल्लीपन" बताया था। दो उच्च अधिकारियों की एक समिति ने फरवरी की शुरू तारीखों में यह प्रतिवेदन किया कि नमक-करबंदी आंदोलन के लिए कोई बहुत उपयुक्त विषय नहीं है। ज्यादा-से-ज्यादा यही हो सकता है कि बहुत-सी जगह घटिया किस्म का नमक बनाया जाए और स्थानीय लोग उसका इस्तेमाल करें। इस तरह नमक बनाने में नमक-कर से तिगुना खर्च बैठ जाएगा। मतलब यह कि इस आंदोलन से न तो सरकार की आय पर और न नमक के मूल्य पर ही कोई प्रभाव पड़ेगा।

मार्च के अंतिम सप्ताह में केन्द्रीय सरकार ने “पिछले अनुभवों के आधार पर“ इस आंदोलन का मुकाबला करने के आदेश प्रांतीय सरकारों को दिए और यह सलाह खासतौर पर दी कि सामूहिक गिरफ्तारियाँ की जाएं, सत्याग्रहियों के साथ ज़ोर आजमाई न हो, केवल नेताओं को गिरफ्तार किया जाए, जिससे आंदोलन विश्रृंखलित हो सके। अगर एक साथ बहुत-से सत्याग्रहियों को गिरफ्तार करना ज़रूरी ही हो जाए तो कम-से-कम बल-प्रयोग करना उचित होगा, क्योंकि शांत और अहिंसात्मक रहनेवालों पर बल-प्रयोग से सरकार जनता का सहयोग और सहानुभूति खो देगी। प्रांतीय सरकारों को यह हिदायत भी दी गई थी कि जेलों में भीड़-भाड़ न होने दें और बच्चों एवं महिलाओं का विशेष खयाल रखें। सरकार की हिदायतें तो बहुत अच्छी थीं, लेकिन इनपर अमल नहीं हुआ। आंदोलन की तेज़ी के साथ-साथ सरकार का दमन भी तीव्र होता गया। वल्लभभाई पटेल को स्थानीय अधिकारियों ने, प्रांतीय सरकार से सलाह-मशविरा किए बिना ही, 7 अप्रैल को गिरफ्तार कर लिया था। अप्रैल का महीना शुरू होते ही पं. जवाहरलाल नेहरू इलाहाबाद में गिरफ्तार हो गए। गांधीजी ने दांडी पहुँचकर और नमक-कानून तोड़कर राष्ट्र को जो संदेश दिया, उसमें उन्होंने कहा था, “इस समय राष्ट्र की भारी प्रतिष्ठा सत्याग्रही के हाथ के मुट्ठी-भर नमक में आ सिमटी है। मुट्ठी भले ही टूट जाए, पर नमक को बचाना होगा—वह सरकार के हाथ में न पड़ने प्राए।" कोई साठ हज़ार सत्याग्रही पकड़कर जेलों में बंद कर दिए गए। नमक-कानून का भंग करने के अपराध में जिनको सज़ाएं दी गईं, उनमें राजाजी, पं. मदनमोहन मालवीय, जे. एम. सेन गुप्त, बी. जी. खेर, के. एम. मुनशी, देवदास गांधी, महादेव देसाई और विट्ठलभाई पटेल आदि प्रमुख नेता भी थे। संपन्न और मध्यम-वर्ग की महिलाएं शराब की दुकानों और विदेशी कपड़ों की दुकानों पर धरना दे रही थीं।

कुछ हिंसात्मक कार्रवाइयाँ भी हुईं। उदाहरण के लिए चटगाँव के शस्त्रागार पर आतंकवादियों ने हमला कर दिया। लेकिन कुल मिलाकर आंदोलन का स्वरूप अहिंसात्मक ही रहा। नमक और स्वराज्य के पारस्परिक संबंधों को ठीक से न समझ पाने के कारण जिन लोगों ने नमक-सत्याग्रह का उपहास किया था, उन्हें असल में जनता के सुसंगठित और व्यवस्थित आंदोलन को चलाने की गांधीजी की सामर्थ्य का सही ज्ञान नहीं था। अंत में सरकार ने वही किया

जिसे वह करना चाहती थी, परंतु करते हुए डरती थी। उसने गांधीजी को गिरफ्तार करने का फैसला कर ही लिया।

1827 का पुराना-धुराना बंबई रेगूलेशन रद्दी की टोकरी में से खोज निकाला गया और उसके अंतर्गत 5 मई, 1930 को, दांडी के पास के एक गाँव कराडी में, गांधीजी को गिरफ्तार कर बिना मुकदमा चलाए जेल में बंद कर दिया गया। दांडी के बाद 'अहिंसात्मक क्रांति' का उनका दूसरा और पहले से कुछ अधिक उग्र मोर्चा धारासना के सरकारी नमक-डिपो पर कब्ज़ा करने का था। लेकिन उसपर 'हमला' करने से पहले ही वह गिरफ्तार कर लिए गए। तब 21 मई को साबरमती-आश्रम के वयोवृद्ध इमाम साहब के नेतृत्व में धारासना पर सत्याग्रह हुआ। नेता गिरफ्तार कर लिए गए और स्वयंसेवकों पर लाठी चार्ज किया गया। अमरीकी संवाददाता वेब मिलर ने 'न्यू फ्रीमैन' पत्र में उस नृशंस लाठी-चार्ज का आँखों देखा वर्णन इस तरह किया है— "अठारह वर्षों से मैं दुनिया के बाईस देशों में संवाददाता का कार्य कर रहा हूँ, लेकिन जैसा दहलानेवाला दृश्य मैंने धारासना में देखा वैसा और कहीं देखने को नहीं मिला। कुछ दृश्य तो इतने लोमहर्षक और दर्दनाक थे कि मुझसे देखे तक न गए। स्वयंसेवकों का अनुशासन कमाल का था। गांधीजी की अहिंसा को उन्होंने अपने रोम-रोम में बसा लिया था।"

इस बीच कांग्रेस की महासमिति ने सविनय अवज्ञा के क्षेत्र को थोड़ा और विस्तारित कर दिया। नमक-सत्याग्रह के साथ-साथ उसमें जंगल सत्याग्रह, रैयतबाड़ी इलाकों में लगानबंदी एवं विदेशी कपड़ों, बैंकों, जहाजी और बीमा कंपनियों के बहिष्कार को भी समाविष्ट कर लिया गया। वाइसराय ने कई 'आर्डिनेन्स' निकालकर अधिकारियों को दमन का खुला परवाना दे दिया, जिसका एकमात्र उद्देश्य कांग्रेस को कुचलना या सरकारी भाषा में कहें तो 'आपत्कालीन स्थिति का सामना' करना था।

गांधीजी की गिरफ्तारी से आंदोलन धीमा नहीं पड़ा, उल्टे उसमें और तेज़ी आ गई। सरकारी प्रचार में ज़रूर झुठलाया जाता रहा, लेकिन कांग्रेस का जनता पर जो प्रभाव था, उससे भारत सरकार इनकार न कर सकी। ब्रेल्सफोर्ड ने अपनी पुस्तक 'रिबेल इंडिया' (विद्रोही भारत) में, देश के विभिन्न भागों की ओर विशेषकर बंबई की जनता पर कांग्रेस का जो असर था उसके

कई प्रमाण दिए हैं। सरकारी दस्तावेजों में भी इसके कई प्रमाण मिलते हैं। गुप्तचर विभाग के निदेशक ने अगस्त 1930 में अपनी बंबई-यात्रा के संबंध में तत्कालीन गृह सदस्य (होम मेंबर) को लिखा कि “कांग्रेस को नगर का पूरा समर्थन प्राप्त है। इसके स्वयंसेवकों और धरना देनेवालों को नगर की जनता मुफ्त खाना खिलाती है। सारे व्यवसाय और व्यापारी इसके 'शिकंजे' में हैं। अपनी तबाही की परवा किए बिना बहुत-से व्यापारी आंदोलन के साथ हैं और बराबर साथ देते रहेंगे। संक्षेप में यह कि नगर पूरी तरह कांग्रेस के कब्ज़े में है और वह जो चाहे कर सकती है।”

---

1. 1836 में भारत सरकार ने एक नमक कमीशन बैठाकर भारत में अंग्रेज़ी नमक की बिक्री के खातिर भारतीय नमक पर कर लगाने का सुझाव दिया था। तभी से भारत में नमक-कर लगा और वसूल किया जाता रहा। अंग्रेज़ी नमक इंग्लैंड के चेशायर नामक स्थान से आता था।—अनुवादक
2. कुछ इसीसे मिलते-जुलते संदेह सरकारी कर्मचारियों के मन में भी थे, परंतु कोई इस बात को न समझ सका कि गांधीजी का नमक-आंदोलन भौतिक नहीं, नैतिक था।—अनुवादक
3. अंग्रेज़ी जाति के प्रति अपने प्रेम और विश्वास को प्रकट करने के लिए गांधीजी ने यह पत्र रेजिनाल्ड रेनाल्ड नामक ने एक अंग्रेज़ युवक के द्वारा वाइसराय को भेजा था ।—अनुवादक
4. मीराबहन : 'बापू के पत्र मीराबहन के नाम' (अंग्रेज़ी), पृष्ठ 101।

२८. समझौता

पूना की यरवदा-जेल में, जिसे वह यरवदा-मंदिर कहते थे, गांधीजी एक तरह से आराम ही करते रहे। आश्रम के अपने भजन-प्रार्थना, चरखा और स्वाध्याय के कार्यक्रम का वह यहाँ भी उसी तत्परता से पालन करते थे। देश की राजनैतिक स्थिति और अपने शुरू किए हुए सविनय अवज्ञा आंदोलन की चिन्ता उन्होंने जेल में आते ही छोड़ दी थी। उन्होंने अपने जिम्मे का काम कर दिया था, अब जनता को अपनी ज़िम्मेदारी निभानी थी।

गांधीजी की गिरफ्तारी के एक सप्ताह बाद लार्ड इर्विन ने अपने और ब्रिटेन के प्रधानमंत्री के बीच हुए पत्र-व्यवहार को प्रकाशित कर दिया। उस पत्र-व्यवहार का आशय यह था कि सविनय अवज्ञा के बावजूद बादशाह सलामत की सरकार संवैधानिक सुधारों की अपनी नीति पर और लंदन में गोलमेज परिषद् का अधिवेशन करने के अपने निर्णय पर दृढ़ है। वाइसराय ने आंदोलन को सख्ती से दबाने के आदेश दे दिए थे और जितनी सख्ती इस बार की जा रही थी उसने दमन के सारे पुराने रेकार्डों को तोड़ दिया था। लेकिन वास्तव में तो वाइसराय को इतनी सख्ती पसंद नहीं थी। उन्होंने विट्ठलभाई पटेल को एक पत्र में लिखा था—"आप तो मेरी इस उत्कट अभिलाषा से परिचित ही हैं कि भारत में फिर से शांति और सद्भावना का वातावरण पैदा हो सके।" इसलिए जब 'डेली हेराल्ड' के संवाददाता जार्ज स्लोकोंब और दोनों माडरेट नेता सप्रू और जयकर ने समझौते के प्रयत्न शुरू किए तो वाइसराय ने उन्हें बढ़ावा ही दिया।

सरकारी दमन के कारण उस समय भारत की जो स्थिति थी उसने जार्ज स्लोकोंब को इतनी पीड़ा पहुँचाई कि वह समझौते के प्रयत्नों में लग गए। सबसे पहले उन्होंने पं. मोतीलाल नेहरू से भेंट की तो उनकी बातचीत से ऐसा आभास मिला कि कुछ शर्तों पर कांग्रेस सविनय अवज्ञा को वापस लेने पर राज़ी हो सकती है। लेकिन मोतीलालजी शीघ्र ही गिरफ्तार[1] कर लिए गए और उन्हें नैनी-जेल में पं. जवाहरलाल नेहरू के पास भेज दिया गया, तब सप्रू और जयकर ने जेल में नेहरू पिता-पुत्र से समझौते की संभावना पर चर्चा करने के लिए भेंट की। गांधीजी से सलाह किए बिना पिता-पुत्र दोनों ने अपनी ओर से कुछ कहने में असमर्थता प्रकट कर दी तो उन्हें

एक स्पैशल ट्रेन के द्वारा पूना ले जाया गया। वहाँ चर्चा के बाद यह नतीजा निकला कि कांग्रेस और सरकार के बीच समझौते का कोई समान आधार है ही नहीं।

समझौते के प्रयत्नों पर कांग्रेस की जो प्रतिक्रिया हुई, उससे यह बात सामने आ गई कि कांग्रेस और ब्रिटिश सरकार के बीच की खाई कितनी चौड़ी हो गई थी। इंग्लैंड में विंस्टन चर्चिल ने भारत को "वकीलों, राजनीतिज्ञों, हठधर्मियों और लोभी व्यापारियों के अल्पतंत्र" के हवाले किए जाने के खिलाफ एक जिहाद ही शुरू कर दिया था। उनका कहना था कि "हमारा इरादा काफी लंबे और अनिश्चित काल तक भारत पर हुकूमत करने का है और वहाँ के लोगों को यह बात साफ तौर पर मालूम हो जानी चाहिए कि हम राजभक्तों के सहयोग का स्वागत करते हैं, परंतु अराजकता और राजद्रोह को कतई बर्दाश्त नहीं किया जाएगा ।" रैम्ज़े मैक्डोनल्ड की मज़दूर सरकार लिबरलों के समर्थन पर ही टिकी हुई थी। अगर वह तैयार भी हो जाती तो लिबरलों के बहुमत के कारण भारत के बारे में कोई क्रांतिकारी कदम नहीं उठा सकती थी। भारत में लार्ड इर्विन के सलाहकारी मंडल को पूरा विश्वास था कि गांधी के विद्रोह को कुचल दिया जाएगा और माडरेटों एवं मुस्लिमों की सहायता से शासन बदस्तूर चलता रहेगा। वाइसराय की कार्यकारिणी कौंसिल के अधिकांश सदस्य और सरकारी अमले के सभी उच्च अधिकारी दमन-चक्र को और भी तेज करने के पक्ष में थे।

साथ ही संवैधानिक सुधारों का कारवाँ भी चलता रहा। गर्मियों में साइमन कमीशन की रिपोर्ट प्रकाशित हुई। बहुत विस्तार से उसमें भारत की वैधानिक समस्या का सर्वेक्षण किया गया था और एक-एक करके छोटी-बड़ी उन सारी कठिनाइयों को गिना दिया गया, जो कमीशन की राय में संवैधानिक सुधारों के मार्ग की बाधाएं थीं। यह रिपोर्ट इतनी निराशाजनक थी कि सामान्यतः सरकार के समर्थक और उत्साही नरमदली नेता भी इसका स्वागत न कर सके। जले पर नमक छिड़कने के लिए 1930 (11 नवंबर) में लंदन में पहली गोलमेज परिषद्[2] शुरू हुई। इसमें कांग्रेस का एक भी प्रतिनिधि नहीं था। कुछ भारतीय प्रतिनिधियों ने कांग्रेस के प्रति समझौते का रुख अपनाने का अनुरोध किया। वे देश को बवंडर की हालत में छोड़कर गए थे और परिषद् से कुछ व्यवहार्य परिणामों को लेकर लौटना चाहते थे। रेम्ज़े मैक्डोनल्ड ने 19 जनवरी, 1931

को अपने विदाई-भाषण में यह आशा प्रकट की कि कांग्रेस दूसरी गोलमेज परिषद् में तो अवश्य भाग लेगी। इसके कुछ ही दिन पहले लार्ड इर्विन ने केन्द्रीय विधि-परिषद् में भाषण करते हुए कहा था कि “अध्यात्म के पुजारी गांधीजी को अपने प्रिय भारत के लिए किसी भी बलिदान को बड़ा नहीं समझना चाहिए।” लार्ड इर्विन ने इलाहाबाद में कांग्रेसी नेताओं की जो बैठक हो रही थी उसे रोकने की कोशिश नहीं की। उन्होंने गांधीजी और कांग्रेस की कार्यसमिति के सदस्यों को स्वाधीनता-दिवस के ठीक एक दिन पहले 25 जनवरी, 1931 को रिहा कर दिया। नेताओं को रिहा करते समय उन्होंने जो वक्तव्य दिया, उससे भी समझौते का संकेत मिलता था।

लेकिन कार्यसमिति के सदस्यों की बिना शर्त रिहाई से ही सरकार और कांग्रेस के बीच की खाई पट नहीं गई। कार्यसमिति के सदस्यों कौ बैठक, रिहाई के बाद, इलाहाबाद में हुई, जहाँ पं. मोतीलाल नेहरू मृत्यु-शैय्या पर पड़े थे। कांग्रेस अब भी सविनय अवज्ञा को बंद करने के पक्ष में नहीं थी; लेकिन सप्रू और जयकर से, जो पहली गोलमेज परिषद् में भाग लेकर देश लौट रहे थे और कांग्रेसी नेताओं को परिषद् की कार्रवाई से अवगत कराना चाहते थे, एक तार पाकर कार्यसमिति ने अपने इस निर्णय की सार्वजनिक घोषणा नहीं की। परिषद् के निर्णयों से गांधीजी को ज़रा भी संतोष नहीं हुआ और न उन्हें सरकार से समझौते की कोई संभावना ही दिखाई दी। लेकिन फिर भी उन्होंने लार्ड इर्विन को पत्र लिखकर मुलाकात का समय माँगा। गांधीजी का कहना था कि वाइसराय ने कार्यसमिति के सदस्यों को छोड़कर सद्भावना का परिचय दिया है तो एक सत्याग्रही के नाते जाकर उन्हें धन्यवाद देना उनका भी कर्तव्य हो जाता है।

17 फरवरी, 1931 को तीसरे पहर से गांधी-इर्विन वार्ता शुरू हुई। कुल आठ बैठकें हुईं, जिनमें चौबीस घंटे का समय लगा। इस बीच समझौते का पलड़ा आशा और निराशा के बीच झूलता रहा। अंत में 4 मार्च को समझौता हो ही गया। दिल्ली का वह समझौता इतिहास में गांधी-इर्विन-समझौते (पैक्ट) के नाम से प्रसिद्ध है। समझौते का मुख्य आधार यह था कि कांग्रेस सविनय अवज्ञा बंद कर देगी और सरकार तमाम दमनकारी आर्डिनेंसों को वापस लेकर सभी सत्याग्रही बंदियों को रिहा कर देगी। इस समझौते में आतंकवादी और हिंसात्मक कार्रवाइयों के लिए नज़रबंद या सज़ा भुगत रहे बंदियों की रिहाई का कोई उल्लेख नहीं था और न गढ़वाली

सैनिकों की रिहाई का ही, जिन्होंने पेशावर में निहत्थे सत्याग्रहियों पर गोली चलाने से इनकार कर दिया था। आंदोलन के सिलसिले में नीलाम की गई ज़मीनों को उनके वास्तविक स्वामियों को लौटाने और नौकरी से बर्खास्त किए गए कर्मचारियों को पुनः नौकरी पर बहाल करने की बात भी इस समझौते में नहीं थी। समुद्र-तट पर रहनेवाले गरीब लोगों को नमक बनाने की रियायत अवश्य दी गई थी और विदेशी कपड़ों पर धरना देने के अधिकार को भी मान लिया गया था। पुलिस ज्यादतियों की जाँच के लिए सरकार किसी भी तरह राज़ी न हुई, दोनों पक्ष इस मुद्दे पर अड़ गए थे और लगता था कि समझौता-वार्ता भंग ही हो जाएगी। लेकिन वाइसराय ने बड़ी चतुराई से काम लिया। उन्होंने गांधीजी से कहा कि जाँच की माँग करने का आपको पूरा अधिकार है, लेकिन अब गड़े मुर्दे उखाड़ने से क्या लाभ होगा ? केवल आपसी कटुता ही बढ़ेगी। तो फिर गांधीजी ने इस बात पर ज्यादा ज़ोर नहीं दिया।

विधान-संबंधी विषयों में “भारत के हित की दृष्टि से रक्षा (सेना), वैदेशिक मामले, अल्पसंख्यकों का प्रश्न और वित्त आदि मामलों में प्रतिबंध या संरक्षण" को स्वीकार कर लिया गया था। समझौते की इस धारा से पं. जवाहरलाल नेहरु को ‘भारी आघात’ पहुँचा था और यह धारा कांग्रेस की पूर्ण स्वाधीनता की घोषणा के प्रतिकूल भी थी। समझौते में औपनिवेशिक स्वराज्य का भी कोई आश्वासन नहीं था। 1930 के अगस्त महीने में सप्रू और जयकर के समझौता-प्रयत्नों के समय कांग्रेस ने जो शर्तें रखी थीं, गांधी-इर्विन समझौते में उनसे भी बहुत कम को स्वीकार किया गया था।

एलन कैंपबेल जान्सन ने ठीक ही लिखा है कि दिल्ली-समझौते ने सिर्फ गांधीजी के आँसू पोंछ दिए और इर्विन केवल इतना ही झुके कि समझौता-वरर्ता के लिए राज़ी हो गए। भारतीय नेताओं में लार्ड इर्विन का सम्मान घटता-बढ़ता रहा। गांधी-इर्विन-समझौते के समय उनका सम्मान बहुत बढ़ गया था; लेकिन एक ही साल बाद जब समझौता पूरी तरह भंग हो गया, कांग्रेस विरोध करने लगी और जब वह गैर-कानूनी कर दी गई तो उनका सम्मान भी बहुत घट गया। आम कांग्रेस-जनों की यह राय थी कि लार्ड इर्विन ने गांधीजी को वाइसराय-भवन की भूल-भुलैया में फँसा लिया और समझौते को उन्होंने वाइसराय की निरी कपट-चाल बताया। जुलाई, 1932 में

जब गांधीजी को जेल में एक सत्याग्रही बंदी ने लार्ड इर्विन के बारे में बी. जी हार्नीमेन की यह राय पढ़कर सुनाई कि वह “कथनी-करनी के अपने अंतर और दोरुखी नीति को सद्भावनाओं के पाखंड एवं ईमानदारी के आडंबर में लपेटे रहनेवाले चुस्त मौकापरस्त” थे तो गांधीजी ने कहा था कि इस वर्णन में वाइसराय के साथ न्याय नहीं किया गया। वह ब्रिटिश साम्राज्य के भक्त थे, परंतु भारत के शुभचिन्तक भी थे। लार्ड इर्विन की ईमानदारी में गांधीजी का यह विश्वास ही था, जिसके कारण समझौता-वार्ता में वह वाइसराय की बहुत-सी बातों को मानने के लिए राज़ी हो गए थे। वह लार्ड इर्विन को अपने ही जैसा धर्मात्मा समझते थे। जब समझौता-चर्चा चल रही थी तो श्रीमती सरोजिनी नायडू ने गांधीजी और वाइसराय के लिए मज़ाक में ‘दो महात्मा' शब्दों का प्रयोग किया था, जो एक तरह से ठीक ही था, क्योंकि दोनों ही धार्मिक प्रवृत्तियोंवाले व्यक्ति थे।

जहाँतक गांधीजी का प्रश्न है, वह तो इस समझौते को कांग्रेस और सरकार के पारस्परिक संबंधों में एक नए अध्याय का आरंभ ही मानते थे। इसी भावना से प्रेरित उन्होंने दिल्ली में 6 मार्च, 1931 को अपने मेज़बान डॉ. अंसारी के घर से वाइसराय के निज़ी सचिव को लिख था—“कार्यसमिति के द्वारा कांग्रेस के लिए निर्धारित शर्तों का शत-प्रतिशत पालन करके उसके लिए गौरव की बात होगी, इसलिए हमारी कोई भी अनियमितता आपके ध्यान में आए तो तार के द्वारा मेरा ध्यान आकर्षित कर समझौते का पालन करने में मेरी सहायता करें। मेरी तो परमेश्वर से यही प्रार्थना है कि समझौते के निमित्त आरंभ होनेवाली यह मैत्री चिरस्थाई हो।”

यह भी कुछ कम आश्चर्य की बात नहीं है कि सरकार के किसी निश्चित आश्वासन के बिना ही (जबकि दिसंबर 1929 में उन्होंने और पं. मोतीलाल नेहरू ने उसपर इतना अधिक ज़ोर दिया) गांधीजी ने जिन कारणों से दिल्ली-समझौते को स्वीकार किया था, उन्होंने समझौते की विभिन्न धाराओं में खोजना उचित न होगा। सत्याग्रह की नीति के प्रकाश में ही उन कारणों को ठीक से समझा जा सकता है। इस संबंध में गांधीजी की मन:स्थिति का परिचय कराची-कांग्रेस में दिए गए उनके भाषण से चलता है :

“मैं अकसर सोचा करता हूँ कि जब हमारी माँग और परिषद् में हमें जो-कछ दिया जा रहा है उसमें इतना अधिक अंतर है, तो हमारे गोलमेज परिषद् में जाने से क्या लाभ होगा। लेकिन

फिर भी एक सत्याग्रही के नाते मैंने उसमें जाने का फैसला किया। एक वक्त आता है जब सत्याग्रही अपने विरोधी से समझौते की चर्चा करने से इनकार नहीं कर सकता। उसका उद्देश्य तो अपने विरोधी को प्रेम से जीतना है। हमारे लिए ऐसा वक्त उस समय आ गया जब प्रधान मंत्री की घोषणा के बाद कांग्रेस की कार्यसमिति को रिहा कर दिया गया। वाइसराय ने भी हमसे अनुरोध किया कि हम लड़ाई का रास्ता छोड़कर उन्हें बताएं कि हम क्या चाहते हैं।"

इस सुझाव पर कि जब कांग्रेस अभी एक साल और सरकार से लड़ सकती है तो समझौते की क्या ज़रूरत है, गांधीजी ने जवाब दिया था "यों तो हममें बीस बरस तक लड़ने की ताकत हो सकती है और एक सच्चा सत्याग्रही तो, चाहे और सब हथियार डाल दें, अकेला ही अंत तक लड़ता रहता है; लेकिन हमने समझौता इसलिए नहीं किया कि हम कमज़ोर हो गए थे, बल्कि इसलिए किया कि वह ज़रूरी हो गया था। लड़ने की ताकत है, इसलिए लड़ते रहनेवाला सत्याग्रही नहीं, अहंकारी और भगवान् का गुनहगार होता है।"[3]

गांधीजी के कार्य और आचरण के ऐसे विरोधाभासों को सत्याग्रह की उनकी नीति के माध्यम से ही समझना होगा। सत्याग्रह-आंदोलन के लिए सामान्यत: 'संघर्ष', 'विद्रोह' और 'अहिंसात्मक युद्ध' आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है, लेकिन इन प्रचलित शब्दों की सहायता से उसकी सही व्याख्या नहीं हो पाती। ये शब्द उस आंदोलन के नकारात्मक पक्ष—विरोध और द्वंद्व के भाव को आवश्यकता से अधिक उभार देते हैं, जबकि सत्याग्रह का उद्देश्य विरोधी का नैतिक अथवा शारीरिक विनाश नहीं, उसके हाथों के कष्ट-सहन करके उन मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं का प्रवर्तन करना है, जो उभय पक्ष के मन-प्राणों का सम्मिलन संभव कर दें। इसलिए ऐसी लड़ाई में विरोधी से समझौता न तो अधर्म है और अपनों से विश्वासघात ही, उलटे वह एक स्वाभाविक और आवश्यक कदम है, जिसे उपयुक्त समय पर ही उठाना होता है और अगर बाद में यह पता चले कि समझौता उपयुक्त समय से पहले हुआ एवं विरोधी पक्ष को अपने कृत्य पर कोई पश्चात्ताप नहीं तो सत्याग्रही के सामने अहिंसात्मक संघर्ष पुनः प्रारंभ करने का मार्ग खुला ही हुआ है। यह सच है कि देश की राष्ट्रीय भावना को इच्छानुसार उभारा नहीं जा सकता, लेकिन गांधीजी स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिए देशव्यापी उत्साह की चलायमान लहर पर ज़रा भी निर्भर नहीं

करते थे। उनका दृढ़ विश्वास था कि जब देश स्वाधीनता के योग्य हो जाएगा तो कोई भी शक्ति उसे पराधीन नहीं रख सकेगी।

मार्च 1931 में कांग्रेस के कराची-अधिवेशन ने गांधी-इर्विन-समझौते पर अपनी स्वीकृति की मुहर लगाते हुए उसकी जो व्याख्या की वह समझौते की धाराओं की अपेक्षा कांग्रेस के उद्देश्यों के अधिक निकट और मेल खानेवाली थी।

अप्रैल में गांधीजी बंबई में ही थे और वहीं से उन्होंने लार्ड इर्विन को (19 अप्रैल को) विदाई दी। नए वाइसराय लार्ड विलिंगडन बंबई पहुँच चुके थे, लेकिन उन्होंने गांधीजी को मिलने के लिए नहीं बुलाया और प्रांतीय राजधानियाँ दिल्ली के घुटे हुए खुर्राट नौकरशाहों को इससे बड़ी खुशी हुई । गांधी-इर्विन-समझौते को उन्हें कड़वी घूँट की तरह निगलना पड़ा था। अब उनके मन का वाइसराय आया था। अभी समझौते की स्याही भी नहीं सूखने पाई थी कि रगड़-झगड़ शुरू भी हो गई। गांधीजी को 9 जुलाई, 1931 के 'यंग इंडिया' में 'चकनाचूर ?' शीर्षक से एक अग्रलेख लिखकर सरकार द्वारा समझौता-भंग की घटनाओं पर उदाहरणसहित प्रकाश डालने को बाध्य होना पड़ा। सरकार ने भी कांग्रेस पर समझौते की मंशा के प्रतिकूल आचरण करने का आरोप लगाया। इस तरह दोनों ही पक्ष एक-दूसरे पर समझौते को भंग करने का आरोप लगाते रहे।

फिर चर्चाओं का दौर शुरू हुआ और और काफी आरोप-प्रत्यारोपों के बाद किसी तरह समझौता हो सका। यह तय पाया गया कि कांग्रेस गोलमेज परिषद् में भाग लेगी और उसके एकमात्र प्रतिनिधि गांधीजी होंगे। गांधीजी एक स्पेशल ट्रेन द्वारा शिमला से कालका उस गाड़ी को पकड़ने के लिए आए, जो उन्हें 29 अगस्त को रवाना होनेवाले राजपूताना नामक जहाज पर सवार करा सके। उन्हें समय पर पहुँचाने के लिए रास्ते में और सब गाड़ियाँ रोक दी गई थीं ।[4]

---

1. पं. मोतीलाल नेहरू 30 जून, 1930 को गिरफ्तार किए गए। महासमिति उसके पहले गैर-कानूनी कर दी गई। दमन के ये हाल थे कि 1 अप्रैल से 31 मई, 1930 के बीच 18 शहरों में 21 बार गोलाबारी हुई, जिनमें 103 मारे गए, 420 घायल हुए और 10 घायल बाद में मर गए। लाठी-चार्ज, सभाओं पर हमले,

छापे, तलाशियाँ, अखबार, और प्रेसों पर ताले, गिरफ्तारियाँ आदि की तो कोई शुमार ही नहीं थी।—अनुवादक

2. 86 प्रतिनिधियों में 16 रियासतों से गए थे, 57 ब्रिटिश भारत और 13 इंग्लैंड के भिन्न-भिन्न दलों के मुखिया थे।—अनुवादक

3. तेंदुलकर 'महात्मा', जिल्द 3, पृष्ठ 109।

4. यह उल्लेखनीय है कि 5 मार्च, 1931 को गांधी-इर्विन-समझौते पर हस्ताक्षर हुए और 23 मार्च, 1931 को सायंकाल 7.30 बजे अमरशहीद भगतसिंह, सुखदेव और राजगुरू को जेल में फाँसी दे दी गई । उनके शवों को सरकार ने अंत्येष्टि के लिए भी नहीं दिया। गांधीजी ने उनकी फाँसी की सज़ा को आजीवन कारावास में बदलवाने का बहुत प्रयत्न किया, लेकिन लार्ड इर्विन टस-से-मस न हुए और लार्ड विलिंगडन तो मानने ही क्यों लगे थे ! इन फाँसियों की देश-भर में गहरी प्रतिक्रिया हुई। हड़तालों और नवयुवकों की बेचैनी को दबाने के लिए सरकार को कई शहरों में सेनाएं घुमानी पड़ीं। 24 मार्च को कानपुर की हड़ताल ने सांप्रदायिक रूप धारण कर लिया, जिसमें गणेशशंकर 'विद्यार्थी' कुर्बान हो गए। यह भी उल्लेखनीय है कि कराची कांग्रेस में मौलिक अधिकारों संबंधी प्रस्ताव पहले-पहल स्वीकार किया गया। उस प्रस्ताव में समाजवाद के सिद्धांतों की झलक पाई जाती है और कह सकते हैं कि महात्माजी के गांधीवाद का नेहरूजी के समाजवाद से समझौता उसी अधिवेशन में प्रारंभ हुआ था।

२९. गोलमेज परिषद

महादेव देसाई ने लिखा है कि “राजपूताना जहाज के सबसे अच्छे यात्री का चुनाव किया जाता तो शायद गांधीजी ही सर्वप्रथम आते।" जहाज के सबसे निचले, यानी तीसरे दर्जे में यात्रा कर रहे थे। वह सारी रात और दिन का अधिकांश समय डेक पर ही बिताते थे । सोने-जागने एवं प्रार्थना, कताई और स्वाध्याय के आश्रम-जीवन के अपने क्रम को उन्होंने यहाँ भी खंडित नहीं होने दिया था। स्वदेश लौटनेवाले अंग्रेज़-परिवारों के बच्चे उनसे बहुत हिल गए थे—वे बड़े कुतूहल से उनका चरखा चलाना देखा करते, सुबह-शाम केबिन में घुसते तो अंगूर और खजूर की प्रसादी पाकर निहाल हो जाते थे। अदन के प्रवासी भारतीयों ने उन्हें एक मानपत्र[1] भेंट किया । मिस्र के जगलूल पाशा की पत्नी और वहाँ की वफ्द पार्टी ने भी उन्हें अपनी शुभकामनाएं भेजीं।[2] मार्सेलीज़ में महान फ्रांसिसी साहित्यकार रोमा रोलाँ की बहन मदलेन रोलाँ उनका स्वागत करने और मिलने आईं। फ्रांसीसी विद्यार्थियों ने भी ‘भारत के आध्यात्मिक राजदूत’ की पदवी से विभूषित कर बड़े उत्साह से उनका स्वागत किया।

12 सितंबर, 1931 को गांधीजी लंदन पहुँचे। कुमारी म्यूरियल लीस्टर के निमंत्रण को स्वीकार कर वह लंदन की मज़दूर बस्ती ईस्ट एंड के किंग्सले हॉल में ठहरे, जिससे उन गरीबों की संगति में रह सकें, जिनकी सेवा के लिए उन्होंने अपना जीवन समर्पित किया था, जब कुछ मित्रों ने आपत्ति की कि ईस्ट एंड में रहने से परिषद् के दूसरे प्रतिनिधियों, साथियों और सहयोगियों को असुविधा होगी, तो 88, नाइट्स ब्रिज में अपना एक कार्यालय खोलने को गांधीजी राज़ी हो गए। लेकिन रोज रात में सोने के लिए लौट आया करते थे। कभी-कभी तो परिषद् की बैठकों और समितियों में इतनी देर हो जाती कि आधी रात के बाद लौट पाते थे। लेकिन सोने में भले ही देर हो जाए, प्रार्थना के लिए सवेरे ठीक चार बजे ज़रूर उठ जाते थे । प्रात:भ्रमण वह ईस्ट एंड की संकरी गलियों में करते । अक्सर अपने पड़ोसियों से मिलने उनके घर भी चले जाते और उस इलाके के बच्चे तो सब उनके दोस्त बन गए थे। गांधीजी का कहना था कि “परिषद् का असली काम तो यही है, जो मैं कह रहा हूँ—इंग्लैंड की जनता से मिलना और उसे जानना ।“

गोलमेज परिषद् में कांग्रेस की ओर से गांधीजी ही एकमात्र प्रतिनिधि थे । ब्रिटिश समाचार-पत्रों और राजनीतिज्ञों का कहना था कि गांधीजी महान व्यक्ति हो सकते हैं, लेकिन भारत के एकमात्र प्रतिनिधि नहीं हैं और न कांग्रेस ही भारत की एकमात्र संस्था, क्योंकि उस परिषद् में भारत की ओर से अनेक दल और संस्थाएं एवं कई प्रतिनिधि भाग ले रहे थे। वे सब सरकार द्वारा मनोनीत थे। उनमें से कुछ तो बहुत ही कामिल आदमी थे । अधिकांश राजे-रजवाड़ों, ठाकुरों-ज़मींदारों, पदवीधारियों, सांप्रदायिक दलों के नेताओं और निहित स्वार्थवालों में से छाँट-छाँटकर ऐसे आदमियों को रखा गया था जिन्हें राजनैतिक शतरंज में मुहरों की तरह इस्तेमाल किया जा सके, जो सरकार की जी-हुजूरी करें एवं नौकरियों और कौंसिलों में स्थान पाने के लिए अपने सही-गलत दावों पर अड़ जाएं।

वास्तव में ब्रिटिश सरकार चाहती भी यही थी । वह समस्या के सही रूप से प्रतिनिधियों का ध्यान बँटाकर उन्हें छोटी-छोटी बातों में उलझा देना चाहती थी । कुछ तो अपनी हाँ-में-हाँ मिलानेवाले प्रतिनिधियों के बहुमत और कुछ परिषद् पर अपने पूरे नियंत्रण के कारण ब्रिटिश सरकार इसमें पूर्णतः सफल भी हुई । घुमा-फिराकर सारी बहस सांप्रदायिक सवाल पर केन्द्रित कर दी जाती थी । गांधीजी सरकार की इस चाल को तुरंत समझ गए। उन्होंने असंदिग्ध भाषा में यह कहते हुए स्थिति को बिलकुल साफ कर दिया कि विभिन्न जातियों को अपने सारे ज़ोर के साथ अपनी-अपनी माँग पर (सांप्रदायिक प्रश्न पर) ज़ोर देने के लिए उत्साहित किया गया है और एक तरह से यह शर्त लगा दी गई है कि संवैधानिक प्रगति से पहले सांप्रदायिक समस्या हल हो ही जानी चाहिए। उन्होंने पूछा कि “क्या प्रतिनिधियों को अपने घरों से छः हज़ार मील केवल सांप्रदायिक प्रश्न को हल करने के ही लिए बुलाया गया है ? हमें लंदन इसलिए बुलाया गया है कि भारत की स्वतंत्रता का सच्चा और सम्मानजनक ढाँचा तैयार कर सकें। लेकिन यहाँ तो समस्या को बिलकुल उलटे रूप में पेश किया जा रहा है । रोटी कितनी बड़ी है, यह बताए बिना ही उसके टुकड़े करने को हमें जा रहा है। जो हमें मिलनेवाला है वह साफ-साफ बता दीजिए तो उसी के आधार पर मैं परिषद् के प्रतिनिधियों की एक राय बनाने की कोशिश करूँ । कम-से-कम मैं उन्हें यह तो कह सकूँ कि आप एक कीमती चीज़ के टुकड़े टुकड़े किए दे रहे हैं ।“

गांधीजी इंग्लैंड और भारत के बीच सम्मानजनक और बराबरी की भागीदारी चाहते थे, जो ताकत के ज़ोर पर टिकी हुई न हो, बल्कि प्रेम की रेशमी डोर में बंधी हो । उन्होंने कहा कि कांग्रेस ने फेडरेशन (संघ) के सिद्धांत को स्वीकार कर लिया है और इस सिद्धांत को भी कि 'संरक्षण' होना चाहिए; लेकिन संरक्षण का सिद्धांत इस तरह लागू किया जाए, जो भारत के हित में हो, इस तरह नहीं कि स्वराज्य एक मज़ाक ही बनकर रह जाए। जितने संरक्षण सुझाए गए थे, यदि उन सबको नए विधान में शामिल कर दिया जाता तो गांधीजी का कहना था कि भारत को मिलनेवाला उत्तरदायी शासन “जेल की कोठरियों में बंद कैदियों का उत्तरदायी शासन हो जाता। जेल की कोठरी का बाहर से ताला लग जाने के बाद अंदर के कैदियों को भी तो पूरी आज़ादी होती है।” उन्होंने यह स्वीकार किया कि अंग्रेज़-जाति शासन, व्यवस्था और संगठन की कला में ज्यादा पटु है, परंतु भारतीय अपने देश को ज्यादा अच्छी तरह जानते हैं । यूरोप के व्यावसायिक हितों को विशेष सुविधाएं देने का उन्होंने विरोध किया, लेकिन साथ ही यह आश्वासन भी दिया कि स्वतंत्र भारत में उनके साथ किसी तरह का भेद-भाव नहीं किया जाएगा। उन्होंने वयस्क मताधिकार, एक सदनवाली विधि-परिषद् और परोक्ष निर्वाचन का पक्षपोषण किया । उनका तो यहाँतक खयाल था कि भारत को स्वतंत्रता मिल जाने के बाद भी संभवतः कुछ समय तक ब्रिटिश फौजों को वहाँ रखना पड़े, क्योंकि भारतीयों को सुरक्षा के रहस्य अंग्रेज़ों से ही सीखने होंगे। “हमारे पंख आप लोगों ने काट दिए हैं, इसलिए हमें उड़ने के लिए पंख देना भी आपका ही कर्तव्य हो जाता है।"

लेकिन गांधीजी की कोई भी दलील वहाँ काम नहीं आई। उस समय इंग्लैंड आर्थिक संकट के दौर से गुज़र रहा था और वहाँ की सरकार में भी हाल ही में परिवर्तन हुआ था। नई सरकार में कंजरवेटिव दल का बहुमत था। इंग्लैंड की जनता अपनी ही समस्याओं में उलझी हुई थी । उनके लिए अपने आर्थिक संकट का मसला भारत के संविधान से ज्यादा महत्त्वपूर्ण और ज़रूरी था । फिर ब्रिटिश सरकार की नीति में भी कुछ परिवर्तन तो हो ही गया था। नए उपनिवेश-मंत्री सर सेम्युअल होर ने गांधीजी से साफ शब्दों में कह दिया कि वह भारतीयों को स्वशासन के ज़रा भी योग्य नहीं समझते। इधर गोलमेज परिषद् में भेदनीति से काम लिया ही जा रहा था। अपने-अपने

संप्रदायों की माँगों को लेकर भारतीय प्रतिनिधि सौदेबाज़ियाँ कर रहे थे। उनकी इन सौदेबाज़ियों को एक ओर तो भारतीय निहित स्वार्थ बढ़ावा दे रहे थे और दूसरी ओर अंग्रेज़ कूटनीतिज्ञ दुनिया को अंगुली उठा-उठाकर यह दिखला रहे थे कि भारतीयों में ही एकता नहीं है तो हम उन्हें स्वराज्य कैसे दे दें । गांधीजी मुसलमानों और अन्य अल्पसंख्यकों के उचित संदेहों को निर्मूल करने के लिए इस शर्त पर कि यदि वे भारतीय स्वाधीनता की माँग पर एक हो जाएं तो 'ब्लैंक चेक' तक देने को तैयार थे। भारतीय प्रतिनिधियों ने गांधीजी की इस उदारता को ठुकरा दिया और मुस्लिम नेता तो उस परिषद् में बुलाए ही नहीं गए थे। अंत में गांधीजी को यह स्वीकार करना पड़ा कि ब्रिटिश सरकार ने उनका (गांधीजी) और कांग्रेस का विरोध करने के लिए जितने तत्त्व गोलमेज परिषद् में इकट्ठा कर दिए थे उनकी सही ताकत को आँकने में उनसे भूल हुई थी। इसलिए जब ब्रिटिश प्रधानमंत्री रैम्ज़े मैक्डोनल्ड ने यह कहकर गोलमेज परिषद् को समाप्त कर दिया कि सांप्रदायिक समस्या के हल के लिए एक समिति नियुक्त की जाएगी, जो भारत जाकर इस प्रश्न का सर्वसम्मत हल खोज निकालेगी, तो गांधीजी ने छुटकारे की साँस ली।

लंदन के ईस्ट एंड के गरीबों में और खासतौर पर उनके बच्चों में 'गांधी चाचा' बड़े ही लोकप्रिय हो गए थे | बच्चे उनसे तरह-तरह के और कई बार तो बड़े बेढ़ब सवाल पूछ बैठते थे। गांधीजी सभी का संतोषजनक उत्तर देने का प्रयत्न करते । वह उन्हें अपने बचपन की कहानियाँ सुनाते और अपने ईस्ट एंड में ठहरने और सिर्फ लुंगी-चादर में रहने का कारण भी समझाते थे। वह उन्हें हमेशा यही उपदेश देते कि बुराई का जवाब भलाई से देना चाहिए। गांधीजी के इस उपदेश के कारण एक चार बरस की लड़की का बाप खासी मुसीबत में पड़ गया और उसे गांधीजी के पास अपनी शिकायत लेकर आना पड़ा था। गांधीजी द्वारा पूछे जाने पर उसने बताया, "मेरी नन्हीं जेन रोज मुझे मुँह पर मारकर जगाती है और कहती है, 'अब तुम मत मारना, क्योंकि गांधीजी कहते हैं कि हमें बदले में मारना नहीं चाहिए ।'" 2 अक्तूबर को उनकी वर्षगाँठ के दिन बच्चों ने उन्हें ऊन के बने हुए दो कुत्ते, जन्मदिवस के समारोह पर जलाई जानेवाली तीन गुलाबी मोमबत्तियाँ, टीन की एक तश्तरी, एक नीली पेन्सिल और मुरब्बा भेंट किया। गांधीजी ने भेंट में मिली इन वस्तुओं को बहुत संभालकर रखा और अपने साथ भारत ले आए। महादेव देसाई ने

गांधीजी के प्रति ब्रिटिश बच्चों के प्रेम का वर्णन करते हुए लिखा है—"इंग्लैंड में हज़ारों बच्चों ने गांधीजी को देखा होगा और हज़ारों उनसे मिलने आए होंगे। क्या पता, शायद अंग्रेज़ों की इसी पीढ़ी से निपटना पड़े ?"

गांधीजी की इस इंग्लैंड यात्रा की सबसे सुखद घटना थी लंकाशायर के सूती मिल-मज़दूरों से उनकी भेंट। कांग्रेस के विदेशी वस्त्र-बहिष्कार आंदोलन की सीधी चोट इन लोगों पर ही पड़ी थी और कई लाख बेकार हो गए थे, लेकिन किसी ने गांधीजी के प्रति क्रोध, उत्तेजना या घृणा का प्रदर्शन नहीं किया। सभी मज़दूर उनसे बड़े प्रेम और विनम्रता से मिले। गांधीजी ने भी बड़े घ्यान से उनकी बातें सुनीं और बेकार हो जानेवालों के कष्टों के प्रति अपनी गहन सहानुभूति व्यक्ति की। जब गांधीजी ने उनसे कहा कि "आपके यहाँ तीस लाख बेकार हैं, लेकिन हमारे यहाँ साल में छ: महीने तीस करोड़ लोग बेकार रहते हैं, आप लोगों को औसत सत्तर शिलिंग बेकारी-भत्ता मिलता है, हमारी औसत मासिक आमदनी सिर्फ साढ़े सात शिलिंग है" तो भारत में विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार की पृष्टभूमि और आवश्यकता उन मज़दूरों की समझ में बहुत अच्छी तरह से आ गई।

कुछ अंग्रेज़ मित्रों का ऐसा खयाल था कि ईस्ट एंड में ठहरने के कारण इंग्लैंड के उच्च और मध्यमवर्ग की गांधीजी ने उपेक्षा कर दी थी; उनसे मिलना इसलिए भी ज़रूरी था, क्योंकि भारत के राजनैतिक भविष्य का निर्णय करनेवाली वास्तविक शक्ति भी वे ही लोग थे। इसलिए उन्होंने ब्रिटेन के राजनैतिक, धार्मिक, वैज्ञानिक और साहित्यिक क्षेत्र के श्रेष्ठी समुदाय से गांधीजी को मिलाने की एक योजना बनाई। वह जार्ज बर्नार्ड शा से मिले, जिन्होंने गांधीजी को 'समानशील व्यक्ति' पाया। गांधीजी ने पार्लामेंट के सदस्यों के समक्ष भाषण भी दिया। वह ईसाई संप्रदाय के धर्माध्यक्षों और बिशपों से भी मिले। उन्होंने ईटन के छात्रों और लंदन स्कूल आफ इकानामिक्स के विद्यार्थियों को संबोधित किया। डॉ. लिंडसे के निमंत्रण पर वह आक्सफोर्ड गए और वहाँ डॉ. गिल्बर्ट मरे, गिल्बर्ट साल्टर, प्रोफेसर कूपलैंड, एडवर्ड टाम्सन आदि धुरंधरों से मिले और चर्चाएं कीं और आक्सफोर्ड में ही उन्होंने वहाँ के भारतीय छात्रों की एक सभा में भाषण भी दिया। वह

लायड जार्ज से भी मिलने के लिए गए। सुप्रसिद्ध अभिनेता चार्ली चैप्लिन स्वयं उनसे मिलने के लिए आए। उनका नाम भी गांधीजी ने पहले नहीं सुना था।

इन गैर-रस्मी मुलाकातों के असर को नापना आसान नहीं है। अंग्रेज़ जाति स्वभाव से ही विनयशील है, इसलिए गांधीजी के व्यक्तित्व की उसपर जो छाप पड़ी, उसका सही अंदाज़ लगा पाना मुश्किल ही है। लेकिन इतना तो साफ मालूम हो गया कि कांग्रेस के उद्देश्यों और अंग्रेज़ जाति के दृष्टिकोण में पूरब-पश्चिम का अंतर था और उस अंतर को मिटाया नहीं जा सका था । इंग्लैंड और भारत के बीच बराबरी की भागीदारी के गांधीजी के दावे का पूरा समर्थन करनेवाले अंग्रेज़ सिर्फ गिने-चुने ही निकले। ब्रिटेन के अधिकांश विचारकों और राजनीतिज्ञों की यह धारणा थी कि गांधीजी भारत को स्वराज्य के कठिन मार्ग पर एकदम बहुत दूर और बहुत तेज़ी से ले जाना चाहते थे। लेकिन जिससे भी वह मिले, उसपर उनकी ईमानदारी, सहज व्यवहार और स्पष्टवादिता का स्थायी प्रभाव पड़े बिना न रहा। जिस आदमी की लुंगी और बकरी के दूध के किस्से उछालने में सारे इंग्लैंड के अखबार होड़ बद रहे थे, कम-से-कम उसकी एक सही तसवीर तो उन लोगों के सामने इन मुलाकातों से अवश्य आ गई थी। गांधीजी के विचार मिलनेवालों को स्वप्नदर्शी या क्रांतिकारी लग सकते थे, लेकिन भेंट कर चुकने के बाद, जैसाकि 'ट्रुथ' अखबार ने उनके इंग्लैंड पहुँचने पर लिखा था, 'बकवास' कहकर उनको टाला नहीं जा सकता था।

इसी बीच गांधीजी को भारत से जो समाचार मिले, वह बहुत ही चिन्ताजनक थे। उनकी इंग्लैंड-यात्रा से पहले सरकार और कांग्रेस में जो अस्थायी समझौता हुआ था वह टूट चुका था। ऐसी स्थिति में गांधीजी का स्वदेश लौटने के लिए व्यग्र होना स्वाभाविक ही था। वापसी में यूरोप-भ्रमण और अमरीका-यात्रा के निमंत्रण उन्होंने अस्वीकार कर दिए । लेकिन लौटते हुए कुछ समय स्विट्ज़रलैंड में रोमां रोलां का आतिथ्य उन्होंने अवश्य ग्रहण किया।

6 दिसंबर को गांधीजी महादेव देसाई, प्यारेलाल, मीराबहन (मिस स्लेड) और देवदास गांधी के साथ विलेनेव पहुँचे। प्रथम असहयोग-आंदोलन के तत्काल बाद प्रकाशित अपनी पुस्तक 'महात्मा गांधी' में रोमां रोलां ने गांधीजी के जीवन और संदेश की व्याख्या में विलक्षण अंतर्दृष्टि का परिचय देते हुए यह आशा प्रकट की थी कि हिंसाग्रस्त यूरोप अब भी गांधीजी के अहिंसा और

आत्मत्याग के मार्ग पर चलकर आत्म-विनाश से अपनी रक्षा कर सकता है—इतना तो निर्विवाद है कि या तो गांधीजी की आत्मा अपने ही युग में विजयी होगी या ईसा और बुद्ध की भांति उसका पुनरागमन होता रहेगा, जबतक कि जीवन की पूर्णता का प्रतीक कोई महापुरुष अवतीर्ण होकर नई मानवता को नूतन मार्ग का पथिक नहीं बना देते ।"

गांधीजी और रोमां रोलां आपस में बड़े प्रेम से मिले और रोज घंटों साथ बैठे विचार-विनिमय करते रहे । उन्होंने अनेक विषयों पर चर्चाएं की। रोलां की बहन मदलेन लिखती हैं :

"मेरे भाई ने गांधीजी को पीड़ाग्रस्त यूरोप की दुःखद स्थिति का परिचय दिया। उन्होंने तानाशाहों के अत्याचारों से पीड़ित जनता के कष्टों का वर्णन करते हुए सर्वहारा वर्ग के आंदोलनों और प्रयत्नों की बात बताई और समझाया कि निर्मम पूंजीवाद के शिकंजे को तोड़ फेंकने के लिए आतुरता से प्रयत्नशील और न्याय एवं स्वतंत्रता की उचित आकांक्षा से प्रेरित यह वर्ग किस प्रकार केवल विद्रोह और हिंसा का ही अवलंबन करता है। उन्होंने गांधीजी को यह भी बताया कि पश्चिम का आदमी अपनी शिक्षा, परंपरा और स्वभाव से ही अहिंसा के धर्म को अपनाने को प्रस्तुत नहीं है।

"...गांधीजी विचारमग्न सुनते रहे। वह बार-बार अहिंसा में अपनी दृढ़ आस्था व्यक्त करते जाते थे। लेकिन साथ ही वह यह भी जानते थे कि संदेह-प्रताड़ित यूरोप को प्रतीति कराने के लिए अहिंसा के सफल प्रयोग का जीता-जागता उदाहरण प्रस्तुत करना होगा। यह पूछे जाने पर कि कया भारत कर सकेगा, उन्होंने जवाब दिया था कि हाँ, आशा तो है..."[3]

जब स्विट्ज़रलैंड की जनता को गांधीजी के अपने देश में आने का पता चला तो सारे देश में उत्साह की लहर दौड़ गई । लेमेन नगर के दूधियों की सिंडीकेट ने रोमां रोलां को टेलीफोन से यह सूचना दी कि वह "भारत के राजेश्वर" के लिए जबतक वह स्विट्ज़रलैंड में रहें, दूध भेजना चाहते हैं।

एक जापानी कलाकार उनके चित्र बनाने के लिए पेरिस से दौड़े आए। एक युवक वादक रोज़ उनकी खिड़की के नीचे खड़े होकर दिलरुबा बजाया करते। इटली के लोगों ने भारतीय संत

से आगामी राष्ट्रीय लाटरी के लिए दस विजेता नंबर बताने की प्रार्थना की । पाठशाला में पढ़नेवाले बच्चे रोज़ उनके लिए फल लेकर आते थे।

गांधीजी रास्ते में एक दिन के लिए रोम में भी ठहरना चाहते थे। रोमां रोलां ने उन्हें वहाँ फासिस्टों से संभलकर रहने की सलाह दी और एक बहुत ही विश्वसनीय मित्र के यहाँ उनके रहने-ठहरने का प्रबंध कर दिया। रोम में गांधीजी ने ईसा मसीह और उनके अनुयायियों से संबंधित चित्र-प्रदर्शनी
(वेटिकान गैलेरी) देखी । सिस्टिन चैपल (गिरजाघर) में तो वह ठगे-से रह गए—"मैंने ईसा का चित्र देखा। बड़ा ही अदभुत ! वहाँ से हटने का मन ही नहीं होता था । देखता रहा, आँखों में आँसू उमड़ आए, पर मन नहीं अघाया।"

पोप ने तो उनकी मिलने की माँग को स्वीकार नहीं किया, परंतु मुसोलिनी ने उनसे भेंट की । पाँच महीने बाद यरवदा-जेल में वहाँ के एक जेल-अधिकारी ने मुसोलिनी का उल्लेख करते हुए गांधीजी से कहा था कि उसका (मुसोलिनी का) व्यक्तित्व तो बड़ा ही आकर्षक है। "हाँ", गांधीजी ने जवाब दिया था—"लेकिन वह जल्लाद मालूम पड़ता है। संगीनों की नोक पर कोई राज्य आखिर कबतक टिक सकता है ?"[4]

इतालवी जहाज पिल्सना पर सवार होकर ब्रिंडिस की ओर जाते हुए गांधीजी को बताया गया कि 'ज्योर्नेल द इतालिया' में उनकी एक मुलाकात के बारे में छापा गया है, जिसमें उन्होंने यह घोषणा की बताई जाती है कि वह सविनय अवज्ञा आंदोलन को फिर से शुरू करने के लिए भारत लौट रहे हैं। उन्होंने रोम में कोई मुलाकात नहीं दी थी। समुद्री तार के द्वारा उन्होंने तत्काल यह सूचना लंदन भिजवा दी कि 'ज्योर्नेल द इतालिया' की रिपोर्ट बिलकुल झूठी है। लेकिन इस स्पष्टीकरण के बावजूद इंग्लैंड के बहुत-से अखबारों और राजनीतिज्ञों ने उनपर असत्य भाषण का आरोप लगा ही दिया । असल में इंग्लैंड के खुर्राट राजनीतिज्ञ और भारत के ब्रिटिश नौकरशाह दोनों ही कांग्रेस से समझौते के पक्ष में नहीं थे, गांधी-इर्विन-समझौता उनकी आँखों में कांटे की तरह खटक रहा था, वे उसे तोड़ने का कोई बहाना ढूँढ़ ही रहे थे। फासिस्टों के अखबार 'ज्योर्नेल द इतालिया' ने उन्हें मुँहमाँगी मुरादें दे दीं।

---

1. 328 गिनी की एक थैली भी भेंट की थी।
2. मिस्री शिष्टमंडल पोर्ट सईद पर मिलने के लिए आया था, पर उसे इजाज़त नहीं दी गई। काहिरा में नहस पाशा के एक प्रतिनिधि को बड़ी मुश्किलों के बाद भेंट की इजाज़त मिली। मिस्र के प्रवासी भारतीयों का भी एक शिष्टमंडल गांधीजी से काहिरा में मिला था।—अनुवादक
3. शुक्ल द्वारा संपादित : 'इंसीडेंट्स आव गांधीजीज़ लाइफ', पृष्ठ 294।
4. महादेवभाई की डायरी—26 मई, 1932 का उल्लेख।

३०. सर्वांगीण युद्ध

गांधीजी 28 दिसंबर, 1931 को बंबई पहुँचे। एक ही सप्ताह के अंदर वह गिरफ्तार कर लिए गए और सविनय अवज्ञा आंदोलन फिर शुरू हो गया। सरकार ने कांग्रेस को गैर-कानूनी कर दिया और गांधी-इर्विन-समझौते को फाड़कर रद्दी की टोकरी में फेंक दिया। केवल उस एक सप्ताह की घटनाओं को देश की राजनैतिक परिस्थिति में इतनी शीघ्रता से और इतने अप्रत्याशित परिवर्तन का कारण समझना भूल होगी। असली कारण तो सरकार और कांग्रेस के बीच के वे तीव्र मतभेद थे, जो गांधी-इर्विन-समझौते के बावजूद मिट नहीं पाए थे।

इस बार सरकार ने कांग्रेस पर आक्रमण की अपनी पूरी योजना बहुत अच्छी तरह तैयार की थी—उसमें कोई भी कमी नहीं रहने दी थी। यदि कांग्रेस ने फिर सविनय अवज्ञा शुरू की तो उसे कुचलने के लिए अधिकारियों को क्या करना चाहिए और उन्हें कौन-से और कितने अधिकार दिए जाने चाहिए, इस सबकी तैयारियाँ केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों ने महीनों पहले से कर ली थीं। कई काले कानून (आर्डिनेन्स) बनाकर प्रांतीय सरकारों को आवश्यक अधिकार दे दिए गए थे। सविनय अवज्ञा से उत्पन्न स्थितियों का मुकाबला करने की नियमावलियाँ बना दी गई थीं। 19 दिसंबर, 1931 को जब गांधीजी स्वदेश पहुँच भी नहीं पाए थे, भारत सरकार ने एक परिपत्र के द्वारा कांग्रेस के संभावित संघर्ष के बारे में प्रांतीय सरकारों को सचेत कर दिया था। अधिकारियों के रुख का पता उस पत्र से चल जाता है, जो बंबई सरकार ने दिल्ली के आला अफसरों को, गांधीजी की गिरफ्तारी के बाद बंबई अहाते की किसी जेल में उन्हें रखने की अपनी कठिनाइयों के बारे में, 21 दिसंबर को लिखा था—"अगर भारत सरकार गिरफ्तार करके गांधीजी को हिन्दुस्तान में ही रखना चाहती है...तो कोयंबतूर सबसे बढ़िया रहेगा। गवर्नर साहब की राय है कि इस बार गांधीजी की गिरफ्तारी का नैतिक प्रभाव पहले से कहीं ज्यादा होगा, मगर साथ ही गवर्नर साहब का यह खयाल भी है कि गांधीजी की गिरफ्तारी से सविनय अवज्ञा आंदोलन को कुचलने का सरकार का पक्का इरादा भी लोगों पर बखूबी ज़ाहिर हो जाएगा। गिरफ्तारी के बाद गांधीजी को अंडमान में, बल्कि हो सके तो अदन में, रखना बेहतर होगा, क्योंकि दोनों ही सूरतों में उनके नाम और गिरफ्तारी का राजनैतिक इस्तेमाल कम-से-कम किया जा सकेगा।"

भारत सरकार ने बंबई सरकार के इस सुझाव को तो अव्यावहारिक मानकर स्वीकार करने से इनकार कर दिया, लेकिन 1927 के बंबई रेगूलेशन के अंतर्गत गांधीजी की गिरफ्तारी की बात पक्की हो गई। लार्ड विलिंग्डन ने लार्ड चेम्सफोर्ड, लार्ड रीडिंग और लार्ड इर्विन की तरह गांधीजी की गिरफ्तारी के मामले में हिचकिचाहट और असमंजस से ज़रा भी काम नहीं लिया । केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों के कई उच्च अधिकारियों का ऐसा विश्वास था कि गिरफ्तारी के मामले में हिचकिचाहट और ढिलाई की नीति के ही कारण गांधीजी इतने सिर-ज़ोर हो गए थे और शासन की यों अवज्ञा करने लगे थे। अगर शुरू से ही सख्ती की जाती तो सविनय अवज्ञा आंदोलन बहुत पहले ही कुचल दिया जाता। ब्रिटिश नौकरशाही को गांधी-इर्विन-समझौता फूटी आँखों भी नहीं सुहाया था, क्योंकि उस समझौते से भारत में ब्रिटिश राज्य को, जिसकी सेवा और रक्षा करना नौकरशाही अपना धर्म और कर्तव्य समझती थी, समाप्त करने के कांग्रेस के लक्ष्य में कोई परिवर्तन नहीं हुआ था। अधिकांश बड़े अफसर अहिंसा को केवल एक बहाना और ओट समझते थे, इसलिए हिंसा का प्रयोग न करने के कांग्रेस के निर्णय को कोई महत्त्व नहीं देते थे। जिन अधिकारियों को गांधीजी की ईमानदारी में विश्वास था, उनका कहना था कि अगर जनता हिंसा पर उतर ही आई तो कांग्रेस और गांधीजी उसे कैसे रोक सकेंगे !

चार महीने की विदेश-यात्रा के बाद जब गांधीजी 28 दिसंबर, 1931 को बंबई के बंदरगाह पर उतरे तो वह बहुत उत्साहित और आशावान नहीं थे, लेकिन उन्होंने यह भी नहीं सोचा था कि राजनैतिक संकट इतना गहरा हो जाएगा। जवाहरलाल नेहरू एवं अब्दुल गफार खाँ की गिरफ्तारी और संयुक्त प्रांत में आर्डिनेन्स राज्य ने स्थिति को बहुत ही विषम बना दिया था। गांधीजी ने बंबई की एक आम सभा में भाषण करते हुए कहा था—“मैं ऐसा समझता हूँ कि ये आर्डिनेन्स हमारे ईसाई वाइसराय लार्ड विलिंगडन साहब की ओर से हमें क्रिसमस का उपहार है।“ कार्य-समिति परिस्थिति पर विचार-विनिमय करके इस नतीजे पर पहुँची कि सरकार ने बल-परीक्षण का फैसला कर लिया है, इसलिए सविनय अवज्ञा को फिर से शुरू करना ही सही जवाब होगा।

लेकिन गांधीजी सरकारी दृष्टिकोण को समझ लेना और शांतिपूर्ण समझौते की कोशिश कर लेना चाहते थे। आशा की एक मद्धिम-सी किरण के भी रहते वह देश को आंदोलन के बवंडर

में नहीं डालना चाहते थे। उन्होंने तार करके वाइसराय से मुलाकात की इजाज़त माँगी। उन्होंने दो प्रांतों[1] में जाकर वहाँ की घटनाओं के सरकारी और गैर-सरकारी दोनों ही तरह के विवरणों की स्वयं पड़ताल करने और अगर कांग्रेस की गलती दिखाई दे तो अपने साथियों और सहयोगियों को सही राह पर लाने की तैयारी भी ज़ाहिर की। लेकिन इस कदम को वह वाइसराय से मिलकर शांति स्थापना के प्रयत्नों में असफल हो जाने के बाद ही उठाना चाहते थे। वाइसराय झल्ला उठे और गांधी पर सविनय अवज्ञा आंदोलन फिर से शुरू करने की धमकी देने का आरोप लगाते हुए तार[2] से यह जवाब दिया कि "कांग्रेस ने जिन उपायों के अवलंबन का इरादा जाहिर किया है, उसके सब परिणामों के लिए हम आपको और कांग्रेस को उत्तरदायी समझेंगे और उनके दबाने के लिए सरकार सब आवश्यक उपायों का अवलंबन करेगी।" अब तो शायद सम्राट की लंदन की सरकार ही संकट को और गहरा होने से बचा सकती थी। गोलमेज परिषद् के समय नए उपनिवेश-मंत्री सर सेम्युअल होर ने गांधीजी से बहुत साफ शब्दों में कह दिया था कि अगर कांग्रेस ने सीधी कार्रवाई की तो सरकार उसे बल-प्रयोग के द्वारा कुचल देगी । गांधीजी ने सर सेम्युअल होर से स्थिति पर पुनर्विचार करने का अनुरोध किया था। "यदि आपने ऐसा किया तो उससे दोनों ही देशों की कठिनाइयाँ और कष्ट बहुत अधिक बढ़ जाएंगे...आप बार-बार विद्रोह की दुहाई देते हैं, लेकिन सर सेम्युअल, शांतिपूर्ण विद्रोह कभी उतना खतरनाक नहीं हुआ करता।"

सर सेम्युअल जानते थे कि गांधीजी गोलमेज परिषद् के परिणामों से संतुष्ट और प्रसन्न नहीं थे, फिर भी उन्होंने उपनिवेश-मंत्री को यह आश्वासन दिया था कि भारत लौटकर सरकार से संघर्ष को टालने की जितनी भी कोशिश करते बनेगी, अवश्य करेंगे। 'ज्योर्नाल द इतालिया' ने उनकी जोफर्जी मुलाकात छाप दी थी, उससे सर सेम्युअल होर को आश्चर्य ज़रूर हुआ था, लेकिन गांधीजी के प्रतिवाद से वह निश्चिन्त हो गए थे। सर सेम्युअल चाहते तो इस समय हस्तक्षेप करके भारत सरकार को गांधीजी के खिलाफ कड़ी कार्रवाई करने से रोक सकते थे, लेकिन न तो ऐसा करने की उनकी इच्छा थी और न भारत-स्थिति ब्रिटिश नौकरशाही का विरोध करने की उनमें शक्ति ही थी। फिर सर सेम्युअल इसके पहले ही कांग्रेस का दमन करने की भारत सरकार की योजना को अपने आशीर्वाद दे चुके थे, इसलिए उन्होंने शांति-स्थापना के लिए हस्तक्षेप करने की

अपेक्षा दमन शुरू करने का आदेश देना ही उचित समझा और सरकार को दमन-योजना कार्यान्वित करने की अनुमति प्रदान कर दी।

गांधीजी ने सरकार के रुख को भाँप लिया था, इसलिए बंबई की एक सभा में उन्होंने जनता को सावधान कर दिया था—"पिछली लड़ाई में जनता को लाठियों के वार सहने पड़े थे, लेकिन इस बार गोलियाँ खानी होंगी।" पर सरकारी तैयारियों का सही अंदाज़ तो उस समय गांधीजी को भी नहीं था। लार्ड विलिंगडन बहुत कठोर शासक समझे जाते थे और उन्होंने सिद्ध कर दिया कि वह कठोर ही नहीं, क्रूर और नृशंस शासक भी थे। प्रांतीय गवर्नरों ने भी इस बार आंदोलनकारियों को सबक सिखाने और ठिकाने लगाने का निश्चय कर लिया था। आंदोलन का दमन करने के लिए महीनों पहले जिन गुप्त योजनाओं को बनाया गया था वे सब-की-सब एकदम और बड़ी तेजी से अमल में ले आई गईं। 4 जनवरी, 1932 को गांधीजी और कार्य-समिति के सदस्यगण गिरफ्तार कर लिए गए और उसके कुछ ही घंटो बाद ताबड़तोड़ एक के बाद एक कई आर्डिनेन्स ज़ारी कर दिए गए। कांग्रेस की कार्यसमिति ही नहीं, सभी प्रांतीय समितियाँ और बहुत-सी स्थानीय समितियों को भी गैर-कानूनी करार दिया गया। इतना ही नहीं, कांग्रेस-संगठन की समर्थक या उससे सहानुभूति रखनेवाली दूसरी अनेक संस्थाएँ—युवक लीग, राष्ट्रीय विद्यापीठें, कांग्रेस वाचनालय एवं पुस्तकालय, कांग्रेस अस्पताल और चिकित्सालय आदि भी गैर-कानूनी कर दिए गए। कांग्रेस का सारा पैसा और संपत्ति ज़ब्त कर ली गई। कांग्रेस दफ्तरों और भवनों पर सरकार ने कब्ज़ा कर लिया। संक्षेप में यह कि वे सभी कार्रवाइयाँ की गईं, जिनसे कांग्रेस संगठन पूरी तरह ठप्प हो जाए। आर्डिनेन्स कितने कठोर और व्यापक थे इसका पता पार्लमेंट के हाउस आव कामन्स में उपनिवेश-मंत्री के मार्च 1932 के भाषण से चल जाता है।

सरकार को आशा थी कि कांग्रेस के नेताओं को गिरफ्तार करके और कांग्रेस की धन-संपत्ति को ज़ब्त करके वह संगठन और आंदोलन दोनों को ही तोड़ सकेगी । आर्डिनेन्स में अफसरों को यह अधिकार भी दिया गया कि यदि उन्हें किसी भी निधि के गैर-कानूनी संगठनों के लिए खर्च किए जाने का संदेह हो जाए तो वे उसे फौरन ज़ब्त कर लें। किसी भी व्यक्ति, संस्था अथवा व्यवसायिक संगठन की खाते-बहियों की जाँच करने, पूछताछ और तलाशी लेने के

अधिकार भी अफसरों को दिए गए थे। गांधीजी ने इंग्लैंड में एक भाषण दिया था, कोलंबिया ग्रामोफोन कंपनी ने उसका रेकार्ड बनाया था और अखिल भारत चरखा संघ को उसकी रायल्टी मिलती थी। भारत सरकार ने यह रायल्टी बंद करवाने की कोशिश भी की।

जेल की संख्या बेहिसाब बढ़ा दी गई । 1930-31 के सत्याग्रह आंदोलन में बहुत-सी महिलाएं जेल गई थीं। इस बार औरतों को आंदोलन में हिस्सा लेने से रोकने के उद्देश्य से ही जेल-कानूनों को कड़ा किया गया था। मीराबहन को, जो एक अंग्रेज़ नौ-सेनाध्यक्ष की पुत्री और गांधीजी की शिष्या थीं, बंबई की आर्थर रोड जेल में रखा गया था। वहाँ सत्याग्रही महिला बंदियों से जैसा दुर्व्यवहार किया जाता था और जितनी सख्तियाँ उनपर होती थीं, उनका आँखों देखा वर्णन उन्होंने किया है। सत्याग्रही महिला बंदियों को कटघरे के अंदर से अपने बच्चों से मिलने दिया जाता था। मीराबहन को सत्याग्रही महिलाओं के साथ नहीं, अपराधी औरतों के साथ रखा गया था। उनकी चार पड़ोसिनों में तीन चोरी के अपराध में और एक वेश्यावृत्ति के जुर्म में सज़ायाफ्ता थीं। इन अपराधिनों को रात में ताले में बंद नहीं किया जाता था, परंतु सत्याग्रही महिलाएं सरेआम ताले में बंद कर दी जाती थीं।

संधि-काल में कांग्रेस का प्रभाव देहातों में बहुत बढ़ गया था। शह के मध्यमवर्गीय लोगों के स्वदेश-प्रेम से ही निपटना सरकार के लिए मुश्किल हो रहा था। जब वह आग देहातों में भी फैलती चली गई तो सरकार की बौखलाहट बहुत ज्यादा बढ़ गई। करबंदी-आंदोलन पर जो इतनी सख्तियाँ और लोमहर्षक अत्याचार किए गए उसका कारण भी सरकार की यह बौखलाहट ही थी। करबंदी-आंदोलन का संयुक्त प्रांत के दो ज़िलों, इलाहाबाद एवं रायबरेली में तथा बंबई, बंगाल, बिहार और पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत के कुछ ज़िलों में सबसे अधिक ज़ोर था।

अखबार और छापेखानों को भी इस बार नहीं छोड़ा गया। 1930 में नमक-सत्याग्रह की आरंभिक सफलता का कारण सरकार की निगाह में उसका अत्यधिक अखबारी प्रचार ही था। इसलिए 1932 में प्रेस और समाचार-पत्रों की स्वतंत्रता का अपहरण करनेवाले कई आर्डिनेन्स जारी किए गए। संवाददाताओं की गिरफ्तारी से लेकर समाचारपत्रों से जमानतें माँगने और जमानतें ज़ब्त करने तक के प्रावधान उनमें रखे गए और इन काले कानूनों का धड़ल्ले से प्रयोग

किया गया। सविनय अवज्ञा आंदोलन के दुबारा शुरू किए जाने के कोई छः महीने बाद, 4 जुलाई, 1932 को भारत मंत्री ने पार्लमेंट में स्वीकार किया कि प्रेस कानूनों के अंतर्गत 109 संपादकों-संवाददाताओं और 98 छापेखानों के खिलाफ कार्रवाई की गई थी।

इस बार भी गांधीजी को पूना के यरवदा-सेंट्रल जेल में रखा गया था। वल्लभभाई पटेल और महादेव देसाई भी उनके साथ ही थे। महादेवभाई ने अपनी डायरियों में गांधीजी के इस बार के जेल-जीवन का बड़ा ही रोचक और प्रेरणात्मक वर्णन किया है। आंदोलन के खिलाफ सरकार की दमनकारी कार्रवाइयों की गांधीजी को पूरी-पूरी जानकारी थी। इस बार का दमन औचित्य की सारी सीमाओं को लाँघ गया था और यही बात उन्होंने जेल से सर सेम्युअल होर को लिखी भी थी। गांधीजी सत्याग्रही के लिए कष्ट-सहन को उसकी आत्मा के विकास के लिए और कष्ट देनेवाले के हृदय-परिवर्तन के लिए एक आवश्यक शर्त मानते थे। गांधीजी का विश्वास था कि इस भट्टी में सारा कूड़ा-करकट जल-भुनकर खाक हो जाएगा और राष्ट्र का व्यक्तित्व अधिक तप:पूत होकर निकालेगा। उनका कहना था कि यदि जनता सत्याग्रह पर डटी रही, दमन से विचलित नहीं हुई, अहिंसा का पूरी तरह पालन करती रही तो दमन कितना ही कठोर क्यों न हो उसे कभी तोड़ नहीं सकता। इंग्लैंड में ब्रिटिश विशेषज्ञ और भारतीय दर्शक मिलकर जो नया विधान बना रहे थे, गांधीजी को उससे रंच-मात्र भी आशा नहीं थी। बंबई सरकार के गृह-सचिव टामस जेल में मिलने के लिए गए तो उन्होंने गांधीजी से कहा—"आधी रोटी मिल रही है तो आज आप आधी को ही क्यों स्वीकार नहीं कर लेते ?" इसपर गांधीजी ने कहा था, "मगर वह रोटी हो, पत्थर तो नहीं ।"

जेल में भी गांधीजी उतने ही व्यस्त रहते थे जितने जेल के बाहर। दोनों समय प्रार्थनाएं और कताई तो उनका नित्य नियम था। कपड़े अपने हाथ से घोते थे और सारी चिट्ठियों का जवाब स्वयं देते और बोलकर लिखाते भी थे। एक दिन तो उन्होंने उनंचास पत्र लिखे थे। अधिकांश पत्र आश्रमवासियों को ही लिखे जाते थे। जेल से लिखे पत्रों को वह सर्वथा व्यक्तिगत मानते थे और पानेवालों को उन्हें व्यक्तिगत ही रखने की कड़ी हिदायत भी कर दी थी। अध्ययन भी खूब करते थे। खगोलशास्त्र में उनकी रुचि बहुत बढ़ गई थी और रात में प्राय: आकाश के नक्षत्र-मंडल और

तारों की गति को देखा करते। विश्राम और हँसी-मज़ाक भी चलता रहता। वल्लभभाई पटेल से उनकी खूब नोक-झोंक रहती थी।

सरकार ने दमन के साथ-साथ प्रचार पर भी पूरी रोक लगा दी थी, क्योंकि ऐसे समय प्रचार ही राष्ट्र के मनोबल को बनाए रखने का एकमात्र साधन होता है। लेकिन फिर भी 1932 के आरंभिक नौ महीनों में कुल 61,551 सत्याग्रही सविनय अवज्ञा के सिलसिले में जेल गए। यह संख्या 1930-31 के आंदोलन में जेल जाने और सज़ा पानेवालों से अधिक ही है। आंदोलन शुरू के चार महीने तो खूब तेज रहा; पर उसके बाद जेल जाने और सज़ा पानेवालों की संख्या क्रमशः घटती गई (अप्रैल 1932 में जब कांग्रेस ने पं. मदनमोहन मालवीय के सभापतित्व में दिल्ली में अपना वार्षिक अधिवेशन करने की कोशिश की तो बहुत अधिक गिरफ्तारियाँ हुई थीं) और आंदोलन की रफ्तार बहुत मंद हो गई।

1932 का अंत होते-होते तो केन्द्रीय और प्रांतीय सरकारें इसलिए अपनी-अपनी पीठ ठोकने लगी थीं कि उन्होंने कांग्रेस को चारों खाने चित्त कर दिया। लेकिन आर्डिनेन्सों द्वारा प्रदत्त अपने विशेषाधिकारों को छोड़ने के लिए वे अब भी तैयार न हुई। लार्ड विलिंगडन ने फैसला कर लिया था कि लड़ाई को अधबीच नहीं छोड़ा जाएगा, आंदोलन को इस तरह कुचल दिया जाएगा कि वह अनेक वर्षों तक अपना सिर न उठा सके और जबतक गांधीजी तथा कांग्रेस बिना शर्त आत्म-समर्पण नहीं कर देते, गांधीजी को नज़रबंद रखा जाएगा। 1932 के दिसंबर महीने में जब तेजबहादुर सप्रू और एम. आर, जयकर लंदन से संवैधानिक चर्चाएं करके लौट आए तो उपनिवेश-मंत्री ने वाइसराय को यह सुझाव दिया कि उन्हें जेल में गांधीजी से मिल लेने दिया जाए। 4 जनवरी, 1933 को वाइसराय ने एक लंबा समुद्री तार भेजकर उपनिवेश-मंत्री के इस सुझाव का कड़ा विरोध किया :

“इस तरह की मुलाकात के उद्देश्य से, कि सरकार गांधी और कांग्रेस को नए विधान से सहयोग करने का पूरा अवसर दे रही है, हम यानी प्रांतों के गवर्नर और वाइसराय की कार्यकारिणी कौंसिल पूर्णतः सहमत हैं; लेकिन साथ ही हमारी यह राय भी है कि इस तरह की मुलाकात का नतीजा यहाँ हमारे हक में बहुत बुरा होगा और पिछली गोलमेज परिषद् की सफलता एवं पिछले

पूरे साल की कार्रवाइयों के फलस्वरूप हमने स्थिति पर जो काबू पाया है, उसपर बिलकुल ही पानी फिर जाएगा।"

वाइसराय गांधीजी के साथ उदारता दिखाने की गलती तो भूलकर भी नहीं करना चाहते थे। 1 जुलाई, 1933 को भारत मंत्री के नाम लिखे अपने एक पत्र में वह लिखते हैं, "गांधी के नेतृत्व को नरम और गरम दोनों ही पक्षों की ओर से खुली चुनौतियाँ दी जा रही हैं। उनपर यह आरोप लगाया जा रहा है कि पूरे चौदह वर्ष के सतत संघर्ष के बाद उन्होंने कांग्रेस को विफलता की दलदल में फँसाया है। कांग्रेस की भावी नीति के संबंध में कांग्रेसजनों में तीव्र मतभेद हैं और साथ ही निराशा की गहरी भावना भी। अकेले गांधी ही सबको जोड़-बटोरकर साथ रख सकते हैं और निराशा से उभार सकते हैं। लेकिन वह इस बात को भी बहुत अच्छी तरह जानते हैं कि उनका प्रभाव पूरी तरह सरकार के उनके संबंधों पर निर्भर करता है। यदि कांग्रेसजनों और जनता को यह पता चल गया कि सरकार उनकी दिलजोई कर रही है तो निश्चय ही गांधीजी के प्रभाव में शत-प्रतिशत वृद्धि हो जाएगी।"

गांधीजी के बारे में वाइसराय का यह ख्याल कि वह कूटनीति-प्रवण हैं, कांग्रेस को एक हथियार की तरह इस्तेमाल करते हैं और वाइसराय से भेंट की तिकड़म चलकर भारत के अज्ञ-जनों पर अपना प्रभाव बढ़ाना चाहते हैं, महात्माजी के व्यक्तित्त्व और सिद्धांतों एवं भारतीय जनता के संबंध में उनके घोर अज्ञान का ही परिचायक है। सर सेम्युअल होर ने अपनी पुस्तक (नाइन ट्रबल्ड ईयर्स) में बिलकुल ठीक ही लिखा था कि "यह आलोचना तो मुझे करनी ही होगी कि गांधीजी के व्यक्तित्त्व को, जितना लार्ड इर्विन समझते थे उतना लार्ड विलिंगडन नहीं समझ पाए और इसीलिए वह उनकी (गांधीजी की) शक्ति और प्रभाव को हमेशा कम करके आँकते रहे ।" लार्ड विलिंगडन एक योग्य और अनुभवी प्रशासक रह चुके थे, लेकिन भारत के वाइसराय के नाते वह गुण ही उनका घोर दुर्गुण और अक्षमता बन गया। भारतीय समस्या को उन्होंने केवल प्रशासकीय स्तर पर ही देखने-समझने की कोशिश की, जिसका एकमात्र हल उनके निकट उपद्रवकारियों को निर्ममता से कुचल देने का था। भारत के स्वाधीनता-आंदोलन के बौद्धिक और भावनात्मक स्वरूप को समझने में अपनी असमर्थता के कारण आज़ादी के देश-व्यापी जोश को

उन्होंने अविवेकपूर्ण हठवादिता समझने की भूल की। भारतवासियों के राष्ट्र-प्रेम के मूल तत्त्वों को वह कभी नहीं समझ पाए, इसलिए गांधीजी के व्यक्तित्व को समझने में भी असमर्थ रहे। यह बात उनकी समझ में ही नहीं आ पाती थी कि सविनय अवज्ञा गांधीजी के उस सत्याग्रह की एक शैली थी, जिसकी उद्देश्य अहिंसात्मक जन-आंदोलन के द्वारा देश में राजनैतिक ही नहीं, सामाजिक परिवर्तन लाना भी था और इस आंदोलन में विरोध तो था, पर बदले की भावना नहीं थी, असहयोग तो था, पर घृणा नहीं थी। जहाँ गांधीजी के निकट आंदोलन का अहिंसात्मक स्वरूप ही सबसे महत्त्वपूर्ण था, वहीं लार्ड विलिंगडन को गांधीजी और उनके अनुयायियों की इस सजग नैतिक श्रेष्ठता से झुंझलाहट तो होती ही थी, न्याय और व्यवस्था बनाए रखने के लिए ज़िम्मेदार व्यक्तियों के प्रति व्यापक तिरस्कार अहिंसात्मक आंदोलन को निंदनीय मक्कारी का रूप भी दे देता था।

ब्रिटिश राजनीतिज्ञों के बद्धमूल संस्कारों, पूर्वाग्रहों और पक्षपातपूर्ण आचरण से गांधीजी को अक्सर बड़ी निराशा होती थी। अंग्रेज़ों के कृत्यों की आलोचना करने पर गांधीजी को अवसरवादी और लोगों को उकसानेवाला कहा जाता था। अंग्रेज़ों की मैत्री का दावा करने पर उन्हें दंभी और फरेबी कहा जाता था। जब वह वाइसराय से भेंट की इच्छा प्रकट करते तो उनपर सरकार को चालाकी से पछाड़ने के इरादे का दोषारोपण किया जाता। आंदोलन शुरू करने पर उन्हें 'दुर्दम शत्रु' की उपाधि दे दी जाती। अगर वह आंदोलन के क्षेत्र को सीमित कर देते या आंदोलन बंद कर देते तो यह शोर मचाया जाता कि अनुयायियों पर उनका असर ही नहीं रहा।

सत्याग्रह का एक उद्देश्य अंग्रेज़ों के पूर्वाग्रहों की इस दीवार को ढहाना भी था। जब तर्क और युक्तियाँ निष्फल हो जातीं तो विरोधी के हाथों स्वेच्छा से कष्ट-सहन करके उसके हृदय को विगलित करने का प्रयत्न किया जाता, जिससे दो दिलों को आपस में मिलने से रोकनेवाली बाधाएं टूट जाएं। प्रेम के 'अतिक्रमण' की यह पद्धति व्यवहार में न तो उतनी सरल थी और न हमेशा त्वरित फल देनेवाली ही। जब अंग्रेज़ों के नैतिक आडंबर का भंडा फूटने लगता तो वे और भी हेकड़ और निर्लज्ज हो जाते। फिर भी सविनय अवज्ञा आंदोलन का इतना परिणाम तो अवश्य ही हुआ कि एक ओर तो उसने डेढ़सौ वर्षों की दासता से दबी-डरी जनता को निर्भय-निडर कर उसमें राष्ट्रीयता की भावना भर दी, दूसरी ओर अपनी कठोरता-कट्टरता के प्रति अंग्रेज़ अफसरों

के मन में संदेह जगा-जगाकर उनके आरंभिक उत्साह को काफी शिथिल कर दिया। अंग्रेज़ अधिकारियों के लिए भारत-जैसे विशाल देश का शासन शांति-काल में भी कोई सरल काम नहीं था, जब यहाँ के बुद्धिजीवी और सारा मध्यम वर्ग एकदम विरोधी हो गया तो भारत पर शासन करना उनके लिए लगभग असंभव ही हो गया।

लेकिन अब घटनाओं का रुख बदलने जा रहा था। 1932 के अगस्त महीने के आते-आते लार्ड विलिंगडन और उनका सलाहकारी मंडल सोचने लगा था कि सरकार के वार सहते-सहते सविनय अवज्ञा आंदोलन धराशायी हो गया। उधर गांधीजी ने जेल में अछूतों के लिए पृथक् निर्वाचन का सिद्धांत स्वीकार कर लिए जाने के विरोध में उपवास आरंभ कर दिया। इससे सारे देश में तहलका मच गया और जनता में उत्साह का जो ज्वार आया, वह राजनैतिक आंदोलन की मुख्य धारा में प्रवाहित होने के बदले दूसरी-दूसरी धाराओं में विभक्त हो गया।

---

1. संयुक्त प्रांत और सीमा प्रांत।

2. गांधीजी ने 29 दिसंबर को एक तार वाइसराय को भेजा था। 31 दिसंबर को उनके प्राइवेट सेक्रेटरी ने उसका कुछ लंबा जवाब दिया तब गांधीजी ने 1 जनवरी, 1932 को काफी लंबा तार वाइसराय के प्राइवेट सेक्रेटरी को दिया, जिसका 2 जनवरी को प्राइवेट सेक्रेटरी ने धमकी भरा उत्तर दिया।

—अनुवादक

३१. हरिजनोद्धार

13 सितंबर, 1932 को सारे भारत के अखबारों में यह सनसनीखेज खबर छपी कि यरवदा-जैल में बंद महात्मा गांधी ने दलित जातियों को नए विधान में पृथक् निर्वाचन का अधिकार दिए जाने के विरोध में 20 सितंबर से आमरण अनशन का फैसला कर लिया है। देश पर गाज-सी गिरी और सब स्तब्ध रह गए। लेकिन इस विषय पर ब्रिटिश मंत्रिमंडल से गांधीजी के पत्र-व्यवहार को देखने से पता चलता है कि संकट आकस्मिक रूप से नहीं टूट गिरा था, वह धीरे-धीरे रूप ग्रहण करता जा रहा था, जिसकी जानकारी जनता को नहीं थी।

अपनी गिरफ्तारी के दो महीने बाद, मार्च 1932 में गांधीजी ने नए विधान में जन-प्रतिनिधियों की संख्या और उनकी चुनाव-पद्धति का निर्धारण करनेवाले सांप्रदायिक निर्णय (कम्यूनल अवार्ड) के बारे में उपनिवेश मंत्री को पत्र लिखते हुए यह तर्क प्रस्तुत किया था कि पृथक् निर्वाचन का अधिकार हिन्दू जाति का अंग-भंग और विच्छेद करनेवाला तो है ही, वह दलित जातियों के लिए भी हानिकारक है। अपने प्राणों की बाज़ी लगाकर पृथक् निर्वाचन का विरोध करने की बात गांधीजी गोलमेज परिषद् में कह ही चुके थे। उसकी याद दिलाते हुए उपर्युक्त पत्र में उन्होंने सर सेम्युअल होर को यह भी लिख दिया कि “मैंने वह बात क्षणिक जोश में आकर या अपने वक्तृत्व नहीं, मेरे अस्तित्व का ही अंग है।”

17 अगस्त, 1932 को सांप्रदायिक निर्णय प्रकाशित हुआ तो गांधीजी बहुत अधिक चिन्तित हो गए। दलित जातियों को आम (हिन्दू) निर्वाचन क्षेत्र में मतदान का अधिकार देने के साथ-ही-साथ अपने पृथक् निर्वाचन क्षेत्र में भी मत देने का अधिकार दिया गया था। इसका साफ मतलब यह था कि उनके लिए पृथक् निर्वाचन-क्षेत्र भी बनाए जाएंगे और उन्हें दुहरा मताधिकार होगा। गांधीजी ने ब्रिटिश प्रधानमंत्री रेम्ज़े मेक्डोनल्ड को तुरंत पत्र लिखकर इसके विरोधी में आमरण अनशन करने के अपने निर्णय की सूचना दी और यह भी लिख दिया कि “यदि ब्रिटिश सरकार अपनी इच्छा से या जनमत के दबाब से दलित जातियों के पृथक् निर्वाचन की योजना को वापस ले लेगी तभी अनशन चालू रहेगा।" तीन सप्ताह बाद मेक्डोनल्ड साहब ने जो जवाब दिया, उसमें गांधीजी के इस रवैये पर ‘सख्त अपसोस’ और ‘बड़ा आश्चर्य’ प्रकट किया गया था। उन्होंने

लिखा था कि सरकार ने तो अपने इस निर्णय के द्वारा सभी जातियों के दावों के साथ उचित न्याय करने की ही कोशिश की थी और अगर भारत की सभी जातियाँ चुनाव के बारे में किसी सर्वसम्मत निर्णय पर पहुँच सकें तो सरकार अपने इस फैसले को ज़रूर बदल देगी। उन्होंने गांधीजी के उपवास को अनुचित और अन्यायपूर्ण बताते हुए उनके उद्देश्यों में गहरी शंका व्यक्त की और उन्हें दलित जातियों के प्रति शत्रुता का भाव रखनेवाला व्यक्ति बताया—"मेरी राय में आप दलित जातियों को हिन्दुओं के साथ संयुकत चुनाव का अधिकार दिलाने के लिए आमरण अनशन नहीं कर रहे हैं, क्योंकि उसका प्रावधान तो पहले ही कर दिया गया है, न आप हिन्दुओं की एकता के लिए अनशन कर रहे हैं, क्योंकि उसका प्रावधान भी किया जा चुका है। आप तो आज भी बहुत ही ज्यादा अक्षम दलित जातियों को, उनके भविष्य को पूरी तरह प्रभावित करनेवाली विधि-परिषदों में, कुछ थोड़े-से ऐसे प्रतिनिधियों का, जो उनकी आवाज़ को बुलंद कर सकें, अपनी इच्छा से चुनाव कर सकने से रोकने के ही लिए यह अनशन कर रहे हैं।"

ब्रिटिश प्रधानमंत्री की आघात पहुँचानेवाली इस बात से सिर्फ यही साबित होता है कि समस्या के प्रति गांधीजी के धार्मिक और आध्यात्मिक दृष्टिकोण का उन्हें और उनके सलाहकार-मंडल को लेशमात्र भी ज्ञान नहीं था। आरंभ में उन्होंने यही समझा कि गांधीजी का उपवास एक निरी राजनैतिक चाल थी, जिसके द्वारा सविनय अवज्ञा के पराभव से उनकी जिस प्रतिष्ठा को धक्का लगा था, उसे फिर से सँवारने की कोशिश कर रहे थे। लेकिन वास्तव में बात ऐसी नहीं थी। दलित जातियों की हित-संवर्द्धना में गांधीजी की रुचि ठेठ उनके बचपन से चली आती थी और वह उनके गहनतम मानवतावाद का ही परिणाम थी। उसे तत्कालिक या अस्थायी समझना गलत ही नहीं, उस महात्मा के साथ अन्याय भी था। अस्पृश्यता से उनका पहला वास्ता अपने घर में ही पड़ा था। उनके वैष्णव परिवार में और खासतौर पर माता के परंपरागत संस्कारों के कारण घर के भंगी उका को छने या अछूत बालकों के साथ खेलने की सख्त मनाही थी। गांधीजी आज्ञाकारी बालक थे, लेकिन उन्हें इस तरह मना किए जाने पर गुस्सा भी आता था। रामायण की केवट और शबरी की कथाओं से इस अस्पृश्यता का ज़रा भी मेल नहीं खाता था। उम्र के साथ अछूतों के प्रति उनकी भ्रातृ-भावना का विकास भी होता गया। दक्षिण अफ्रीका में तो सभी वर्णों और जातियों

तथा संप्रदायों के लोगों ने उनके साथ कंधे-से-कंधा भिड़ाकर काम किया था और साबरमती-आश्रम का तो अस्तित्व ही एक हरिजन-परिवार को आश्रमवासी बनाने से खतरे में पड़ गया था। अहमदाबाद में धनाधीशों ने नाराज़ होकर आर्थिक सहायता देना बंद कर दिया था। गांधीजी अपने साथियों-सहयोगियों के साथ हरिजन-बस्ती में जाकर रहने की बात सोच ही रहे थे कि ऐन वक्त पर एक अज्ञात व्यक्ति के गुप्तदान ने आश्रम को बंद होने से बचा लिया था। असहयोग-आंदोलन के रचनात्मक कार्यक्रमों में उन्होंने अस्पृश्यता-निवारण को भी रखा था। 1928-29 में उन्होंने जो देशव्यापी दौरे किए, उनमें अछूतोद्धार उनके भाषणों का मुख्य विषय रहा करता था। गोलमेज परिषद् में अछूतों के प्रतिनिधियों को सांप्रदायिक और प्रतिक्रियावादी तत्त्वों के हाथ का खिलौना बनते देख उन्हें मर्मांतक पीड़ा होती थी। इस प्रश्न पर उनकी भावनाओं का पता उस भाषण से चलता है, जो उन्होंने अल्पसंख्यक समिति की बैठक में 13 नवंबर, 1931 को दिया था—"मेरा तो दावा है कि मैं भारत के बहुसंख्यक अछूतों का भी प्रतिनिधि हूँ। मैं यहाँ सिर्फ कांग्रेस के ही नहीं, अपने बारे में भी कह रहा हूँ और इस बात का दावा करता हूँ कि यदि अछूतों के मत लिए जाएं तो उनके भी सबसे ज्यादा मत मुझी को मिलेंगे। हम नहीं चाहते कि अछूतों का एक पृथक् जाति के रूप में वर्गीकरण किया जाए। सिक्ख हमेशा के लिए सिक्ख, मुसलमान हमेशा के लिए मुसलमान और ईसाई हमेशा के लिए ईसाई रह सकते हैं। लेकिन क्या अछूत भी सदा के लिए अछूत रहेंगे ?"

ब्रिटिश मंत्रिमंडल जिस प्रकार इस प्रश्न पर गांधीजी की भावनाओं को समझने में असफल रहा, उसी प्रकार इस समस्या के निराकरण के लिए उनके उपवास के महत्त्व और उसकी उपयोगिता को समझने में भी असमर्थ रहा। वे लोग इसे केवल राजनैतिक समस्या समझते रहे, इसीलिए गांधीजी के दृष्टिकोण को हृदयंगम नहीं कर सके। उपवास को उन्होंने उत्पीड़न और एक तरह की धमकी ही समझा। गांधीजी के उपवास की घोषणा पर अंग्रेज़-जाति की उस समय की प्रतिक्रिया को सुप्रसिद्ध अंग्रेज़ व्यंग्य-चित्रकार लो ने '1933 की भविष्यवाणी' नामक अपने व्यंग्य-चित्र में बड़ी सफलता से चित्रित किया था। उक्त व्यंग्य चित्र में लार्ड विलिंगडन को 10, डाउनिंग स्ट्रीट (ब्रिटिश प्रधानमंत्री का निवासस्थान) के आदेश पर "गांधीजी को इस बात के

लिए विवश करने को कि वह नए विधान को स्पृश्य (सवर्ण) मानकर स्वीकार कर लें," अनशन करते हुए दिखलाया गया था। गांधीजी के मनोभावों और दृष्टिकोण को सी. एफ. एंड्रूज से अधिक तो दूसरा कोई अंग्रेज़ समझ नहीं सकता था। लेकिन उन्हें भी बरमिंघम से (12 मार्च, 1933 को) यह लिखना पड़ा—"यहाँ के लोग आमरण अनशन को कितना बुरा समझते और घृणा करते हैं, उसका आपको अंदाज़ भी नहीं हो सकता। उसे उचित और न्यायसंगत सिद्ध करने में मुझे जो कठिनाई हो रही है, उसे मैं ही जानता हूँ।"

लेकिन अपनी आत्मा, या उन्हीं के शब्दों में कहें तो अपने परमात्मा के अतिरिक्त किसी के भी समक्ष अपने उपवास का औचित्य सिद्ध करने की गांधीजी को ज़रा भी चिंता नहीं थी। उपवास का उनके आत्मानुशासन में एक निश्चित और निर्धारित स्थान था। कई बार अपनी मनोव्यथा से निस्तार पाने का वही एकमात्र उपाय उनके सामने हुआ करता था। लेकिन गहन हृदय-मंथन और आत्मपरीक्षण के बिना उस उपाय का अवलंबन नहीं किया जा सकता था। जबतक 'अंतरात्मा की आवाज़' स्पष्ट स्वर में आदेश न देती, वह उपवास आरंभ नहीं करते थे। लेकिन क्या अंतरात्मा की आवाज़ सुनने में भूल नहीं हो सकती थी ? क्या अंतरात्मा के बदले उनका अहंकार ही नहीं बोल रहा होता था ? गांधीजी ने कभी इनकार नहीं किया। अंतरात्मा की आवाज़ सुनने में उनसे गलती हो सकती थी। वह उनका अहंकार भी हो सकता था, "लेकिन तब तो अनशन करके मेरा मर जाना ही उचित होता, मुझ जैसे अहंकारी के जाल में फँसे लोगों का छुटकारा हो जाता।"

क्या उपवास उत्पीड़न और ज्यादती नहीं ? गांधीजी इस बात को जानते थे कि उनका उपवास लोगों पर नैतिक दबाव की तरह काम करता है। लेकिन अपने से असहमत होनेवालों पर वे इसे कभी नहीं आजमाते थे; इसका प्रयोजन होता था अपने स्नेहियों और विश्वास-भाजनों की आत्मा को जगाने और आत्मपीड़न के माध्यम से अपनी असह्य मनोव्यथा का उन्हें भान कराने के ही लिए। अपने आलोचकों से उन्होंने कभी यह आशा नहीं की कि उपवास आदि पर उन लोगों की वही प्रतिक्रिया हो, जो उनके मित्रों, सहयोगियों, साथियों और समर्थकों की होती है। लेकिन उनके आत्मदंड से अगर विरोधियों और आलोचकों को उनकी ईमानदारी में विश्वास हो सकता

तो वह अपने प्रयोजन को बहुत अंशों में पूरा हुआ मान लेते थे। अस्पृश्यता के प्रश्न पर गांधीजी के उपवास ने लोगों की तर्क बुद्धि को नहीं, भावनाओं को झकझोरा, और यही गांधीजी चाहते भी थे। समस्या का समाधान लोगों की तर्कबुद्धि को कुरेदकर नहीं, उनकी भावनाओं को—जड़ आत्मा को—जगाकर ही किया जा सकता था। सदियों से सामाजिक विषमता को प्रश्रय देती आ रही बौद्धिक जड़ता, कुसंस्कार और पूर्वाग्रहों को किसी भी तर्क से परास्त नहीं किया जा सकता। केवल लोगों की भावनाओं को जगाकर ही इस बुराई को मिटाया जा सकता था।

गांधीजी के उपवास की खबर ने सारे देश को हिला दिया। 20 सितंबर, के दिन 11 बजे सबेरे गरम पानी में शहद के साथ नीबू का रस लेकर इसके एक घंटे के बाद गांधीजी ने उपवास शुरू किया और वह दिन सारे देश में उपवास और प्रार्थना-दिवस के रूप में मनाया गया। शांतिनिकेतन में कवीन्द्र रवीन्द्र ने काले वस्त्र पहनकर एक विशाल सभा में गांधीजी के उपवास के महत्त्व पर प्रकाश डाला और श्रोताओं को कमर कसकर अस्पृश्यता-निवारण के काम में जुट जाने को उद्बोधित किया ।[1] दलित जातियों के प्रति स्नेह और सहानुभूति का जैसे देश में ज्वार ही आ गया। अछूतों के लिए मंदिर, कुएं और अन्य सार्वजनिक स्थान धड़ाधड़ खोले जाने लगे। ब्रिटिश सरकार के सांप्रदायिक निर्णय से भिन्न कोई दूसरी निर्वाचन व्यवस्था खोज निकालने के लिए सवर्ण हिन्दुओं और दलित जातियों के नेताओं का एक संयुक्त सम्मेलन भी तत्काल आयोजित किया गया।

समय तेज़ी से बीतने लगा। सरकार गांधीजी को जेल से रिहाकर पूना में ही किसी के मकान में थोड़े-से प्रतिबंधों के साथ रखने को राज़ी थी, लेकिन गांधीजी जेल में ही रहकर उपवास करने के पक्ष में थे। सवर्ण और अछूत नेताओं का सम्मेलन बंबई में हो रहा था।[2] उसमें भाग लेनेवाले पं. मदनमोहन मालवीय, तेज बहादुर सप्रू, एम. आर. जयकर, चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य, एन. सी. केलकर, राजेन्द्रप्रसाद और मुंजे आदि नेता समझौते का कोई मार्ग जल्दी-से-जल्दी खोज निकालना चाहते थे। लेकिन सब-कुछ दलित जाति के नेताओं के और खासतौर पर डॉ. अंबेडकर के हाथ में था। वे पृथक् निर्वाचन के दृढ़ समर्थक तो थे ही, अपनी केन्द्रीय स्थिति के कारण यह भी जानते थे कि सम्मेलन की सफलता-असफलता का सारा दारोमदार भी उन्हींपर है। उनके

समर्थन और स्वीकृति के बिना कोई भी तजवीज सरकार के सामने पेश नहीं की जा सकती थी। उघर गांधीजी का स्वास्थ्य दिनोंदिन गिरता जा रहा था, इधर अंबेडकर हर कदम पर अड़ते जा रहे थे और पूरी सौदेबाज़ी पर तुले हुए थे। आखिर बहुत खींच-तान के बाद जो समझौता हुआ, वह इतिहास में पूना-निर्णय (पूना पैक्ट) के नाम से प्रसिद्ध है। प्रांतीय कौंसिलों और केन्द्रीय कौंसिल में स्थान सुरक्षित करके दलित जाति के प्रतिनिधियों की संख्या सांप्रदायिक निर्णय में निर्धारित संख्या से दूनी कर दी गई, और निर्वाचन-प्रणाली में भी परिवर्तन किया गया—प्रत्येक सुरक्षित स्थान के लिए दलित जातियों के मतदाता प्राथमिक चुनाव करके चार प्रतिनिधि चुनेंगे और उनमें से दलित वर्ग का एक प्रतिनिधि सवर्णों और दलितों के संयुक्त निर्वाचन द्वारा चुना जाएगा। सुरक्षित स्थानों द्वारा दलित वर्ग का प्रतिनिधित्व तबतक ज़ारी रहेगा जबतक दोनों पक्ष आपसी समझौते से उसे समाप्त नहीं कर देंगे, लेकिन प्राथमिक निर्वाचन की पद्धति दस वर्ष बाद समाप्त हो जाएगी। संक्षेप में ये थी पूना-पैक्ट की सिफारिशें।

सवर्णों और दलित वर्गों में तो समझौता हो गया, लेकिन जबतक सरकार उसे स्वीकार न कर ले गांधीजी अपना उपवास तोड़ने को तैयार न थे। ब्रिटिश प्रधानमंत्री अपनी चाची की अंत्येष्टि में भाग लेने के लिए ससेक्स गए हुए थे। वहाँ से तुरंत भागकर लंदन आए। उपनिवेश-मंत्री सर सेम्युअल होर और गोलमेज परिषद् की मताधिकार समिति के अध्यक्ष लार्ड लोदियन से उन्होंने विचार-विनिमय किया और अंत में ब्रिटिश मंत्रिमंडल ने पूना-पैक्ट पर अपनी स्वीकृति की मुहर लगा दी। तब कहीं जाकर गांधीजी ने अपना उपवास तोड़ा।

लोगों की चिन्ता मिटी और देश ने सुख की साँस ली। लेकिन स्वयं गांधीजी के निकट अपने प्राणों का कोई मूल्य नहीं था। उन्हें अपने भौतिक प्राणों से अधिक लाखों लोगों के नैतिक प्राणों की फिक्र थी। इसलिए उपवास समाप्त करते समय ही उन्होंने यह भी कह दिया कि "यदि उचित समय के भीतर अस्पृश्यता-निवारण-संबंधी सुधार नेकनीयती से नहीं किया गया तो मुझे निश्चय ही नए सिरे से उपवास करना पड़ेगा।" पूना के समझौते के संबंध में उन्होंने अपने हरिजन मित्रों को (गांधीजी के ही शब्दों में, "मैं आगे से उन्हें इसी नाम से पुकारना चाहूँगा") यह विश्वास दिलाया कि "उसका पालन किए जाने के लिए आप मेरे प्राणों को बंधक मानिए ।"[3]

पूना पैक्ट के द्वारा दलित जातियों के प्रतिनिधित्व की एक प्रकार की चुनाव-योजना के स्थान पर दूसरे प्रकार की चुनाव-योजना को स्वीकार किया गया। फिर भी गांधीजी के उपवास का इतना शुभ परिणाम हुआ ही कि दलित जातियों के लिए ज़ारी किया गया पृथक् निर्वाचन रद्द हो गया। यदि पृथक् निर्वाचन जारी रहता तो आनेवाले वर्षों में उससे भारतीय समाज को जो क्षति पहुँचती और हिन्दू जाति का जिस तरह अंग-भंग और विच्छेद हो जाता, उसकी कल्पना भी भयावह है। अच्छा हुआ कि राजनैतिक जीवन को तोड़ने-फोड़नेवाली यह राष्ट्रीय बुराई उसी समय समाप्त कर दी गई। लेकिन इस समस्या के राजनैतिक और संवैधानिक पक्ष से भी अधिक महत्त्वपूर्ण था इसका सामाजिक और भावनात्मक पक्ष। दलित वर्गों के प्रतिनिधित्व की नई चुनाव-योजना तो अगले चार-साढ़े चार वर्ष तक कार्यान्वित न हो सकी, परंतु सामाजिक स्तर पर अस्पृश्यता-निवारण का क्रांतिकारी कार्य तुरंत और तेज़ी से आरंभ हो गया। उपवास ने सारे हिन्दू समाज का 'आत्मिक शुद्धिकरण' कर दिया था। गांधीजी ने तो कहा भी था कि उनके उस उपवास का प्रधान उद्देश्य “हिन्दू अंतःकरण में ठीक-ठीक धार्मिक कार्यशीलता उत्पन्न करना था।”

इस प्रकार इतिहास के सबसे बड़े समाज-सुधार-आंदोलन का सूत्रपात एक राजबंदी के हाथों हुआ। गांधीजी जानते थे कि सदियों पुराने सामाजिक अत्याचार को यूँही चुटकी बजाते मिटाया नहीं जा सकता। उपवास का जो शुभ परिणाम हुआ था, उसे ठोस काम और प्रचार-प्रसार के द्वारा स्थायित्व देना और पराकाष्ठा तक ले जाना था, अतएव गांधीजी की प्रेरणा से घनश्यामदास बिड़ला के सभापतित्व में हरिजनोद्धार के लिए एक अखिल भारतीय संगठन[4] बनाया गया और ठक्करबापा उसके मंत्री नियुक्त हुए। जेल से ही गांधीजी ने अनेक प्रेस-वक्तव्यों और अगणित पत्रों के द्वारा अपने सहयोगियों और अनुयायियों को हरिजनोद्धार के पवित्र काम में जुट जाने का आह्वान किया। उन्होंने कहा कि इस संबंध में लोक-शिक्षण और लोक-संग्रह का कार्य निष्ठापूर्वक होना चाहिए। “स्वतंत्रता का संदेश हरेक हरिजन के घर में पहुँचना चाहिए और यह तभी हो सकता है जब सुधार हर एक गाँव में किया जाए।“ हरिजन-सेवा और हरिजनोद्धार के आंदोलन को गति देने के लिए उन्होंने अपने अंग्रेज़ी साप्ताहिक 'यंग इंडिया' के स्थान पर 'हरिजन' आरंभ किया और 'हरिजन सेवक' के नाम से उसका हिन्दी संस्करण भी निकाला। वह

तो शब्द-कोश से 'अछूत', 'अस्पृश्य', अंत्यज' आदि अपमानजनक शब्दों को ही निकाल देने के पक्ष में थे। इसीलिए उन्होंने दलित वर्गों का नया नामकरण हरिजन—हरि के प्यारे जन—किया। “दुनिया के सभी धर्मों में ईश्वर को मित्रविहीनों का मित्र, बेसहारों का सहारा और दुर्बलों का रक्षक कहा गया है। भारत के अछूत कहे जानेवाले चार करोड़ हिन्दुओं से अधिक मित्र-विहीन, बेसहारा और दुर्बल कौन हो सकता है ?”

हरिजन-सेवा का कार्य शुरू करने के बाद ही गांधीजी को समस्या की जटिलता, कार्य की गुरुता और मार्ग में आनेवाली अपार बाधाओं का वास्तविक ज्ञान हुआ। युग-युगांत से चली आती इस बुराई को कैसे मिटाया जाए ? अंत में अपने प्रभु से मार्ग-दर्शन पाने और कार्यकर्ताओं को अपना पवित्रता, सेवाभाव और अधिक नेकनीयती के साथ करने में सहायता देने के लिए गांधीजी ने 8 मई, 1933 को आत्मशुद्धि के निमित्त 21 दिन का उपवास आरंभ किया। सविनय अवज्ञा आंदोलन तो उनकी रिहाई के तत्काल बाद ही उनकी सलाह से छ: सप्ताह के लिए स्थगित कर दिया गया था। थोडी-सी शक्ति आते ही उन्होंने “शांति-स्थापना की संभावनाओं का पता लगाने के लिए" तार द्वारा वाइसराय से मिलने की अनुमति माँगी। लार्ड विलिंगडन ने विनम्रतापूर्वक उनकी इस माँग को ठुकरा दिया। 1 अगस्त को गांधीजी पुनः गिरफ्तार कर यरवदा-जेल भेज दिए गए। तीन दिन बाद वह रिहा कर दिए गए, लेकिन उन्हें पूना शहर की सीमा से बाहर जाने की अनुमति नहीं दी गई। इस निषेध-आज्ञा का भंग करने पर वह पुनः गिरफ्तार कर लिए गए। इस बार उनपर मुकदमा चला और एक साल की सज़ा दी गई। जेल में उन्हें हरिजन-कार्य, जो अब देशव्यापी पैमाने पर एक आंदोलन के रूप में चल रहा था, करने की सुविधाएं नहीं दी गई। उन्होंने इसके विरोध में 16 अगस्त से पुनः उपदास आरंभ किया। पिछले उपवासों से कमज़ोर तो वह हो ही रहे थे, उनका स्वास्थ्य तेज़ी से गिरने लगा। सरकार घबराई और उन्हें रिहा कर दिया।

अब गांधीजी ने अपने को बड़ी ही विषम स्थिति में फँसा हुआ पाया। अगर गिरफ्तार होते हैं तो जेल में हरिजन-कार्य करने की सुविधा नहीं देती। अगर विरोध में उपवास करते हैं तो सरकार रिहा कर देती है। 'बिल्ली-चूहे का यह खेल' उनके स्वभाव के प्रतिकूल था। इसलिए उन्होंने यह

घोषणा की कि जबतक एक साल की सज़ा की मियाद पूरी नहीं हो जाएगी, वह सविनय अवज्ञा आंदोलन में भाग लेकर सत्याग्रह नहीं करेंगे।

इस प्रकार अपने राजनैतिक कार्यों पर स्वेच्छा से प्रतिबंध लगाकर गांधीजी ने पूरा समय और पूरी शक्ति हरिजनोत्थान के कार्य में लगा दी। 1933 के सितंबर महीने में वह वर्धा चले आए और साबरमती-आश्रम उन्होंने 'हरिजन सेवक संघ' को दान कर दिया। 7 नवंबर को उन्होंने हरिजनोत्थान-कार्य के संबंध में सारे देश का दौरा शुरू किया। 9 महीनों में उन्होंने कुल मिलाकर साढ़े बारह हज़ार मील की यात्रा की सज़ा इस यात्रा के दौरान वह देश के ऐसे अंदरूनी और अगम्य भागों में भी गए जहाँ अभी तक कोई नेता या सार्वजनिक कार्यकर्ता पहुँच नहीं पाया था। उन्होंने सवर्ण हिन्दुओं से हरिजनों के संबंध में अपने सारे पूर्वाग्रहों को छोड़ने का अनुरोध किया। हरिजनों को उन्होंने सलाह दी कि वे मांस खाना, शराब पीना और दूसरी सारी कुरीतियाँ छोड़ दें। उन्होंने लोगों को समझाया कि हरिजनों को भी मंदिर में जाने की इजाज़त मिलनी चाहिए—"माना कि मंदिर पापियों के लिए हैं, हरि के प्यारों और पवित्रात्माओं के लिए नहीं; पर यह फैसला कौन करे कि हममें कौन पवित्रात्मा है और कौन पापी ?" जन्म से छूत-अछूत और छाया से भी छूत माननेवालों की उन्होंने हर जगह निन्दा की—जन्म से ही किसी का शरीर अछूत कैसे हो सकता है ? किसी की छाया से छूत कैसे लग सकती है ? एक गाँव में उनसे कहा गया कि हरिजन स्नान नहीं करते तो उन्होंने वहीं बोलनेवाले का मुँह पकड़ लिया—"नहाने से क्या होता है ? भैंसे तो दिन-भर पानी में ही पड़ी रहती हैं।"

हर क्षण वह हरिजन-फंड के लिए धन-संग्रह करने में लगे रहते, कोई अवसर हाथ से न जाने देते थे। इस महीने में उन्होंने आठ लाख रुपया इकट्ठा कर लिया था। अगर चाहते तो इतनी रकम किसी एक ही महाराजा, मिल-मालिक अथवा करोड़पति से ले सकते थे। लेकिन महत्त्व पैसे का नहीं, हरिजन-कार्य में ज्यादा-से-ज्यादा लोगों के सक्रिय सहयोग का था। उनके भिक्षा-पात्र में पाई-पैसा और अठन्नी-चवन्नी डालनेवाले लाखों-करोड़ों स्त्री-पुरुष और बच्चे अस्पृश्यता-निवारण-आंदोलन में उनके सहायक और समर्थक बन जाते थे। हर अवसर का उपयोग वह अपने निराले ढंग से जनता को शिक्षा देने में कर लेते थे। मलाबार (अब केरल) में, जिसे वह भारत के

लिए अस्पृश्यता का कलंक कहा करते थे, जब एक लड़की ने अपनी सोने की चूड़ियाँ हरिजन-फंड में दे दीं तो उन्होंने उससे कहा था—"तुम्हारा सच्चा आभूषण तो यह त्याग है, वह गहना नहीं, जो तुमने दे दिया ।" वे महिलाओं से भाव-मोल करते—"मेरे हस्ताक्षरों की कीमत सिर्फ एक चूड़ी ?" आंध्र प्रदेश के तेलुगुभाषियों को मुक्त हस्त से दान न करते देख उन्होंने उलहना दिया था—"आंध्रवासी स्काटलैंड के निवासियों की तरह कंजूस तो नहीं हैं !" हाथ देखने के इच्छुक एक ज्योतिषी को उन्होंने यह कहकर फटकार दिया—"मैं हरिजन-कार्यकर्ता हूँ। मेरा समय फालतू नहीं।" गाँव के एक डॉक्टर से उन्होंने पूछा था—"आपके पास अस्पृश्यता का भी कोई इलाज है?"

लेकिन इससे यह धारणा बना लेना कि गांधीजी को अपने हरिजन दौरे में सर्वत्र सफलता मिली, सही नहीं होगा । वह परंपरागत अत्याचार पर आघात कर रहे थे, इसलिए निहित स्वार्थों का बौखलाकर प्रत्याघात करना स्वाभाविक ही था। सनातनियों ने गांधीजी का विरोध करने में कोई कसर बाकी न छोड़ी। उन्होंने गांधीजी को धर्म का द्रोह करनेवाला, नास्तिक, पाखंडी, पापी, भ्रष्ट और क्या नहीं कहा। उन्होंने गांधीजी को काले झंडे दिखाए; उन्होंने उनकी सभाओं में विघ्न डाला और शोर मचाकर उन्हें बोलने से रोका। ये थोड़े-से सिरफिरों या उत्तेजित लोगों का हंगामा नहीं, अहिंसा के पुजारी को बदनाम और असफल करने की सुविचारित योजनाएं थीं। वे चाहते थे कि गांधीजी के अनुयायी किसी तरह उकसावे में आकर हाथ छोड़ बैठें या पुलिस को ही बुला लें और उन्हें गांधीजी की अहिंसा का पर्दाफाश करने का मनचाहा अवसर मिल जाए। 1934 के मई महीने में वह पुरी पहुँचे और वहाँ से उन्होंने उड़ीसा का शेष दौरा पैदल ही करने का निश्चय किया। लोगों ने कहा कि इस तरह तो आप बहुत थोड़े गाँवों में जा सकेंगे तो उन्होंने जवाब दिया था कि थोड़े ही सही, परंतु उन्हें ज्यादा अच्छी तरह देख और जान सकूँगा। इससे दो लाभ हुए—एक तो रेल-मोटर के भीड़-भड़क्के और शोरगुल से उन्हें मुक्ति मिल गई, दूसरे, उन्होंने अपने को पूरी तरह विरोधियों के हाथ सौंप दिया—यह था विरोधियों को परास्त करने का उनका अपना ढंग।

25 जून, 1934 को गांधीजी बाल-बाल बचे। वह अपने दलसहित पूना म्युनिसिपैलिटी का मानपत्र ग्रहण करने के लिए दो मोटरकारों से म्युनिसिपल हॉल की ओर जा रहे थे। एक व्यक्ति ने, जिसका पता अंत तक नहीं लग सका, उनके दल के लोगों पर बम फेंका। गांधीजी तो बच गए, लेकिन म्युनिसिपल अधिकारी सहित सात लोगों को गहरी चोटें आईं। गांधीजी ने उस 'बेचारे' बम फेंकनेवाले पर 'रहम खाते' हुए कहा था—"शहीद होने की मेरी ज़रा भी इच्छा नहीं है, लेकिन अपने विश्वास की रक्षा और कर्तव्य का पालन करते हुए मरना भी पड़े, तो मैं उसे अपना सौभाग्य समझूँगा।"

सनातनियों का विरोध कम न हुआ और दलित जातियों के बहुत-से नेताओं का रुख भी आलोचनात्मक ही रहा, परंतु इतना तो स्वीकार करना ही होगा कि गांधीजी युगों पुरानी अछूत-प्रथा की जड़ें हिलाने में सफल हुए। उस समय के मदरास के प्रमुख कांग्रेसी नेता चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य ने 'क्रांति की पूर्णाहुति' नामक अपने एक लेख में लिखा था—"अस्पृश्यता अभी मिटी नहीं है; लेकिन वास्तव में क्रांति पूरी हो गई है और अब तो केवल मलबे को हटाने का काम रह गया है।" यह अतिरंजना या आशातिरेक ही था, लेकिन इसमें तो कोई संदेह नहीं कि हरिजनोत्थान का काम अच्छी गति से आरंभ हुआ और तेज़ी से बढ़ता जा रहा था। 1937-39 के कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने हरिजनों के हित में कुछ कानून बनाकर उनके मार्ग की बहुत-सी बाधाओं को दूर कर दिया; और स्वतंत्र भारत[5] के संविधान में तो अस्पृश्यता को गैर-कानूनी और अपराध ही घोषित किया गया। सदियों से गहरी जड़ें जमाए हुए सामाजिक अन्याय और अत्याचार के खिलाफ वैधानिक, सामाजिक और आर्थिक सभी मोर्चों पर सतत संघर्ष की आवश्यकता थी और आनेवाले कई वर्षों तक यह लड़ाई सभी मोर्चों पर बराबर लड़ी जाती रही।

---

1. उपवास आरंभ करने से पहले महात्माजी ने महाकवि को निम्न पत्र लिखा था: "अभी मंगलवार की सुबह के 3 बजे हैं। दोपहर के समय मैं अग्निमय द्वार में प्रवेश करूँगा। मैं चाहूँगा कि आप मेरे इस कार्य को आशीर्वाद दें। आप सच्चे मित्र हैं...अपने विचारों को प्रायः स्पष्टता से प्रकट कर देते हैं। यदि आपकी अंतरात्मा मेरे कार्य की निंदा करे तो भी आपकी आलोचना को बहुमूल्य समझूँगा। आपका हृदय यदि मेरे कार्य को पसंद करे तो मैं आपका आशीर्वाद चाहता हूँ।" उससे मुझे सहारा मिलेगा।" रविबाबू ने

गांधीजी का यह पत्र मिलने के पूर्व उपवास आरंभ होते ही यह तार भेज दिया था—"भारत की एकता और सामाजिक अविच्छिन्नता के लिए बहुमूल्य जीवन का दान श्रेयस्कर है। हमलोग ऐसे हृदयहीन नहीं हैं कि इस राष्ट्रीय वज्रपात को चरम सीमा तक पहुँचने दें। हमारे व्यथित हृदय आपकी लोकोत्तर तपस्या को श्रद्धा और प्रेम से निहारते रहेंगे।"

2. पहले बैठकें बंबई में शुरू हुईं, उसके बाद सारी कार्रवाई पूना में हुई। इसलिए इस सम्मेलन का निर्णय पूना-निर्णय या पूना पैक्ट कहलाता है।

—अनुवादक

3. इस संबंध में विस्तृत विवरण जानने के लिए 'सस्ता साहित्य मंडल' द्वारा प्रकाशित 'हमारा कलंक' पढ़ना चाहिए।—अनुवादक

4. यही संगठन आगे चलकर 'अखिल भारतीय हरिजन सेवक संघ' में विकसित हुआ। —अनुवादक

5. गांधीजी 'हरिजन' के पहले ही अंक से निम्नलिखित को ध्येय वाक्य के रूप में प्रकाशित करते रहे थे—"अब भविष्य में हिन्दू जाति में किसी को जन्म से अस्पृश्य नहीं समझा जाएगा और जिन्हें अबतक अस्पृश्य समझा जाता रहा है, उन्हें अन्य हिन्दुओं की भाँति ही कुओं, पाठशालाओं, सड़कों और अन्य सार्वजनिक संस्थाओं का उपयोग करने का अधिकार रहेगा। मौका मिलते ही इस अधिकार को कानून का स्वरूप दे दिया जाएगा और यदि पहले न दिया गया तो स्वराज्य पार्लामेंट का पहला कानून इस संबंध में होगा।"—अनुवादक

३२. ग्रामीण अर्थव्यवस्था

सविनय अवज्ञा आंदोलन तो यों भी शिथिल होता जा रहा था और जब गांधीजी ने 1932 की सर्दियों में अछूतों के सवाल पर आमरण अनशन आरंभ किया तो राष्ट्र का ध्यान इस ओर से बँटकर उधर केन्द्रित हो गया। हरिजन-कार्य अपेक्षाकृत निरापद भी था, इसलिए कई कांग्रेसजनों ने बड़ी प्रसन्नता से उसे अपना लिया। मई 1933 में सविनय अवज्ञा का अस्थायी रूप से स्थगित किया जाना पूरे आंदोलन के लिए घातक हो गया। बदले में व्यक्तिगत सत्याग्रह अवश्य आरंभ किया गया था, लेकिन सरकार ने उसे कोई खास महत्त्व नहीं दिया, क्योंकि इससे उसे कोई विशेष परेशानी नहीं हुई थी। सरकार के कठोर दमन ने देश को कुछ समय के लिए लुंज अवश्य कर दिया था, पर अधिकांश कांग्रेसजनों का ऐसा खयाल था कि यदि गांधीजी ने अपनी कार्यनीति के नैतिक पक्ष पर इतना अधिक ज़ोर देने के बदले उसके राजनैतिक पक्ष पर पूरा ज़ोर दिया होता तो सरकार को अवश्य घुटने टेक देने पड़ते ! कांग्रेसजनों ने अहिंसा को स्वराज्य-प्राप्ति के लिए महज एक नीति के रूप में स्वीकार किया था, बल-प्रयोग न करने के लिए वे राज़ी हो गए थे; लेकिन गांधीजी ने अपने-आपको जितने नैतिक बंधनों से बाँध लिया था, उससे उन लोगों को बड़ी झुंझलाहट होती थी। मई 1933 में गांधीजी ने खुलेआम गुप्त कार्य की निन्दा की और उसे सत्याग्रह के सर्वथा प्रतिकूल बताया, जबकि सरकारी दमन के मारे हाल यह था कि छिपकर कांग्रेस का काम करना भी लगभग असंभव ही हो गया था।

जनता तो चट मंगनी और पट ब्याह के लिए बेचैन थी—वह त्वरित परिणाम चाहती थी। 1920 के असहयोग-आंदोलन की तेजी और जोश का खास कारण था 'एक साल में स्वराज्य' का नारा। 1930 और उसके बाद 1932 में भी जनता ने यही आशा लगा रखी थी कि सविनय अवज्ञा की लड़ाई थोड़े दिन चलेगी और जल्दी-से उसका मनचाहा नतीजा सामने आ जाएगा। सविनय अवज्ञा के बारे में जनता की धारणा गांधीजी की परिकल्पना से सर्वथा भिन्न थी। गांधीजी सविनय अवज्ञा को सत्याग्रह का अंग और सत्याग्रह को जीवन का ऐसा तरीका समझते थे, जिसके द्वारा वैयक्तिक, सामाजिक और राजनैतिक सभी तरह की समस्याओं को हल किया जा सकता था। उन्होंने सत्याग्रह को विज्ञान की संज्ञा दी थी, लेकिन एक जीवित, सतत विकासशील

और सदा निर्मित होते रहनेवाला विज्ञान। उसके कोई बंधे-सधे नुस्खे तो थे नहीं। समस्याओं के बने-बनाए तैयार समाधान हुआ भी नहीं करते। सत्याग्रही को सत्य की शोध करनी- होती है, उसे सहेजना होता है, उसके लिए निरंतर कार्य करना होता है और आवश्यकता पड़ने पर उसके लिए कष्ट भी झेलने होते हैं।

क्रांतिकारी आंदोलन, चाहे वह अहिंसात्मक ही क्यों न हो, उसके उफान और जोश को अनिश्चित काल तक कायम नहीं रखा जा सकता। लगभग 78 हज़ार कांग्रेसजन जेल गए थे। हज़ारों ने अपने सुख-चैन को देश पर न्यौछावर कर दिया था और कइयों के स्वास्थ्य ही नहीं, घर-बार भी चौपट हो गए थे। यदि स्वतंत्रता की उमंग अधिक बलवती होती तो जेल जानेवालों की कमी न होती, कड़ा-से-कड़ा दमन सत्याग्रहियों के जेल की ओर जाते हुए प्रवाह को रोक न पाता, लेकिन गांधीजी को अफसोस इस बात का नहीं था कि थोड़े लोग जेल गए, संख्या को वहाँ महत्त्व नहीं देते थे, उन्हें तो यह शिकायत थी कि अहिंसात्मक रहते हुए भी आदोलनकारियों के दिलों में ब्रिटिश जाति के प्रति घृणा के भाव विद्यमान रहे। उनका कहना था कि ब्रिटिश राज्य का विरोध करनेवालों में से यदि थोड़े-से भी लोग इस घृणा-भावना से मुक्त हो जाते तो वे अपने शासकों का हृदय-परिवर्तन करने में अवश्य सफल होते। सविनय अवज्ञा के चार वर्ष बाद भी अंग्रेज़ों का हृदय-परिवर्तन नहीं हो पाया था, उनकी कटुता, कठोरता और कांग्रेस के प्रति संदेहशीलता पहले से ही थी, और आतंकवाद अब भी यहाँ-वहाँ सिर उठा रहा था। अंत में गांधीजी इस नतीजे पर पहुँचे कि जनता अहिंसा के उनके संदेश को ठीक तरह से आत्मसात् नहीं कर पाई, इसलिए देश को अहिंसा-व्रत में पूरी तरह दीक्षित करने के लिए सविनय अवज्ञा को स्थगित कर उसके स्थान पर रचनात्मक कार्यक्रम आरंभ करना उचित होगा।

गांधीजी का यह विश्वास भी दृढ़ होता गया कि उनके कुछ अनुयायियों को उनके तरीकों और विचारों से अरुचि हो गई है और उनसे सहमत न होते हुए भी वे उनकी नीतियों को स्वीकार करने का बहाना करते हैं। उनका ऐसा खयाल भी होता जा रहा था कि कांग्रेस पर उनका व्यक्तित्व इस कदर छा गया है, जिससे उसके जनवादी ढंग से काम करने में बाधा पहुँचती है। अनुयायियों की ऐसी श्रद्धा-भक्ति को न वह उचित समझते थे और न सहन ही कर सकते थे। और फिर अकेला

सविनय अवज्ञा का स्थगन ही मतभेद का कारण नहीं था। दृष्टिकोण-संबंधी मतभेद तो और भी कई थे, लेकिन जबतक सरकार से संघर्ष चलता रहा, वे दबे पड़े रहे, तीव्रता से उमरकर ऊपर नहीं आए। आंदोलन के शिथिल होते ही मतभेदों ने उग्र रूप धारण कर लिया। अस्पृश्यता-निवारण के संबंध में गांधीजी के नैतिक और धार्मिक दृष्टिकोण को उनके बहुत-से अनुयायी सही नहीं मानते थे। जब गांधीजी ने चरखा चलाने पर फिर से ज़ोर देना शुरू किया और उसे "राष्ट्र का दूसरा फेफड़ा" कहा तो उनके अनेक सहयोगियों को उनकी यह बात भी उचित नहीं लगी। उदीयमान समाजवादी गुट को वह स्वयं अविश्वास की दृष्टि से देखते थे और उसे 'जल्दबाजों' की टोली कहते थे।

लेकिन कांग्रेस के बुद्धिजीवी वर्ग और उनके विचारों में सबसे अधिक अंतर था अहिंसा के प्रश्न को लेकर। उन्हें यह देखकर बड़ी पीड़ा होती थी कि लगातार पंद्रह वर्ष तक सिखाने और आचरण करने के बाद भी अपने-को गांधी -मतावलंबी कहनेवाले लोग अहिंसा को न तो ठीक से समझ पाए थे और न अपना ही सके थे। सामूहिक सविनय अवज्ञा आम कांग्रेस-जन को ज़रूर पसंद आई थी, लेकिन वह तो गांधीजी की अहिंसात्मक कार्यप्रणाली का सिर्फ एक अंग थी। रचनात्मक कार्यक्रम उसका दूसरा पहलू था, जिसे अधिकांश कांग्रेसजन अराजनैतिक समझते थे।

इन मतभेदों के ही कारण गांधीजी अक्तूबर 1934 में कांग्रेस से अलग हो गए। उन्होंने सरदार पटेल को लिखा था—"मैं नाराज़ होकर, तैश में आकर या निराशा के कारण पृथक् नहीं हो रहा हूँ।" वह कांग्रेस को आज़ाद कर रहे थे और अपनी इच्छानुसार काम करने के लिए खुद आज़ाद हो रहे थे। उसके बाद के तीन वर्ष उन्होंने राजनैतिक कार्यों में नहीं, ग्रामीण अर्थव्यवस्था के अध्ययन, मनन और ग्रामोद्धार के काम में लगाए।

अक्तूबर 1934 की बंबई कांग्रेस ने जहाँ गांधीजी के इस्तीफे को मंजूर किया, वहीं उनके निर्देशन में अखिल भारत ग्रामोद्योग संघ की स्थापना का प्रस्ताव भी पास किया। 'ग्रामोद्योग-संघ कांग्रेस की राजनैतिक हलचल से परे रहकर' ग्रामोद्योग की रक्षा और उन्नति एवं गाँवों के नैतिक

तथा आर्थिक उत्थान के लिए काम करने के उद्देश्य से बनाई गई थी। गांधीजी अपनी और कांग्रेस की गति-विधियों को जो नई दिशा दे रहे थे, यह प्रस्ताव उसी का सूचक था।

1915 में भारतीय राजनीति में प्रवेश करने के बाद से ही गांधीजी गाँवों के प्रति नया दृष्टिकोण अपनाने की आवश्यकता पर ज़ोर देते आ रहे थे। ज़मीन पर बेहद दबाव और सहायक उद्योगों के अभाव के कारण गाँवों में कभी छः तो कभी बारहों महीने बेकारी बनी रहती थी। किसानों की यह घोर दरिद्रता गांधीजी को एक क्षण भी चैन नहीं लेने देती थी। चरखे से किसानों को तात्कालिक राहत मिल जाती थी, इसीलिए गांधीजी उसका इतना समर्थन और प्रचार करते थे। अखिल भारत चरखा संघ की स्थापना गांधीजी ने ही की थी और उसके कामों में अपना काफी समय और शक्ति लगाते रहे थे। इस संस्था ने दस वर्षों में अपना कारबार खूब बढ़ा लिया था। 5300 गाँवों में इसकी शाखाएं थीं और इसने कुल मिलाकर 2,20,000 कताई करनेवालों, 20,000 बुनकरों और 20,000 धुनकियों को रोज़ी रोटी दी थी और गाँवों में दो करोड़ रुपए से भी ज्यादा का भुगतान किया था। आज के युग में, जबकि सरकारी योजनाओं के अंतर्गत काफी बड़े-बड़े काम किए जा रहे हैं। ये आँकड़े उतने महत्त्वपूर्ण नहीं लगेंगे, लेकिन जिस जमाने में विदेशी शासन पग-पग पर बाधाएं पहुँचा रहा हो, एक संस्था का इतना ठोस काम निस्संदेह प्रशंसनीय कहा जाएगा।

गांधीजी बहुत अच्छी तरह जानते थे कि अखिल भारत चरखा संघ ने जो कुछ किया है, वह गाँवों की गरीबी को देखते हुए केवल समंदर में बूँद की तरह था। असली काम था गाँवों की आमूल आर्थिक क्रांति और अब गांधीजी इसी दिशा में प्रवृत्त होना चाहते थे। हरिजन-यात्रा के दौरान में उन्होंने देखा और अनुभव किया कि ग्रामीण उद्योगों के नष्ट हो जाने से सबसे अधिक हानि हरिजनों को उठानी पड़ी थी। वे आर्थिक दुरवस्था की अंतिम सीमा तक पहुँच गए थे। इस प्रकार गांधीजी के अस्पृश्यता-निवारण के कार्यक्रम का एक आर्थिक पहलू भी था। हरिजनों की आर्थिक स्थिति को उन्नत किए बिना उनका उद्धार असंभव ही था। इस दृष्टि से भी ग्रामोद्योगों का पुनर्विकास गांधीजी के निकट अत्यंत आवश्यक और अपरिहार्य हो गया था। जिस स्वदेशी व्रत का देश की राजनैतिक चेतना और जोश को बढ़ाने में इतना अधिक हाथ था, अब 1934-35

में गांधीजी ने उसे एक नए अर्थ-बोध से मंडित कर दिया। उन्होंने कहा कि स्वदेशी का मतलब यही नहीं है कि वस्तु-विशेष देश में बनी हुई हो, बल्कि वह गाँव की बनी हुई होनी चाहिए। उन्होंने नगरवासियों से अनुरोध किया कि वे अपने दैनिक उपभोग की वस्तुओं को ध्यान से देखें कि उनमें कौन स्वदेशी और कौन विदेशी है और एक-एक करके उन्हें गाँव की बनी चीज़ों से बदलते चले जाएं। सफाई के ब्रुश की जगह झाड़ू काम आ सकती है, 'टूथ ब्रुश' की जगह नीम या बबूल की दातौन का इस्तेमाल हो सकता है, कारखाने के पालिश किए हुए चावल के बदले हाथकूटे चावल का, कारखाने की चीनी के बदले गुड़ का और मिल के काग़ज़ की जगह हाथ के बने काग़ज़ का उपयोग किया जा सकता है। गाँव की बनी चीजें कुछ महँगी हो सकती हैं, लेकिन उनकी मजूरी और मुनाफा भी तो गाँववालों को ही मिलेगा, जिन्हें रोज़ी-रोटी की इतनी अधिक आवश्यकता है। गांधीजी ने लिखा भी था “नगरवालों के लिए गाँव अछूत हैं। नगर में रहनेवाला गाँव को जानता भी नहीं। वह वहाँ रहना भी नहीं चाहता। अगर कभी गाँव में रहना पड़ ही जाता है तो शहर की सारी सुविधाएं जमा करके उन्हें शहर का रूप देने की कोशिश करता है। अगर वह तीस करोड़ ग्रामवासियों के रहने लायक शहरों का निर्माण कर सके तो यह कोशिश बुरी नहीं कही जाएगी ।”

भारत की 85 प्रतिशत जनसंख्या गाँवों में रहती थी, इसलिए उनका आर्थिक और सामाजिक पुनरुत्थान देश को विदेशी शासन से मुक्त करने की आवश्यक शर्त थी। शहर द्वारा गाँव के शोषण को गांधीजी ने हिंसा का ही एक रूप माना था। उनका कहना था कि शहर और गाँव के बीच के आर्थिक और सामाजिक अंतर को मिटाना ही होगा। इसके लिए उनका सुझाव था कि शहर से कार्यकर्ताओं को गाँवों में जाना चाहिए और वहीं बसकर गाँवों के म्रियमाण या मरणशील उद्योगों को पुनर्जीवित कर पोषण, शिक्षा और के स्तर को उन्नत करना चाहिए। गांधीजी चाहते थे कि गाँवों में काम करनेवाले कार्यकर्ता गाँववालों की तरह रहें, उन्हें गॉँववालों की ही तरह थोड़े में गुजर करना चाहिए। यदि उन्होंने अपनी गुजर-बसर के लिए ज्यादा पैसा माँगा तो गाँववालों का दिवाला ही पिट जाएगा।

गांधीजी जो कहते थे सबसे पहले स्वयं उसपर आचरण करके दिखाते थे। इसलिए उन्होंने वर्धा से थोड़ी दूर सेगाँव में बसने का निश्चय किया। यह बहुत ही छोटा और पिछड़ा हुआ गाँव था।

जनसंख्या मुश्किल से 600 होगी। न पक्की सड़क थी, न दुकान और न डाकखाना ही। सेठ जमनालाल बजाज की इस गाँव में कुछ ज़मीन थी। गांधीजी ने उस ज़मीन पर अपने रहने के लिए एक छोटी-सी कुटिया बना ली। वर्षाकाल में जो उनसे यहाँ मिलने के लिए आते थे, उन्हें कीचड़ में चलकर आना पड़ता था। यहाँ की आबहवा भी बहुत खराब थी। पेचिश और जूड़ी बुखार ने गाँव में किसी को भी नहीं छोड़ा था। गांधीजी खुद बीमार पड़ गए, लेकिन सेगाँव न छोड़ने का उनका प्रण अटल रहा। वह यहाँ अकेले ही आए थे। कस्तूरबा तक को साथ नहीं आने दिया था। सेगाँव के निवासियों में से ही वह ग्राम कार्यकर्ताओं का अपना दल बनाना चाहते थे। लेकिन अपने नए-पुराने शिष्यों को सेगाँव आने और वहाँ बसने से वह रोक भी न सके। 1937 में जब डॉ. जान माट सेगाँव गए तो वहाँ अकेली गांधीजी की कुटिया थी। थोड़े ही दिनों में उसके आस-पास बाँस के टट्टरों और गारे-मिट्टी की कई झोपड़ियाँ बन गईं। उस बस्ती के निवासियों में प्रो. भंसाली थे, जिन्होंने अपने ओंठ सी लिए थे और जंगलों में नंगे घूमा करते थे और सिर्फ नीम की पत्तियाँ खाकर गुजर करते थे। मॉरिस फ्राइड मेन नामक एक पोलैंड-निवासी सज्जन थे, जो हस्तशिल्प और गृहोद्योग पर आधारित अहिंसात्मक समाज-व्यवस्था के गांधीवादी आदर्श से प्रभावित होकर गांधीजी के शिष्य बन गए थे। संस्कृत के एक प्रखंड विद्वान थे, जिन्हें कुष्ट रोग हो गया था, और गांधीजी स्वयं उनकी परिचर्या करते थे, इसलिए अपनी कुटिया के पास ही उन्होंने उनकी झोपड़ी बनवा दी थी। एक जापानी साधु भी थे, जो (महादेव देसाई के शब्दों में) घोड़े की तरह काम करते थे और तपस्वी की तरह रहते थे। शायद इसीलिए वल्लभभाई पटेल सेगाँव को 'आदमियों का चिड़ियाघर' कहते थे और गांधीजी ने उसे कई बार 'रोगियों का घर' कहा था।

शीघ्र ही सेगाँव का नाम बदलकर सेवाग्राम हो गया। सेवाग्राम को आश्रम का रूप देने की बात गांधीजी के मन में कभी आई ही नहीं। इसीलिए वहाँ आश्रम-जीवन के नियम-कानूनों की पाबंदी कभी नहीं रही। स्वभाव और समझ में भारी वैषम्य और ज्ञान तथा शिक्षा-दीक्षा में भारी अंतर होते हुए भी वे चित्र-विचित्र लोग गांधीजी के प्रति अपने-अपने स्नेह और श्रद्धा-भक्ति के ज़ोर से एवं ग्राम-सेवा के समान आदर्श से अनुप्रेरित होकर वहाँ खिंचे चले आए थे। यह चित्र-विचित्र मेला गांधीजी की अहिंसा की प्रयोगशाला थी। महादेवभाई के शब्दों में, “वह अहिंसा को

राजनीति के व्यापक क्षेत्र में लागू करने से पहले यहाँ प्रयोग के द्वारा परखकर देख लिया करते थे। यदि अहिंसा इस घरेलू स्तर पर खरी उतरी तो राजनीति में उसकी सफलता असंदिग्ध हो जाती और यही वजह थी, जिसके कारण बापू सेवाग्राम लौट आने के लिए इतने अधीर रहा करते थे। यहाँ उन्हें अहिंसा के अपने परीक्षण और नए-नए प्रयोग करने की पूरी स्वतंत्रता थी। यह सच है कि उनकी प्रयोगशाला के उपकरण जटिल थे और इसलिए उनका काम काफी कठिन हो जाता था, लेकिन साथ ही यह भी सच है कि कठिनाई जितनी ज्यादा होती थी, उस बड़े काम को करने की उनकी क्षमता और सामर्थ्य भी उतनी ही बढ़ जाती थी।"

सेवाग्राम शीघ्र ही गांधीजी की ग्राम-कल्याण योजनाओं का केन्द्र बन गया। वहाँ और उसके आस-पास गाँवों में समाज-सुधार और आर्थिक उन्नति का काम करनेवाली बहुत-सी संस्थाओं का निर्माण हुआ। अखिल भारत ग्रामोद्योग संघ का प्रधान कार्यालय मगनवाड़ी (वर्धा) में रखा गया। कम पूँजी और सिर्फ गाँव की ही मदद से चल सकनेवाले उद्योगों की सहायता, विकास और विस्तार के लिए इस संस्था ने वहाँ ग्रामीण कार्यकर्ताओं का एक प्रशिक्षण-केन्द्र भी शुरू किया। 'ग्रामोद्योग पत्रिका' के नाम से यह संस्था अपना एक पत्र भी प्रकाशित करने लगी। इसी तरह गो-सेवा-संघ, हिन्दुस्तानी तालीमी संघ, महिलाश्रम, तेल-घानी केन्द्र आदि और भी कई संस्थाएँ थीं।

भारत के सात लाख गाँवों को गरीबी, बीमारी और अज्ञान के अभिशापों से मुक्त करना आसान काम नहीं था। इसके लिए विभिन्न क्षेत्रों में निरंतर काम, काम और काम करते रहने की ज़रूरत थी। ग्रामोद्योगों से गाँववालों की बेकारी मिटाई जा सकती थी, उन्हें रोज़ी मिलती और इस तरह गाँवों की क्रय-शक्ति में वृद्धि होती। साथ ही ग्रामोद्योगों के माध्यम से गाँववालों की निष्क्रियता, जड़ता और आलस्य को भी मिटाया जा सकता था। गांधीजी ने लिखा था—"सेगाँव के चारसौ वयस्क अगर मेरे कहने के अनुसार काम करें तो साल में आसानी से दस हज़ार रुपया कमा सकते हैं। लेकिन वे काम करेंगे ही नहीं। सहयोग करना वे जानते ही नहीं । बुद्धिपूर्वक श्रम करने का उन्हें ज्ञान नहीं। नई कोई बात वे सीखना नहीं चाहते।"

पोषण अथवा पुष्टिकर आहार की समस्या पर भी गांधीजी बराबर लिखते और भाषण देते रहे थे। जब विद्यार्थी थे तभी से वह भोजन और उपवास के प्रयोग अपने-आपपर करने लग गए थे। पुष्टिकर भोजन की समस्या का महत्त्व उनके निकट उस समय और भी बढ़ गया जब उन्होंने देखा कि भारतीयों को पूरा पोषण न मिल पाने की वजह गरीबी ही नहीं, भोजन के पोषण-तत्त्वों के संबंध में उनका घोर अज्ञान भी है। हरी सब्जियों के रहते, और जो सब जगह बड़ी आसानी से मिल जाया करती थीं, वह विटामिनों की कमी का कोई बहाना सुनने को तैयार न थे। भारतीय वैज्ञानिकों से भारतीय परिस्थितियों के संदर्भ में भारतीयों के भोजन पर अनुसंधान करने का अनुरोध वह बराबर करते रहे। 'एक अनुभवी रसोइए' के नाते उन्होंने भोजन पकाने के ऐसे तरीकों के बारे में लिखा, जिनसे भोजन के पोषक तत्त्व नष्ट नहीं होते और चक्की के आटे से हाथ के पिसे आटे एवं मिल के चावल से हाथकूटे चावल की श्रेष्ठता पर भी हमेशा ज़ोर देते रहे। उन्होंने एक बार कहा भी था—"कपड़ा-मिलें अपने पीछे बेकारी लाईं और आटे तथा चावल की मिलें पोषक तत्त्वों की कमी से होनेवाली बीमारियाँ।"

गांधीजी जानते थे कि शहर के बुद्धिजीवी वर्ग की सक्रिय सहायता के बिना गाँवों का उद्धार असंभव है। इसलिए उन्होंने कांग्रेस को अपने वार्षिक अधिवेशन गाँवों में करने की सलाह दी। फैजपुर-कांग्रेस इस दिशा में पहला कदम था। उसके बाद तो हरिपुरा, त्रिपुरी आदि कई अधिवेशन ग्रामीण क्षेत्रों में हुए और होते जा रहे हैं। गांधीजी का कहना था कि ग्रामीण क्षेत्रों के अधिवेशन में शहरों का हो-हल्ला और भीड़-भड़क्का नहीं होता, कटीले तारों का खर्च बच जाता है, क्योंकि गाँवों की बागुड़ों से घेरेबंदी का काम हो जाता है और गाँवों के हस्तशिल्प और कुटीर-उद्योगों की प्रदर्शनियों से दर्शकों का मनोरंजन ही नहीं, ज्ञानवर्द्धन भी होता है।

हर समस्या को वह गाँव की आवश्यकता और ग्रामीणों के दृष्टिकोण से देखते-समझते थे और उसका ग्रामोपयोगी हल खोजते थे। कह सकते हैं कि उनकी दृष्टि पूर्णतः ग्राममूलक थी। स्वराज्य उनके निकट ग्राममूलक था और शिक्षा भी ग्राममूलक थी। उस समय की प्रचलित शिक्षा-प्रणाली से वह पूरी तरह असंतुष्ट थे और उसे अनुपयुक्त और बरबादी कहा करते थे। एक तो देश की बहुसंख्यक जनता के लिए शिक्षा की कोई समुचित व्यवस्था नहीं थी और दूसरे वह जीवन से

इतनी कटी-छँटी और अनुपयोगी होती थी कि गाँव की प्राथमिक पाठशाला में पढ़नेवाले पढ़ाई छोड़ने के कुछ ही समय बाद सब पढ़ा-लिखा भूल जाते थे—वह आगे कभी उनके काम ही नहीं आता था।

ऊँची कक्षाओं में अंग्रेज़ी के माध्यम से शिक्षा दी जाती थी। इससे ग्रामीणों और उच्च शिक्षा पाए हुए लोगों के बीच एक दीवार खड़ी हो गई थी। जो वास्तव में जनोपयोगी हो; ऐसी शिक्षा-प्रणाली निर्धारित करने के लिए प्रांतों में कांग्रेसी मंत्रिमंडल बन जाने पर गांधीजी ने कांग्रेसी शिक्षामंत्रियों और शिक्षाशास्त्रियों का एक सम्मेलन वर्धा में आयोजित किया था। उसने 'बुनियादी शिक्षा प्रणाली' के नाम से जो सिफारिशें की थीं, उनके पक्ष और विपक्ष में बहुत-कुछ कहा गया, लेकिन इतना तो स्वीकार करना ही होगा कि प्रचलित शिक्षा-पद्धति की रूढ़िबद्धता को मिटाने का वह एक स्तुत्य प्रयत्न था।[1]

ग्रामोत्थान श्रम-साध्य और समय-साध्य कार्य था—बराबर लगे रहो, रात-दिन एक कर दो तब कहीं जाकर जरा-सा परिणाम दिखाई देता था। गांधीजी ने ठीक ही कहा था कि यह घोर उद्यमशील व्यक्तियों के लिए भी चींटी की चाल-जैसा काम है। इस काम की न अखबार में खबरें छपती थीं और न इससे सरकार को कोई परेशानी ही होती थी। गांधीजी के कई सहयोगियों का कहना था कि ऐसे निरापद काम से स्वाधीनता-प्राप्ति के लक्ष्य में क्या सहायता मिल सकती है ? यह तो मुख्य राजनैतिक सवाल को उलझन में डालकर गौण समस्याओं की ओर राष्ट्र का ध्यान आकर्षित करना हुआ। गांधीजी ने इसका जवाब दिया था—"मेरी समझ में नहीं आता कि जब सरकार की आर्थिक नीतियों का ऊहापोह राजनैतिक काम माना जा सकता है तो ग्रामोत्थान की अत्यंत आवश्यक समस्याओं पर सोचना-विचारना और उनका हल खोजना राजनैतिक क्यों नहीं है ?"

गांधीजी के ग्राम-विकास की ज्यादा तीखी और कुछ गंभीर किस्म की आलोचना यह कहकर की जाती थी कि वह विज्ञान और उद्योग की प्रगति से मुँह मोड़कर जिस आदिकालीन अर्थ-नीति की सिफारिश कर रहे हैं वह तो देश को गरीबी के गड्ढे से कभी उबरने ही न देगी। 'हिन्द स्वराज्य' में गांधीजी ने मशीनों, कारखानों और औद्योगिक सभ्यता की बड़ी कड़ी आलोचना की

। लेकिन बाद के चालीस वर्षों में उनके विचारों में काफी परिवर्तन और विकास हुआ। अहिंसा की दृष्टि से उन्होंने मशीनों की उपयोगिता-अनुपयोगिता पर काफी मनन किया और इस नतीजे पर पहुँचे कि मशीनीकरण से धन और संपत्ति थोड़े-से लोगों के हाथों में केन्द्रित हो जाती है। एक ऐसे देश में, जहाँ काम कम और करनेवाले ज्यादा लोग हों मशीनों से आम जनता की गरीबी और बेकारी बढ़ती ही जाती है। यदि मशीनों से देश की गरीबी और बेकारी मिट सकती "तो वह बड़ी-से-बड़ी मशीनों के उपयोग का समर्थन करने को तैयार थे।" वह कहते थे कि 'मास प्रोडक्शन' (बड़े पैमाने पर उत्पादन) और 'प्रोडक्शन फार दि मासेज' (जनता के लिए उत्पादन) में बड़ा अंतर है। मुक्त उद्यम के अंतर्गत बड़े पैमाने पर उत्पादन तो अमीरों को ज्यादा अमीर और गरीबों को ज्यादा गरीब बना देता है। वह मशीन मात्र के विरोधी नहीं थे। यों तो जिस चरखे को वह इतना मानते और महत्त्व देते थे, वह भी एक तरह से मशीन या यंत्र ही था, लेकिन वह जनता को लाभ पहुँचानेवाला यंत्र था, हानि पहुँचानेवाला नहीं। वह ऐसे सरल यंत्रों और उपकरणों का स्वागत करते थे, जो मानवी अवयवों को दुर्बल किए बिना लाखों-करोड़ों ग्रामवासियों के बोझ को हलका कर सकें। सिलाई की मशीन को वह इसी कोटि की मशीन समझते थे। लेकिन इस तरह की मशीनों के निर्माण के लिए बड़े कारखानों और फैक्टरियों की ज़रूरत पड़ती है, इस बात को भी वह जानते थे। उनका कहना था कि "मैं इस हद तक तो समाजवादी ही हूँ कि ऐसे सब कारखाने या तो राष्ट्रीयकृत होने चाहिए या राज्य द्वारा नियंत्रित। वहाँ काम करने की हालतें अच्छी होनी चाहिए और उनमें काम करनेवालों को सभी मानवोचित सुविधाएं मिलनी चाहिए। ऐसे कारखानों को मुनाफे के लिए नहीं, जनता के लाभ के लिए चलाना चाहिए। उनका प्रेरक उद्देश्य लोभ नहीं, प्रेम होना चाहिए ।"

1931 में जब गांधीजी गोलमेज परिषद् में भाग लेने के लिए लंदन गए थे तो प्रख्यात् सिने-अभिनेता चार्ली चैप्लिन ने उनसे भेंट की थी। आधुनिक मशीनों और मशीनीकरण के संबंध में उनकी गांधीजी से जो रोचक बातचीत हुई उसका विवरण महादेवभाई ने प्रस्तुत किया है— "मान लीजिए कि भारत में उसी ढंग की आज़ादी कायम हो जाए जैसी रूस में है और देश के बेकारों को दूसरा काम दिया जा सके और धन-संपत्ति का समान बँटवारा भी किया जा सके तब

तो आप मशीनों का विरोध नहीं करेंगे न ?" चार्ली चैप्लिन ने पूछ था। "बिलकुल नहीं।" गांधीजी ने जवाब दिया था। यह सच है कि गांधीजी औद्योगीकरण की बुराइयों के कारण उसका विरोध करते थे—आम मज़दूर बेकार हो जाते हैं और धन-संपत्ति थोड़े-से हाथों में सिमट जाती है। लेकिन साथ ही इस तरह के आर्थिक संगठन पर आधारित समाज-रचना के अनिष्टकारी प्रभाव भी उनके ध्यान में थे। गांधीजी के अहिंसात्मक समाज के आदर्श का मूलाधार राजनैतिक सत्ता का विकेन्द्रीकरण था और हज़ारों गाँवों में उत्पादन के विकेन्द्रीकरण से वह घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ। गांधीजी की राय में केवल अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उत्पादन करनेवाले और आर्थिक असमानताओं से मुक्त छोटे समुदाओं में ही मानवी (भौतिक नहीं) संबंधों पर आधारित सच्चा जनवाद संभव था। पश्चिम की औद्योगिक क्रांति ने एक देश में मुट्ठी-भर लोगों द्वारा पिछड़े हुए देशों के शोषण की प्रक्रिया को बहुत तेज़ कर दिया था। औद्योगिक दृष्टि से खूब उन्नत समाज में आर्थिक और राजनैतिक संघटन भी अत्यधिक केन्द्रीभूत हो गए थे और वहाँ सैन्यवाद का खतरा भी बहुत बढ़ गया था। इसलिए गांधीजी की राय में अहिंसात्मक समाज का संगठन इस प्रकार से किया जाना चाहिए कि आंतरिक असमानताओं और तनावों को समाप्त किया जा सके और बाहर से आक्रमण का कोई कारण न रहे। आर्थिक विकेन्द्रीकरण को आधार मानकर ही ऐसे समाज की रचना हो सकती थी। इस संबंध में गांधीजी ने लिखा भी था—"कारखानों की सभ्यता पर अहिंसात्मक समाज का निर्माण नहीं किया जा सकता। केवल आत्म-निर्भर गाँवों पर ही उसका निर्माण हो सकता है। यदि हिटलर चाहे तब भी वह सात लाख अहिंसात्मक गाँवों का विनाश नहीं कर सकता। ध्वंस की उस प्रक्रिया में स्वयं उसी को अहिंसावादी बन जाना होगा । ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था की जो मेरी कल्पना है, उसमें शोषण के लिए कोई स्थान नहीं है और इसीलिए हिसा भी नहीं है, क्योंकि शोषण से ही हिंसा का उदय होता है। इसलिए अहिंसामूलक होने से पहले ग्राममूलक होना आवश्यक है।"

आदर्श भारतीय गाँव की गांधीजी की कल्पना एक ऐसे 'गणतंत्र' की थी, जो अपनी मुख्य आवश्यकताओं के लिए पड़ोसियों पर निर्भर न हो, यों अन्य मामलों में पारस्परिक निर्भरता तो रहेगी ही । जो अपने खाद्यान्न और कपास और अतिरिक्त भूमि उपलब्ध होने पर नकदी फसलें

पैदा करता हो; यथासंभव जिसकी गतिविधियाँ सहकारिता पर आधारित हों, जिसकी अपनी पाठशाला, सार्वजनिक सभा-भवन और नाट्यगृह हों; जहाँ निःशुल्क और अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा हो, निर्वाचित पंचायत झगड़े निपटाती हो और बारी-बारी से चुने हुए रक्षक गाँव का पहरा देते हों।

'वैयक्तिक स्वतंत्रता पर आधारित जनवाद' की इस कल्पना को निरा आदर्श कहकर चुटकियों में उड़ाया जा सकता है, लेकिन गांधीजी के निकट तो अहिंसात्मक समाज का यही एकमात्र रूप था और दूसरे लोग इसका जो चाहे नामकरण करें, उन्हें इस बात की ज़रा भी चिन्ता नहीं थी। भारतीय समाजवादी गांधीजी के इन विचारों की अकसर आलोचना करते थे, लेकिन गांधीजी अपने-आपको किसी समाजवादी से कम नहीं समझते थे। उनका दावा था कि जहाँतक समाजवाद का प्रश्न है, उसे वह दूसरे कई भारतीय समाजवादियों से बहुत पहले ही अपना चुके थे। “लेकिन मेरा समाजवाद किताबों का नकली समाजवाद नहीं, सहज और स्वाभाविक समाजवाद है। अहिंसा में मेरी दृढ़ आस्था से वह उत्पन्न हुआ है। अहिंसा का आचरण करनेवाला ऐसा कोई आदमी हो ही नहीं सकता, जो सामाजिक अन्याय का विरोधी न हो।”

हिंसा अथवा वर्ग-युद्ध की अनिवार्यता में उनका विश्वास नहीं था। उनका तो यह दावा था कि अहिंसात्मक कार्रवाइयों से जिस प्रकार विदेशी शासन का अंत किया जा सकता है, उसी प्रकार सामाजिक अन्याय को भी मिटाया जा सकता है। हिंसा का परित्याग करने मात्र से उनका समाजवाद निरर्थक नहीं हो जाता था, गहन मानवीयता और शांतिपूर्ण पद्धतियों के बावजूद उसके परिणाम क्रांतिकारी होते थे। मुट्ठी-भर संपत्तिशालियों को अपना लोभ छोड़कर सारे समाज के हित में काम करने के लिए कैसे बाध्य किया जा सकता था ? पहला कदम था उन्हें समझाने-बुझाने का। यदि उससे काम न चले तो अंत में अहिंसात्मक असहयोग करने का। जिस प्रकार कोई सरकार जनता के सहयोग के बिना चल नहीं सकती, चाहे वह सहयोग जनता स्वेच्छा से दे या ज़ोर-जबर्दस्ती से, उसी प्रकार शोषितों के सक्रिय अथवा निष्क्रिय सहयोग के बिना आर्थिक शोषण भी कभी संभव नहीं होता। गांधीजी ने ठोस वास्तविकताओं से मुँह मोड़कर सिद्धांतों का

आसरा कभी नहीं लिया। अपने आस-पास की सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों के ही अनुसार उनके विचारों और सिद्धांतों का निर्माण हुआ करता था।

गाँवों का कमर-तोड़ गरीबी से उद्धार करना ही उनका मुख्य ध्येय था। मुट्ठीभर शहरों को और भी संपन्न करने के लिए गाँवों का शोषण और दोहन होता रहे, यह उन्हें ज़रा भी स्वीकार नहीं था। विशालकाय कारखानों के चक्कों को चलाने की अपेक्षा वह गाँवों की हर झोपड़ी में अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति और शहरों के लिए भी माल तैयार करनेवाले कुटीर उद्योगों के गुंजन को अधिक श्रेयस्कर मानते थे । यदि ग्रामोद्योगों के द्वारा स्विट्जरलैंड और जापान के हज़ारों-लाखों ग्रामीणों को उनके घरों पर रोज़ी और काम दिया जा सकता है तो भारत में क्यों नहीं दिया जा सकता ?

भारत में और उन देशों में एक बुनियादी फर्क ज़रूर था। वे स्वतंत्र थे और यहाँ एक विदेशी सरकार थी, जिसमें न इतनी सूझ-बूझ थी, न इतना उत्साह और न उसके पास ऐसा कोई संगठन ही था, जिसके द्वारा गाँवों की अर्थ-व्यवस्था में क्रांतिकारी परिवर्तन किया जाता। उस सरकार का तो यह हाल था कि जब राजनीति छोड़कर गांधीजी ने गाँवों में काम शुरू किया तो उनकी इस निर्दोष गतिविधि को ग्रामीण क्षेत्रों में देशव्यापी सविनय-अवज्ञा आंदोलन की तैयारी की कपट चाल ही समझा गया।

उधर राजनीति का घटना-चक्र भी चलता ही रहा। नए विधान को लागू करने की तिथि 1 अप्रैल, 1937 निश्चित की गई थी। गांधीजी की इस नए विधान के बारे में कोई बहुत ऊँची राय नहीं थी, इसके असली स्वरूप को वह शुरू से ही जानते थे, लेकिन ज्यों-ज्यों चुनाव के दिन पास आते गए, वह सोचने लगे कि क्या इस विधान की त्रुटियों के बावजूद जनता की हालत को सुधारने में इसका उपयोग नहीं किया जा सकता ?

---

1. बुनियादी शिक्षा प्रणाली या 'वर्धा-योजना' पर अगले अध्याय में विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

३३. कांग्रेस द्वारा पदग्रहण

प्रांतीय स्वराज्यवाला नया विधान, जिसके अंतर्गत देश को सीढ़ी-दर-सीढ़ी स्वशासन देने की योजना बनाई गई थी, ब्रिटिश पार्लमेंट ने 1935 में पास किया और 1937 में वह भारत में लागू किया गया। 1919 के सुधारों में, दस वर्षों के बाद देश की संवैधानिक स्थिति पर विचार करने की गुंजाइश रखी गई थी। 1927 में साइमन कमीशन की नियुक्ति के द्वारा, अवधि पूरी होने के दो साल पहले ही, इस दिशा में प्रयत्न आरंभ कर दिए गए थे; लेकिन नया विधान तैयार करने और उसे लागू करने में पूरे दस साल लग गए। इस एक दशाब्दि में देश में क्या-कुछ नहीं हुआ। असंतोष का ज्वार उमड़ा, दो-दो देशव्यापी सत्याग्रह हुए और सरकारी स्तर पर बीसियों सम्मेलन और आयोग नए विधान की रूप-रेखा तैयार करने में माथा लड़ाते रहे।

ब्रिटेन में 'भारतीय प्रश्न को लेकर खासा विवाद उठ खड़ा हुआ था। विंस्टन चर्चिल विरोधियों के अगुआ थे। वह भारत को स्वशासन देना ब्रिटिश साम्राज्य के ही नहीं, भारतीय जनता के साथ भी गद्दारी करना समझते थे। उनके विचारों में भारतीय राजनीतिज्ञों की अपेक्षा भारत ब्रिटिश नौकरशाहों के हाथों कहीं सुरक्षित था। गांधी-इर्विन-समझौते पर तो वह आगबबूला ही हो गए थे और लार्ड इर्विन को खूब आड़े हाथों लिया था। लार्ड विलिंगडन के सख्ती से काम लेने के वह सबसे बड़े हिमायती थे और चाहते थे कि सरकार ने जो विजय प्राप्त की है उसे और भी पुख्ता कर लेना चाहिए। भारत में अंग्रेज़ों के एक भी अधिकार को छोड़ने और भारतीय देशभक्तों की एक भी माँग को स्वीकार करने के पक्ष में वह नहीं थे। ब्रिटिश मंत्रिमंडल में भारत के उपनिवेश-मंत्री सर सेम्युअल होर को ही सबसे अधिक चर्चिल के विरोध का सामना करना पड़ता था, क्योंकि पार्लमेंट में नए संविधान कानून को पास कराने का सारा भार उन्हीं पर था। उन्होंने चर्चिल की मनोवृत्ति का बड़ा ही यथार्थ विश्लेषण किया है—"क्लाइव, विलिंगटन, लारेंस और किपलिंग के जमाने के भारतीय साम्राज्य की शानदार स्मृतियों ने उनकी आँखों पर पर्दा डाल रखा था। वह वर्तमान भारत की परिवर्तित परिस्थितियों को बिलकुल ही नहीं देख पा रहे थे। उनकी आँखों के आगे भारत का जो चित्र था, वह आज का नहीं, उस जमाने का या जब वह वहाँ सैनिक सेवाओं में थे और अंग्रेज़ अफसरों का काम हुआ करता था पोलो खेलना, सूअर का शिकार करना और

सीमा-रक्षा की फौजी कार्रवाइयों में हिस्सा लेना। उन दिनों रियाया सरकार को माई-बाप और महारानी को देवी का अवतार समझा करती थी ।"[1]

1890 के बाद और 1930 के बाद के भारत में ज़मीन-आसमान का अंतर हो गया था। इस अंतर का कारण समय का व्यवधान ही नहीं, भारतीय राजनीति पर गांधीजी के कृतित्व और व्यक्तित्व की गहरी छाप भी थी। लेकिन चर्चिलसाहब इतिहास के अपने प्रकांड ज्ञान के बावजूद इतनी मोटी-सी बात को समझ नहीं पाते थे। इसका कारण भी स्पष्ट था। चर्चिल थे राजनीति-कुशल राजनीतिज्ञ। वह गांधीजी की धार्मिकता और सत्य-अहिंसा की नीतियों को निरा ढकोसला समझते थे और भारत पर शासन करने के ब्रिटेन के नैतिक अधिकार को गांधीजी की चुनौती से तिलमिला जाते थे।

नए विधान में वाइसराय और गवर्नरों के हाथ में जो 'संरक्षण' और विशेषाधिकार दिए गए थे, वह जनवाद का मज़ाक ही था। भारतीयों को इस बात पर सख्त नाराज़गी थी। लेकिन इंग्लैंड में प्रेस और पार्लमेंट ने इनके विरोध में इतना हो-हल्ला मचा रखा था कि ब्रिटिश मंत्रिमंडल के लिए अपना बचाव करना मुश्किल हो गया था और बड़ी मुश्किलों से वह इस विधान को वहाँ पास करवा सके थे। ब्रिटिश सरकार की स्थिति पर टिप्पणी करते हुए इंग्लैंड के समाचार-पत्र 'मैंचेस्टर गार्जियन' ने लिखा था कि अंग्रेज़ न तो भारत पर शासन कर सकते हैं, न उसे छोड़ सकते हैं। इसलिए "ऐसा विधान बनाना आवश्यक हो गया, जो भारतीयों को स्वशासन मालूम पड़े और अंग्रेज़ों को ब्रिटिश राज।"

इस नए विधान में कुछ अधिकार तो जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों को सौंपे गए थे और कुछ सरकार ने अपने पास रखे थे, जिससे इसकी हालत उस मोटर-गाड़ी जैसी हो गई थी, जिसके ब्रेक चांपकर 'लो गियर' में चला दिया गया हो। विधान के अंतर्गत भविष्य में बननेवाले भारतीय संघ में प्रांतों के साथ-साथ रियासतों को भी नत्थी करके संघ को विधान-मंडल में उन्हें एक-तिहाई स्थान दिया गया था। मानी हुई बात थी कि रियासतों में चुनाव और प्रातिनिधिक संस्थाएं न होने से उनके प्रतिनिधि राजाओं द्वारा नामज़द व्यक्ति होते, जबकि राजा स्वयं ही अपने अस्तित्व के लिए ब्रिटिश सरकार के कृपाकांक्षी थे। ऐसे विधान पर भारतीय नेताओं का क्षुब्ध होना स्वाभाविक

ही था। फिर संघीय विधान-मंडल के अधिकार भी सीमित थे। सैनिक व्यय, सरकारी कर्मचारियों के वेतन और भत्ते, ब्याज की दरें आदि बजट के महत्त्वपूर्ण मुद्दे संघीय विधान-मंडल के अधिकार-क्षेत्र में नहीं रखे गए थे, परंतु वित्त और कुछ दूसरे मामलों में उनके अधिकारों को भी काफी सीमित कर दिया गया था और गवर्नरों को मंत्रियों के निर्णय को बदलने अथवा, रद्द करने का अधिकार दिया गया था।

इन बंधनों और सीमाओं के ही कारण पं. जंवाहरलाल नेहरू ने उस विधान को 'गुलामी का परवाना' कहा था। लखनऊ-कांग्रेस में उन्होंने घोषणा की थी कि नए विधान में भारतीयों को जिम्मेदारियाँ तो सौंपी गई हैं; अधिकार नहीं दिए गए। लेकिन कांग्रेस ने फिर भी नए विधान के अंतर्गत चुनाव लड़ने का फैसला किया। अपने चुनाव घोषणा-पत्र में कांग्रेस ने इस नए विधान को रद्द करने और राजनैतिक स्वतंत्रता पर आधारित एवं विधान-परिषद् द्वारा निर्मित जनवादी विधान की माँग की। प्रश्न उठ सकता है कि जब कांग्रेस नए विधान को रद्द करने की माँग कर रही थी तो उसने इसके अंतर्गत चुनाव क्यों लड़ा ? इसका एक कारण तो यह था कि कांग्रेस ने कौंसिलों का मोर्चा पूरी तरह राष्ट्र-विरोधी तत्त्वों के हाथ में छोड़ना उचित नहीं समझा, और फिर कांग्रेस के अंदर एक ऐसा शक्तिशाली पक्ष भी था, जिसे नए विधान की सीमाओं में भी प्रांतों में रचनात्मक काम करने की काफी संभावनाएं दिखाई दे रही थीं।

आम चुनाव के नतीजे फरवरी 1937 में मालूम हुए। संयुक्त प्रांत, बिहार, उड़ीसा, मध्य प्रदेश और मदरास में कांग्रेस का स्पष्ट बहुमत था। बंबई में उसने लगभग आधे स्थानों पर कब्जा कर लिया था और मैत्री भाव रखनेवाले दलों के साथ मिलकर अपनी सरकार बना सकती थी। पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत और आसाम में वह सबसे बड़ी पार्टी थी।

कांग्रेस के घोषणापत्र में इस बात का कहीं स्पष्ट उल्लेख नहीं था कि यदि कांग्रेस ने प्रांतीय कौंसिलों में बहुमत प्राप्त कर लिया तो उसे क्या करना चाहिए। मंत्रिमंडल बनाने के सवाल पर गहरा मतभेद था। विरोधी पक्ष का कहना था कि नए विधान में मिलना-मिलाना तो कुछ है नहीं। लोगों को राहत कुछ दी नहीं जा सकेगी, खाली बदनामी सिर पड़ेगी और जनता का यह जीवित क्रांतिकारी संगठन जन-संपर्क से विच्छिन्न होकर महज एक 'माडरेट' दल बनकर रह जाएगा।

प्रांतों में सरकार बनाने के समर्थकों का कहना था कि विधान में कमज़ोरियाँ और खामियाँ ज़रूर हैं, लेकिन कौंसिलों का नेतृत्व सरकार और उसके पिट्ठुओं के हाथ में छोड़ देना बहुत बड़ी भूल होगी। विधान जैसा-भी है, उससे जनता की जितनी सेवा की जा सके, करनी चाहिए और इन समर्थकों का ऐसा विश्वास था कि सीमाओं के बावजूद नए विधान का उपयोग जनहित में किया जा सकता है। इन दोनों परस्पर विरोधी विचारधाराओं के समन्वय के लिए मार्च 1937 में कार्यसमिति और प्रांतीय कौंसिलों के कांग्रेसी सदस्यों का एक संयुक्त सम्मेलन किया गया। उस सम्मेलन में यह तय पाया गया कि यदि प्रांतीय कौंसिलों में कांग्रेस पार्टी के नेताओं को इस बात से संतोष हो और वह यह सार्वजनिक घोषणा कर सकें कि गवर्नर हस्तक्षेप के अपने विशेषाधिकारों का प्रयोग नहीं करेंगे और "वैधानिक कार्रवाइयों के संबंध में" मंत्रियों की सलाह की अवहेलना नहीं की जाएगी तो कांग्रेस प्रांतों में मंत्रिमंडल बना सकती है।

कौंसिलों और पद-ग्रहण के प्रश्न पर गांधीजी के विचारों ने भी उक्त निर्णय को काफी हद तक प्रभावित किया था। 1937 में जब पद-ग्रहण के पक्ष-विपक्ष में वाद-विवाद ज़ोरों पर था तो उन्होंने लिखा था—"लोगों को यह बात समझनी चाहिए कि कौंसिलों का बहिष्कार सत्य और अहिंसा की तरह कोई शाश्वत सिद्धांत नहीं है। इनके प्रति मेरा विरोध कुछ कम हुआ है, लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि मैं अपनी पहलेवाली स्थिति में पहुँच रहा हूँ। यह प्रश्न कार्यनीति-संबंधी है और मैं तो केवल यही कह सकता हूँ कि किसी खास अवसर पर क्या करना सबसे ज्यादा ज़रूरी है।"

और उस समय गांधीजी की राय में रचनात्मक काम ही सबसे ज्यादा ज़रूरी था। उन दिनों गांधीजी की गतिविधि अराजनैतिक होते हुए भी काफी महत्त्वपूर्ण थी—वह देहातों के लिए शुद्ध-स्वच्छ पानी, सस्ता पुष्टिकर आहार, उपयुक्त शिक्षा-प्रणाली और आत्मनिर्भर अर्थ-व्यवस्था का प्रबंध करने में लगे थे। वह यह देखने को बहुत उत्सुक थे कि सारी खामियों के बावजूद क्या नया विधान ग्रामोत्थान के इस कार्यक्रम को आगे बढ़ा सकेगा ? उनका खयाल था कि कांग्रेसी मंत्रिमंडल अपने-अपने प्रांतों में ग्रामोद्योगों को प्रोत्साहन देने, शराबबंदी लागू करने, किसानों के

बोझ को घटाने, खादी के उपयोग को बढ़ावा देने, शिक्षा-प्रसार और अस्पृश्यता-निवारण आदि के काम तो कर ही सकते थे।

गांधीजी का कहना था कि कौंसिल-प्रवेश और पदग्रहण का उद्देश्य होना चाहिए जनता को राहत पहुँचाना और रचनात्मक काम करना, न कि सरकार के रास्ते में काँटे बोना। नए विधान के अंतर्गत जो कुछ रचनात्मक काम किया जा सके, उसे करने की उनकी आकाँक्षा ही थी, जिसने अंत में कांग्रेस को पद-ग्रहण करने के लिए प्रेरित किया। लेकिन शुरू-शुरू में सरकार हस्तक्षेप न करने का आश्वासन देने को राज़ी न हुई । सरकारी पक्ष के निकट ऐसा आश्वासन नए विधान को क्षति पहुँचानेवाला ही समझा गया। लार्ड लिनलिथगो ने अगस्त 1936 में एक भारतीय भेंटकर्ता से कहा भी था कि वह स्वयं तो विधान में एक अल्प विराम भी इधर-से-उधर नहीं कर सकते ।[2] लेकिन कांग्रेस बिना आश्वासन पाए मंत्रिमंडल बनाने को प्रस्तुत नहीं थी । इसलिए वाइसराय ने एक लंबा वक्तव्य दिया, जिसमें आश्वासन तो कोई नहीं था, परंतु बात को कुछ इस तरह घुमा-फिराकर कहा गया था, जिससे कांग्रेसी सदस्यों के संदेह काफी अंश तक निर्मूल हो गए।

बंबई, संयुक्त प्रांत, बिहार, मध्य प्रांत, उड़ीसा और मदरास—इन छः प्रांतों में कांग्रेसी मंत्रिमंडलों का बनना देश के लिए एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। जो राजनैतिक दल ब्रिटिश साम्राज्य को समाप्त करने के लिए प्रणबद्ध था, वह छः सूबों में शासन करने को राज़ी हो गया था। प्रयोग वैसा विस्फोटक नहीं था जैसी कि आशंका की जाती थी। कांग्रेसी मंत्रिमंडल संकट पैदा करने के अवसर खोजने के बजाए कांग्रेस के चुनाव-घोषणा-पत्र में उल्लिखित सामाजिक और आर्थिक कार्यक्रम को पूरा करने में लगे रहे। गांधीजी की सारी दिलचस्पी इसी कार्यक्रम में थी और कांग्रेसी मंत्रियों के कार्य की कसौटी भी उन्होंने इसीको बना रखा था। अपने निज़ी जीवन में गरीब देश की जनता के अनुरूप सादगी और मितव्ययिता को अपनाने की उन्होंने कांग्रेसी मंत्रियों को सलाह दी। और यह आग्रह भी किया कि मंत्रियों को "अध्यवसाय, योग्यता, सचाई, निष्पक्षता, दक्षता एवं कार्यक्षमता आदि आवश्यक सद्गुणों का अपने में विकास करना चाहिए ।"

गांधीजी ने दो बातों पर विशेष रूप से ज़ोर दिया और आशा प्रकट की कि कांग्रेसी मंत्रिमंडल इन्हें अवश्य पूरा करेंगे। उनमें एक थी शिक्षा और दूसरी थी शराबबंदी। शराब के दुर्गुणों

और अनिष्टकारी परिणाम से गांधीजी भली प्रकार प्रचलित थे। औद्योगिक मज़दूर और अधभूखे किसान अपनी गाढ़ी कमाई का पैसा शराब में बहा देते थे और उनके बच्चे दूध के लिए तरसा करते थे। शिक्षा के बारे में उनके अपने विचार थे, जिनपर उन्होंने प्रयोग भी किए थे। दक्षिणी अफ्रीका की फिनिक्स-बस्ती और टाल्स्टाय-फार्म में वह बच्चों के स्कूल चलाने में मदद भी कर चुके थे। उनका विश्वास दृढ़ हो चला था कि स्कूलों में किताबी पढ़ाई पर आवश्यकता से अधिक ज़ोर दिया जाता है और छात्रों के चरित्र-निर्माण एवं उन्हें हुनर सिखाने पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। अक्तूबर 1937 में गांधीजी ने प्रांतों के कांग्रेसी शिक्षामंत्रियों और देश के प्रमुख शिक्षा-शास्त्रियों का एक सम्मेलन वर्धा में बुलाया और उनके समक्ष अपने शिक्षा-संबंधी विचारों को रखा। उनके विचारों पर आधारित प्राथमिक शिक्षा की एक विस्तृत योजना तैयार की गई। बुनियादी शिक्षा की यह योजना वर्धा-योजना के नाम से प्रसिद्ध है और जिस समिति ने उसे तैयार किया था उसके अध्यक्ष भारत के प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री डॉ. जाकिर हुसैन थे।

शिक्षा की वर्धा-योजना ने भारतीय शिक्षा को गतानुगति के गर्त से उबारने और नए प्रगतिशील आधारों पर प्रस्थापित करने की दिशा में सोचने के लिए प्रशासकों और शिक्षा-शास्त्रियों को प्रेरित किया। लेकिन इस योजना की आलोचना भी हुई। शिक्षा में शारीरिक श्रम और हस्त कौशल को इतना अधिक महत्त्व देने से क्या पढ़ाई-लिखाई की हानि न होगी ? क्या शिक्षकों को मुखिया बनना भी होगा ? गांधीजी ने वर्धा-योजना के आलोचकों के संदेहों का निवारण करते हुए कहा कि बुनियादी शिक्षा का उद्देश्य छात्रों को कारीगर बनाना नहीं, बल्कि हस्त-कौशल और उनके उपकरणों के द्वारा शिक्षा देना है। गांधीजी ने इसे पुस्तकीय शिक्षा से सर्वथा भिन्न श्रममूलक शिक्षा कहा था। उन्होंने यह भी कहा कि बुनियादी शिक्षा के अंतर्गत पाठशालाओं का प्रयोजन बिक्री के लिए अनगढ़ वस्तुएं तैयार करना नहीं है। लेकिन प्राथमिक स्तर के छात्रों में उन्होंने किसी हुनर का ज्ञान आवश्यक माना और यदि उनकी बनाई वस्तुओं की बिक्री से पाठशाला का खर्च चलाने में अथवा शिक्षकों का वेतन देने में थोड़ी-बहुत सहायता हो सके तो इसे उन्होंने एक अतिरिक्त अच्छाई बताया। सारा ज़ोर किताबी पढ़ाई के स्थान पर हाथ और आँख के उपयोग को समन्वित करनेवाली सच्ची और स्थायी शिक्षा पर था, क्योंकि प्रचलित किताबी पढ़ाई तो इतनी

अस्थायी होती थी कि ग्रामीण बालक पाठशाला छोड़ने के कुछ ही दिनों बाद सब पढ़ा-लिखा भूल जाते थे और जो याद रह भी जाता वह उनके दैनिक जीवन में कुछ काम न आता था।

जब कांग्रेस ने पद-ग्रहण किया तो न तो नेताओं को पता था, न सरकार को ही कि प्रांतों में इस नई साझेदारी के ठीक-ठीक क्या परिणाम होंगे और यह किस तरह चल पाएगी। पुराने इतिहास को, जो पारस्परिक झगड़ों और कटुता से परिपूर्ण था, भुला देना दोनों ही पक्ष के लिए आसान नहीं था। लेकिन रोज़ साथ काम करने से बीच की बहुत-सी दीवारें ढहती गई। महादेवभाई ने बिड़लाजी को लिखा था—"ज़रा सोचिए तो सही कि अहमदाबाद का कमिश्नर गैरेट मुरारजीभाई का स्वागत करने स्टेशन जाता है और उनके साथ रेल के तीसरे दर्ज़े में काफी दूर तक यात्रा भी करता है।[3] प्रांतों में लगभग आधे आई. सी. एस. अफसर यूरोपियन थे। उन्हें काफी मोटी तनख्वाहें मिलती थीं और विधान के अंतर्गत उनकी नौकरियाँ सुरक्षित थीं, फिर भी कइयों ने प्रांतीय स्वराज्य और कांग्रेसी मंत्रियों के अनुकूल अपने को ढालने-बनाने की पूरी-पूरी कोशिश की। चारों ओर फुर्ती और जोश दिखाई देने लगा। शासन के जनवादी स्वरूप के कारण प्रांतीय सचिवालय के एक्जीक्यूटिव अफसरों का काम बहुत अधिक बढ़ गया। शासन के दैनंदिन कामों में स्थानीय नेता भी थोड़ा दखल देने लगे थे। अंग्रेज़ अफसर एक बार पहले प्रांतों में द्वैध शासन-प्रणाली के अंतर्गत काम कर चुके थे, वे अब अपने को प्रांतीय स्वराज्य के अनुकूल बनाने की कोशिश करने लगे, यद्यपि इसमें उन्हें परिश्रम बहुत करना पड़ता था। मनमानी करनेवाले जिलाधिकारियों का राजपाट खतम होने लगा। अब वे पहले की तरह ब्रिटिश सरकार के खैरख्वाहों को इनाम-इकराम, जगह-जागीर और खिताब, मनसब आदि नहीं दे सकते थे। साम्राज्य की शाही परंपराओं में पले-पुसे नौकरशाहों के लिए ऐसी स्थिति को स्वीकार करना सरल नहीं होता था। उस समय के अंग्रेज़ नौकरशाहों की मन:स्थिति का सिर्फ एक ही वाक्य में एक आई. सी. एस. अफसर फिलिप मेसन ने यों वर्णन किया है—"जहाँ हुकूमत की हो, वहाँ मुलाजमत करना बड़ा मुश्किल होता है।"[4] देर-अबेर कांग्रेस और सरकार में संघर्ष तो होना था, लेकिन उस समय टलता रहा, क्योंकि कांग्रेस पदारूढ़ होकर सामाजिक और आर्थिक सुधारों के जोश में थी और सरकार भी अंतर्राष्ट्रीय अस्थिरता के वातावरण में प्रांतों के स्थिर शासन को गड़बड़ी में नहीं डालना चाहती

थी। लेकिन दूसरे महायुद्ध के छिड़ते ही संकट मुँह बाए सामने आ खड़ा हुआ और कांग्रेस एवं सरकार के क्षणिक सहयोग का तत्काल अंत हो गया। यहाँ सांप्रदायिक समस्या पर विचार कर लेना समीचीन होगा, क्योंकि इस समस्या ने भारतीय राजनीति को युद्ध और उसके बाद के समय में भी काफी हद तक प्रभावित और विकृत भी किया है।

---

1. टेंपलवुड, लार्ड (सर सेम्युअल होर)—नाइन ट्रबल्य ईयर्स, पृष्ठ 98।
2. बिड़ला, घनश्यामदास : ‘गांधीजी की छत्रछाया में', पृष्ठ 207।
3. बिड़ला, घनश्यामदास : ‘गांधीजी की छत्रछाया में' : पृष्ठ 243।
4. वुडरफ, फिलिप : 'द गार्जियन', लंदन 1955, पृष्ठ 24।

३४. पाकिस्तान का प्रादुर्भाव

1931 की गोलमेज परिषद् के भारतीय प्रतिनिधि जब समस्या का कोई सर्वसम्मत हल न निकाल पाए तो ब्रिटिश सरकार ने 1937 में सांप्रदायिक निर्णय का अपना हल उनपर थोप दिया। इस निर्णय के द्वारा मुस्लिम नेताओं की सभी मुख्य माँगे स्वीकार कर ली गईं। इस निर्णय में सांप्रदायिक मताधिकार (पृथक् निर्वाचन) का समावेश कांग्रेसी नेताओं के ज़रा भी न सुहाया, लेकिन जबतक कोई सर्वसम्मत हल न निकाला जा सके तबतक के लिए कांग्रेस ने इसे स्वीकार कर लिया। आशा तो यही की गई थी कि खामियों के बावजूद सांप्रदायिक निर्णय से हिन्दू-मुस्लिम विवाद को समाप्त कर जन-शक्ति को रचनात्मक कार्य की ओर मोड़ने में सहायता मिलेगी, लेकिन अगले दस वर्षों की घटनाओं ने सिद्ध कर दिया कि उससे सांप्रदायिक विवाद मिटाने के बजाए अधिकाधिक उग्र और विषम ही होता चला गया।

इस दशाब्दि के इतिहास, हिन्दू-मुस्लिम समस्या और पाकिस्तान के उद्भव को जिन्नासाहब के व्यक्तित्व और उनकी नीतियों के बिना ठीक से समझ पाना प्राय: असंभव है। ब्रिटिश राज्य के अंतिम दिनों में हिन्दू-मुस्लिम विरोध का इस तरह उभरना शायद स्वाभाविक और अवश्यंभावी ही था। राजनैतिक शब्दावली में वह 'उत्तराधिकारों की लड़ाई' थी। लेकिन सांप्रदायिक समस्या ने भारतीय राजनीति को जैसा गलत मोड़ दिया और उसके जो अनिष्टकारी परिणाम हुए, उसका मुख्य कारण कायदे आजम जिन्नासाहब ही थे।

मुहम्मदअली जिन्ना गांधीजी से उम्र में छः साल छोटे थे। गांधीजी की तरह उन्होंने भी विलायत में कानून का अध्ययन किया था, लेकिन वह गांधीजी की तरह धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति नहीं थे। उनकी रुचि मुख्यतः राजनीति में ही थी। वह अपनी जवानी में दादाभाई नौरोजी के व्यक्तित्व से प्रभावित और प्रेरित होकर राजनीति में आए थे। गोखले के वह मित्र थे। बंबई में वकालत और राजनैतिक कार्य करने लगे थे। चालीस-बयालीस की उम्र में वह देश के उच्चकोटि के राजनैतिक कार्यकर्ता और नेता माने जाते थे। 1916 की लखनऊ कांग्रेस में लीग और कांग्रेस के बीच समझौता उन्हीं के प्रयत्नों का सुफल था। उन दिनों जिन्नासाहब सरे देश में 'हिन्दू-मुस्लिम-एकता के मसीहा' के नाम से पुकारे जाते थे।

असेंबली के सदस्य की हैसियत से और उसके बाहर भी जिन्नासाहब सदैव राष्ट्रीयता का पृष्ठपोषण करते थे। वह होमरूल आंदोलन में भी शरीक हुए थे और पहले महायुद्ध में भारतीय सहायता के बदले पूर्ण औपनिवेशिक स्वराज्य की शर्त का उन्होंने समर्थन किया था। 1919 में उन्होंने रौलट बिल का विरोध किया । पंजाब और तुर्की के मामले में वह ब्रिटिश सरकार की नीति के कड़े आलोचक रहे, पर गांधीजी के खिलाफत आंदोलन में शरीक नहीं हुए। असल में कांग्रेस में जैसे ही गांधीजी का वर्चस्व और प्रभाव बढ़ा वह उससे अलग हो गए | भारत के दूसरे नरम नेताओं की भांति जिन्नासाहब भी कांग्रेस को सुशिक्षित, संपन्न भारतीय बुद्धिजीवियों की संस्था बनाए रखने के पक्ष में थे—साल में एक बार बढ़िया अंग्रेज़ी में बहस-मुबाहसा और लच्छेदार भाषण फटकार दिए, वे अखबारों में छप गए, सरकार का ध्यान आकर्षित हो गया और छुट्टी । जीवन में सिर्फ एक बार (दिसंबर 1918 में) उन्होंने बंबई के गवर्नर लार्ड विलिंगडन के विदाई-समारोह की सार्वजनिक सभा के विरोधी प्रदर्शन में भाग लिया था। जन-आंदोलन से वह अपने को हमेशा दूर और काफी ऊँचाई पर रखते थे। जब गांधीजी ने जन-आंदोलन शुरू किया और उसमें शहर और गाँवों के लाखों अनपढ़ लोग हिस्सा लेने लगे तो जिन्नासाहब ने कहा था, “मैं तो इसके नतीजे की बात सोचकर ही काँप उठता हूँ—तबाही में अब कसर ही क्या रह गई है ?”

जिन्नासाहब को गांधीजी की राजनीति से ही नहीं, उनकी धार्मिकता, आत्म-निरीक्षण, विनम्रता, अपनी मर्ज़ी से अपनाई हुई गरीबी, सत्य और अहिंसा आदि से भी बड़ी चिढ़ थी। उनके विचारों और आदर्शों से गांधीजी के सद्गुणों का कहीं भी मेल नहीं बैठता था, इसलिए वह इस सबको गांधीजी की राजनैतिक चाल और पाखंड कहकर दुर-दुराया करते थे। एक बार जिन्नासाहब ने लुई फिशर से कहा था कि “होमरूल सोसाइटी में नेहरू ने मेरे नीचे काम किया और गांधी ने भी लखनऊ में लीग-कांग्रेस के समझौते के समय मेरे हाथ के नीचे काम किया है।” इससे पता चलता है कि उन्हें गांधीजी से यह शिकायत भी थी कि उन्होंने राजनीति में प्रवेश कर उन्हें (जिन्ना को) अनुचित उपायों से प्रमुख स्थान से परे ढकेल दिया। यह तो मानना हीं होगा कि जिन्नासाहब 1916 में मुल्क की बड़ी हस्तियों में थे; लेकिन 1920 में, उनका प्रभाव एकदम खत्म हो गया। ऐसा अकेले जिन्नासाहब के साथ नहीं, और भी कई माडरेट नेताओं के साथ हुआ,

क्योंकि गांधीजी के व्यक्तित्व और नीतियों के कारण जन-सामान्य का प्रबल प्रवाह राजनीति में उमड़ पड़ा था और उसमें केवल जनता के सच्चे नेता ही टिक सकते थे।

1920 के बाद के वर्षों में जिन्नासाहब सेंट्रल अंसेंबली में एक स्वतंत्र दल के नेता की हैसियत से सरकार और कांग्रेस के बीच संतुलनकारी शक्ति बन गए थे, और यह ऐसा काम था, जिसे वह बड़ी कुशलता से कर सकते थे। हिन्दू-मुस्लिम एकता की बातें वह ज़रूर करते थे, लेकिन सरकार हो या कांग्रेस, जो भी उनसे सहयोग माँगता, उससे कड़ी कीमत वसूल करते थे और इस तरह अपनी कीमत को बराबर बढ़ाते जाते थे। नेहरू-रिपोर्ट में सांप्रदायिक समस्या का जो हल सुझाया गया था, उसका उन्होंने ज़बर्दस्त विरोध किया, यहाँतक कि 1928 में नेहरू-रिपोर्ट को ही खत्म कर देना पड़ा। 1933-34 के गांधीजी के सविनय अवज्ञा आंदोलन की उन्होंने उतनी ही मुखालफत की, जितनी पहले असहयोग-आंदोलन की कर चुके थे। गोलमेज परिषद् के वह भी एक सदस्य थे, परंतु वहाँ भी अपनी ढपली अलग ही बजाते रहे। सर सैम्युअल होर ने कहा भी है कि "वह किसी के साथ मिलकर काम करने को राज़ी ही नहीं होते थे।" गोलमेज परिषद् के बाद उन्होंने भारतीय राजनीति को नमस्कार किया और इंग्लैंड में ही बस गए। लेकिन जैसे ही नए विधान के अंतर्गत आम चुनाव का समय आया, वह भारत लौट आए और उन्होंने मुस्लिम लीग के चुनाव में मार्ग-दर्शन किया। लीग को उस चुनाव में मुसलमानों के पाँच प्रतिशत से ज्यादा मत नहीं मिले, लेकिन इस करारी हार के बावजूद जिन्नासाहब ने अगले चार वर्षों में अपनी स्थिति को ऐसा मजबूत कर लिया कि भारत की संवैधानिक प्रगति की कोई बात उनकी रज़ामंदी के बगैर की ही नहीं जा सकती थी।

कई प्रांतों में बहुमत से जीतने के बाद जब गांधीजी ने 1937 की ग्रीष्म ऋतु में कांग्रेस को पद-ग्रहण का आशीर्वाद दे दिया तो कांग्रेसजनों ने फैसला किया कि वह कहीं भी संयुक्त मंत्रिमंडल नहीं बनाएंगे। उनके अपने ही मत इतने अधिक थे कि दूसरों की मदद से मंत्रिमंडल बनाने की कोई आवश्यकता नहीं थी। यह आशंका भी थी कि संयुक्त मंत्रिमंडल के आपसी समझौतों और झगड़ों के कारण कहीं कांग्रेस कमज़ोर न हो जाए और यदि हो गई तो देश को स्वतंत्र करने का काम पिछड़ जाएगा। फिर प्रांतीय कौंसिलों के कुल 450 मुस्लिम स्थानों में से कांग्रेस केवल 58

स्थानों पर चुनाव लड़ी और 26 स्थानों में विजयी हुई थी। कांग्रेस ने मुस्लिम कौंसिलरों को भी अपने मंत्रिमंडल में लिया, लेकिन तभी जब उन्होंने कांग्रेस के प्रतिज्ञापत्र पर दस्तखत कर दिए। इस फैसले का औचित्य जो भी रहा हो एक तो यह गांधीजी की सलाह के खिलाफ किया था और दूसरे इसने मुस्लिम लीग और खासतौर पर जिन्नासाहब को बहुत नाराज़ कर दिया। जिस पृथक् निर्वाचन पर उन्होंने इतनी आशाएं लगा रखी थीं, वह एक तरह से बेकार ही हुआ। न तो मुसलमान कांग्रेस में शरीक हो सके और न उन्हें शासन में मनचाहा हिस्सा ही मिला।

अब तो जिन्नासाहब की झुंडझलाहट का कोई पार न रहा। 1937 के बाद के उनके भाषणों और लेखों की उग्रता उनके रोष को बहुत अच्छी तरह प्रकट करती है। वह क्रोधावेश में एक के बाद एक ऐसे काम करते गए कि हिन्दू -मुस्लिम संकट अपने चरम बिंदु को पहुँच गया। कांग्रेस मंत्रिमंडलों में मुस्लिम लीग का एक भी प्रतिनिधि नहीं था, यह क्या कांग्रेस का मामूली गुनाह था ! जिन्नासाहब को बहाना चाहिए था और वह उन्हें मिल गया । बस, कांग्रेस के खिलाफ मुसलमानों की झूठी-सच्ची शिकायतों का उन्होंने ढेर लगाना शुरू कर दिया। "सचाई तो यह है कि कांग्रेस ब्रिटिश संगीनों पर अपनी हुकूमत कायम करना चाहती है।" "कांग्रेस मुस्लिम लीग की घेराबंदी करके उसकी ताकत को तोड़ना चाहती है।" कांग्रेस के संविधान-परिषद् के प्रस्ताव की, जिसका कि गांधीजी ने हिन्दू-मुस्लिम समस्या के हल के रूप में समर्थन किया था, उन्होंने खूब खिल्ली उड़ाई—"ब्रिटिश सरकार से यह कहना कि वह दूसरे राष्ट्र की संविधान-परिषद् बुलाए और बाद में उस परिषद् के बनाए विधान को ब्रिटिश पार्लमेंट की मंजूरी के लिए पेश करना बचपना नहीं तो और क्या है !" और गांधीजी तो जिन्नासाहब के माने हुए दुश्मन थे। "गांधीजी डिक्टेटर हैं। कांग्रेस की नकेल गांधीजी के हाथ में है ।" "सेगाँव में अभी उजेला ही नहीं हुआ।" "गांधी हिन्दू राज्य में मुसलमानों को गुलाम ही नहीं बना रहा, उनका खात्मा भी कर रहा है।" आदि-आदि वाक-बाण वह महात्माजी पर चलाने लगे।

कांग्रेस के खिलाफ जिन्नासाहब का गर्जन-तर्जन और उनका कांग्रेसी-विरोधी अभियान दिनोंदिन तेज़ी पकड़ता गया। 1939 के बसंत में उन्होंने फरमाया कि नए विधान के अंतर्गत प्रांतीय सरकारें मुस्लिम अधिकारों का संरक्षण करने में पूरी तरह असफल रही हैं। कुछ महीनों के

बाद उन्होंने एक ऐसे बड़े मुल्क में, जहाँ कई जातियाँ बसती हों, जनवादी ढंग की सरकार को ही 'काबिले एतराज' बताया। उन्होंने वाइसराय और गवर्नरों पर यह आरोप लगाए कि वे कांग्रेस द्वारा शासित प्रांतों में मुसलमानों के हितों की रक्षा के लिए अपने विशेषाधिकारों का प्रयोग नहीं करते। 1939 के नवंबर महीनों में जब कांग्रेस मंत्रिमंडलों ने भारत को उसकी स्वीकृति के बिना युद्ध में सम्मिलित किए जाने के विरोध-स्वरूप इस्तीफे दे दिए तो जिन्नासाहब ने ढाई बरस के कांग्रेसी राज्य के अन्याय और अत्याचार से मुसलमानों के मुक्त होने के उपलक्ष्य में ‘मुक्ति दिवस' मनाने की घोषणा की। उनका कहना था कि ढाई बरस के कांग्रेसी राज्य में मुसलमानों की राय की ज़रा भी कद्र नहीं की गई, मुस्लिम संस्कृति को नष्ट किया गया, इस्लाम धर्म और मुसलमानों के सामाजिक जीवन पर आक्रमण किए गए और मुस्लिमों की अर्थ-व्यवस्था एवं राजनैतिक अधिकारों को कुचला गया।

विधान में प्रांतों के गवर्नरों को अल्पसंख्यकों के अधिकारों की रक्षा के विशेष अधिकार प्रदान किए गए थे। संयुक्त प्रांत के गवर्नर सर हैरी हेग ने अपनी गवर्नरी का कार्यकाल पूरा होने के बाद सार्वजनिक रूप से यह स्वीकार किया था कि “कांग्रेसी मंत्री मुसलमानों के साथ न्याय और सद्भावना के व्यवहार पर विशेष ध्यान देते रहे हैं और उन्होंने हमेशा निष्पक्ष रहने की कोशिश की है, यहाँतक कि बाद में तो उन्हें इसके लिए हिन्दू सभा की आलोचना का पात्र भी बनना पड़ा और इस गलत आरोप का सामना करना पड़ा कि कांग्रेसी मंत्रिमंडल हिन्दुओं के साथ न्याय नहीं करते।“

1940 के प्रारंभ में कांग्रेस के अध्यक्ष डॉ. राजेन्द्रप्रसाद ने जिन्नासाहब को लिखा कि वह फेडरल कोर्ट के किसी भी जज के द्वारा कांग्रेस मंत्रिमंडलों पर लगाए गए आरोपों की जाँच करवाने के लिए तैयार हैं। जिन्नासाहब ने इस सुझाव को ठुकरा दिया और बदले में रायल कमीशन की माँग की । वह जानते थे कि युद्धकाल में ऐसे विवाद के लिए रायल कमीशन नियुक्त नहीं किया जा सकेगा और उन्हें इन मनमाने आरोपों को लगाने का मौका मिलता रहेगा। असल में उनके मनगढ़ंत आरोपों का उद्देश्य कांग्रेस अथवा ब्रिटिश सरकार का विरोध उतना नहीं जितना कि मुसलमानों को उकसाना था। उनकी इस नीति को उस समय ‘घरेलू इस्तेमाल का नुस्खा' कहा

गया था। हिन्दू और मुसलमानों के बीच की खाई को बढ़ाने और पारस्परिक मतभेदों को असाध्य करनेवाली हर बात का उपयोग करके वह अपनी इस स्थापना को सिद्ध करना चाहते थे कि भारत में जनवादी ढंग की सरकार असंभव है।

शीघ्र ही जिन्नासाहब ने दो राष्ट्रों की बात शुरू कर दी और उसे सैद्धांतिक जामा भी पहनाने लगे—हिन्दू और मुसलमानों में केवल धार्मिक भेद ही नहीं, सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक अंतर भी है। 1940 के मार्च महीने में मुस्लिम लीग ने अधिकृत रूप से दो राष्ट्रों के सिद्धांत को स्वीकार कर लिया और घोषणा की कि मुसलमानों को भारत के संषंध में ऐसी कोई वैधानिक योजना स्वीकार न होगी जो उत्तर-पश्चिम और पूर्व के मुस्लिम बहुमतवाले प्रदेशों को स्वतंत्र राज्य मानकर तैयार न की गई हो। गोलमेज-परिषद् में जिस 'पाकिस्तान' की मुस्लिम नेताओं ने “कुछ विद्यार्थियों की खामखयाली” कहकर उपेक्षा कर दी थी, अब वही मुस्लिम लीग का अंतिम ध्येय हो गया था।

जब गांधीजी ने दो राष्ट्रों के सिद्धांत और लीग की पाकिस्तान की माँग के बारे में सुना तो चकित रह गए और उन्हें सहसा विश्वास न हुआ। धर्म का प्रयोजन लोगों के दिलों को मिलाना है, या अलग करना ? उन्होंने दो राष्ट्रों के सिद्धांत को 'असत्य' कहा। इससे कड़ा शब्द उनके शब्दकोश में दूसरा था ही नहीं। उन्होंने राष्ट्रीयता के गुणों की व्याख्या की। उन्होंने कहा कि धर्म के परिवर्तन से राष्ट्रीयता नहीं बदलती। धर्म भिन्न-भिन्न हो सकते हैं, लेकिन उससे संस्कृति भिन्न नहीं हो जाती। “बंगाली मुसलमान हिन्दू बंगाली की ही भाषा बोलता है, वैसा ही खाना खाता है और अपने हिन्दू पड़ोसी की ही तरह अपना मनोरंजन करता है। वेश-भूषा भी दोनों की एक-जैसी होती है, यहाँतक कि जिन्नासाहब का नाम भी मुझे तो हिन्दू नाम ही मालूम पड़ता है, पहली बार जब मैं उनसे मिला तो जान भी न पाया कि वह मुसलमान हैं ।”

उन्होंने कहा कि भारत के विभाजन का अर्थ होगा हिन्दू और मुसलमानों के सदियों के काम पर पानी फेर देना। वे कैसे स्वीकार कर लेते कि हिन्दू धर्म और इस्लाम परस्पर विरोधी संस्कृतियों और सिद्धांतों के प्रतीक हैं और भारत के आठ करोड़ मुसलमानों का उनके हिन्दू पड़ोसियों से कोई वास्ता नहीं ? और मान भी लिया जाए कि धर्म और संस्कृतियाँ भिन्न हैं तो

उससे दोनों के आय, उद्योग, सफाई, न्याय आदि समान हितों में क्या बाधा पड़ती है ? जो भी अंतर है, वह धर्म के पालन करने के तरीके में है, जिससे एक धर्म-निरपेक्ष राज्य का कोई भी वास्ता न होगा।

उन्होंने बहुत ही व्यथित होकर कहा था—"भारत के टुकड़े करने से पहले मेरे टुकड़े कर दो।" लेकिन उनकी व्यथा का किसीपर कोई असर न हुआ और वह पाकिस्तान के संबंध में अपने विचारों से एक भी आदमी को सहमत न कर सके। 6 अप्रैल, 1940 के 'हरिजन' में उन्होंने स्वीकार भी किया—"आठ करोड़ मुसलमानों को शेष भारत की, चाहे उसका बहुमत कितना ही प्रबल क्यों न हो, इच्छा के आगे झुकाने का कोई अहिंसात्मक तरीका मुझे नहीं मालूम। मुसलमानों को भी आत्म-निर्णय का उतना ही अधिकार होना चाहिए, जितना कि शेष भारत को है। इस समय हम एक संयुक्त परिवार हैं और उस परिवार का कोई भी सदस्य बँटवारे की माँग कर सकता है।"

एक अहिंसावादी का सिर्फ यही रुख हो सकता था, यद्यपि यह रुख जिन्नासाहब के इस विश्वास को बढ़ानेवाला था कि अगर मुस्लिम लीग अपनी माँग पर अड़ी रही और मुस्लिम जनमत को अपने साथ ला सकी तो एक दिन पाकिस्तान वास्तविकता बन जाएगा। जिन्नासाहब ने अंत तक पाकिस्तान की सीमाएं निर्धारित नहीं की और न इस संबंध में अपनी ओर से कोई ठोस प्रस्ताव ही रखा। उन्होंने अपने हर अनुयायी को उसकी इच्छानुसार पाकिस्तान की कल्पना के लिए आज़ाद छोड़ दिया था। धर्म-प्राण मुसलमान उसे मजहब और शरीयत का पाबंद पैगंबर साहब के उपदेशों पर चलनेवाला पुराने जमाने का कट्टर इस्लामी राज्य समझते थे, तो धर्म-निरपेक्ष 'अपने' उस राज्य से सभी प्रकार की भौतिक सुख-सुविधाएं प्राप्त करने की आकांक्षा रखते थे।

भारतीय राष्ट्र-भक्तों को उस समय गहरा आघात पहुँचा, जब उन्होंने मुसलमानों को और खासतौर पर उसके मध्यम वर्ग को पाकिस्तान का ज़ोर-शोर से समर्थन करते देखा। लेकिन इसके कई कारण थे। सरकारी नौकरियों, व्यवसाय और उद्योग की दौड़ में पिछड़े हुए मुस्लिम मध्यमवर्ग पर मुस्लिम राज्य के विचार का हावी हो जाना स्वाभाविक था। प्रतिस्पर्द्धामूलक समाज में जल्दी से सफलता दिलानेवाले उपाय का सभी अवलंबन करना चाहते हैं। बंगाल और पंजाब के मुस्लिम

ज़मींदारों को पाकिस्तान उन 'खतरनाक राजनीतिज्ञों' से मुक्ति दिलाने का साधन था, जो ज़मींदारी उन्मूलन की बातें करने लगे थे। मुस्लिम अफसर इसलिए खुश थे कि नए निजाम में उन्हें हिन्दू काफिरों की मातहती में काम नहीं करना होगा। मुसलमान व्यापारी और उद्योगपति हिन्दू प्रतिद्वंद्वियों के अनुचित हस्तक्षेप से मुक्त मनमाना मुनाफा बटोरने के सपने देखने लगे थे।

जैसाकि अंग्रेज़ लेखक डब्लू, सी. स्मिथ ने अपनी पुस्तक 'भारत में आधुनिक इस्लाम' (माडर्न इस्लाम इन इंडिया) में लिखा है, पाकिस्तान भारतीय मुसलमानों की मनोवैज्ञानिक आवश्यकता की पूर्ति का साधन था। "मुस्लिम लीग एक उभरते हुए राष्ट्रवाद की संस्था का रूप ले रही थी, जिसकी केन्द्रीय शक्ति तो सत्ता-लोलुप व्यावसायिक हित थे, लेकिन जाग्रत कृषि-वर्ग भी जिसका समर्थन करने लगा था और जिसे साहित्य एवं संस्कृति के क्षेत्र से भी नव-जागरित श्रद्धाभक्ति का रसायन मिलने लग गया था।"

दूसरे महायुद्ध के छिड़ जाने पर युद्धजन्य परिस्थितियों ने बँटवारे की विचारधारा के प्रसार-प्रचार में और सहायता पहुँचाई। कांग्रेसी मंत्रिमंडलों के इस्तीफे ने मुस्लिम लीग को राजनैतिक मंच हथियाने का अवसर दे दिया। कांग्रेस के पदारूढ़ रहते उसके मंत्रिमंडलों पर यह आरोप लगाना कि उन्होंने मुस्लिम अल्पसंख्यकों पर अत्याचार किए हैं, आसान न होता, कांग्रेसी मंत्रिमंडलों की ओर से ज़रूर विरोध किया जाता और सचाई लोगों के सामने आ जाती। अब गवर्नर ऐसे लोगों का, जो उनके विरोधी हो गए थे, बचाव क्यों करते ? सरकार महायुद्ध के कारण मुस्लिम लीग से बिगाड़ भी नहीं करना चाहती थी। वाइसराय और सलाहकारी मंडल जिन्नासाहब को नाराज़ करने के ज़रा भी पक्ष में न था। वैसे पाकिस्तान की माँग से ब्रिटिश सरकार को भी कुछ कम अचंभा नहीं हुआ था, लेकिन फिर भी यह एक तरह से उनके हित में ही हुआ। वह एक बार फिर दुनिया को यह दिखा सके कि भारत की वैधानिक प्रगति अंग्रेज़ों से नहीं भारतीयों के आपसी मतभेदों की ही वजह से रुकी हुई थी। ब्रिटिश सरकार ने तो पाकिस्तान को स्वीकार करने का संकेत अपनी ओर से अगस्त 1940 की घोषणा में दे भी दिया, जब उसमें यह कहा गया कि "भारत की शांति और उसके कल्याण का विचार करके ही ब्रिटिश सरकार अपनी ज़िम्मेदारियों को किसी ऐसे भारतीय सरकार को नहीं सौंप सकती, जिसकी सत्ता को देश के बड़े और

शक्तिशाली तत्त्व मानने से इनकार करें।" मतलब यह था कि ब्रिटिश सरकार जिन्नासाहब के हल पर विचार करने को तैयार थी। और मजे की बात यह कि अखिल भारत मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान-संबंधी अपना प्रस्ताव सिर्फ मार्च, 1940 में ही पास किया था। यदि लड़ाई का इतनी का जमाना न होता तो इसमें संदेह ही है कि पाकिस्तान के प्रस्ताव का जल्दी यों गौण समर्थन सरकार के द्वारा किया जाता। लेकिन युद्ध का सबल हाथ घटना-चक्र को अपनी गति और अपनी इच्छा के अनुसार चला रहा था, जिसे ब्रिटिश सरकार और भारतीय नेताओं में से न तो कोई जान सका और न उसपर नियंत्रण ही कर पाया।

३५. भारत और द्वितीय महायुद्ध

1938 में यूरोप पर युद्ध के बादल मंडरा रहे थे। 1914-18 का महायुद्ध, जैसी कि आशा थी, "युद्ध को सदा के लिए समाप्त करनेवाला युद्ध" साबित नहीं हुआ। शांति-संधि ने जितनी समस्याओं को सुलझाया उनसे कहीं अधिक समस्याओं को पैदा कर दिया था। राष्ट्र-संघ के माध्यम से 'सामूहिक सुरक्षा' की प्रणाली से जितनी आशाएं की गई थीं वे सब निष्फल सिद्ध हुईं। अमरीका के न रहने, रूस को अलग कर दिए जाने और सदस्य राष्ट्रों द्वारा अंतर्राष्ट्रीय हितों की अपेक्षा राष्ट्रीय हितों को अधिक प्रधानता देने के कारण राष्ट्र-संघ बहुत ही अक्षम हो गया था। राष्ट्र-संघ की दुर्बलता और अक्षमता का पहला परिचय उस समय मिला, जब जापान ने उसके अधिकार को चुनौती दी और अपनी विस्तारवादी नीति पर अमल करना शुरू कर दिया। अबीसीनिया पर इटली के आक्रमण, जर्मन द्वारा विसैन्यीकृत क्षेत्र पर अधिकार एवं आस्ट्रिया के राज्यापहरण और स्पेन के गृहयुद्ध में विदेशी हस्तक्षेप आदि घटनाओं ने सिद्ध कर दिया कि अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में जिसकी लाठी उसकी भैंस का कानून चेल रहा था। जनवाद और राजनैतिक एवं व्यक्तिगत स्वतंत्रता खतरे में पड़ गई थी। तानाशाही सरकारों ने अपने-अपने देश में सारे विरोधियों को कुचल दिया था और वे युद्ध की पूरी तैयारियों के साथ दूसरे देशों पर आक्रमण करने का मौका तलाश रही थीं। यूरोप के छोटे राष्ट्र थर-थर काँप रहे थे, पता नहीं कब, किसपर और किधर से हमला हो जाए ! समूचा सभ्य संसार भयाक्रांत हो गया था और लगता था, जैसे अंधकार का युग ही आ गया हो।

1931 में गांधीजी की इंग्लैंड-यात्रा के समय वहाँ के एक अखबार 'स्टार' ने एक व्यंग्य चित्र छापा था, जिसमें कोपीनधारी गांधीजी को काली कमीजवाले मुसोलिनी, भूरी कमीजवाले हिटलर, हरी कमीजवाले डि वेलरा और लाल कमीजधारी स्तालिन के साथ खड़ा दिखाया गया था। उस व्यंग्य-चित्र का शीर्षक था, "और इसके पास तो कोई भड़कीली कमीज ही नहीं !" शीर्षक का शब्दार्थ भी सही था और ध्वन्यार्थ भी। मानवी भाई-चारे में विश्वास रखनेवाले अहिंसावादी के निकट राष्ट्र और जातियाँ भले और बुरे में, मित्र और शत्रु में विभाजित नहीं होतीं। इसका यह मतलब नहीं कि गांधीजी आक्रांता और आक्रमण से आशंकित देशों में भेद नहीं करते

थे। नेहरूजी ने उन्हें यूरोप की स्थिति का जो परिचय दिया था, उसके आधार पर उनकी पूरी सहानुभूति आक्रांत देशों के ही साथ हो, यह स्वाभाविक था। स्वयं गांधीजी अपने जीवन-भर हिंसा की शक्तियों से संघर्ष करते रहे थे। पिछले तीस बरसों से भी अधिक समय से वह एक ऐसी अहिंसात्मक शैली का विकास करने में लगे थे, जो व्यक्ति और समूह दोनों की समस्याओं को प्रभावशाली ढंग से हल कर सके। उसका अहिंसा का सिद्धांत और सत्याग्रह की शैली कई बरसों में जाकर परिपक्व हुई थी। बोअर-युद्ध में और प्रथम महायुद्ध में उन्होंने एंबुलेंस दल गठित किए थे और अंग्रेज़ों की भारतीय सेना के लिए रंगरूट भरती का काम भी किया था। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि उन्होंने खुद बंदूक नहीं उठाई थी । बाद में स्वयं उन्हींने स्वीकार किया है—“अहिंसा की दृष्टि में तो मैं अपने उन कार्यों का बचाव नहीं कर सकता। हथियारों से लड़नेवालों और रेड क्रास का काम करनेवालों में मैं कोई फर्क नहीं करता। दोनों ही लड़ाई में हिस्सा लेते और उसके उद्देश्य में मदद पहुँचाते हैं। युद्ध के गुनाह के अपराधी तो दोनों ही हैं।"

पहले और दूसरे महायुद्धों के बीच के बीस बरसों में ब्रिटिश साम्राज्य की नेकनीयती में गांधीजी का विश्वास पूरी तरह डिग गया था | निरंतर के मनन और अनुभव से अहिंसा की शक्ति में उनका विश्वास उत्तरोत्तर दृढ़ होता गया था। और उनकी अखिल देशीय यात्राओं एवं तीन-तीन देशव्यापी सत्याग्रह-अभियानों के कारण भारत की जनता भी अहिंसा-धर्म से परिचित हो चुकी थी। स्वतंत्रता-प्राप्ति के संघर्ष में वह अहिंसा पर इतना अधिक ज़ोर देते थे कि अनेक बार तो साधन ही साध्य की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता था। नवंबर 1931 में तो उन्होंने यहाँतक कह दिया था, “मै बार-बार दुनिया को यह बताना चाहूँगा कि अहिंसा की कीमत पर तो मुझे अपने देश की आज़ादी भी मंजूर न होगी।”

युद्ध का खतरा जितना बढ़ता गया और हिंसा की शक्तियाँ जितनी ही बलवती होती गईं, अहिंसा की अमोघता में गांधीजी का विश्वास भी उसी परिमाण में बढ़ता गया और वह अपनी आस्था की घोषणा भी बार-बार उतने ही ज़ोर से करते रहे। उन्होंने अनेक बार इस बात को ज़ोर देकर कहा कि विश्व-इतिहास की इस संकट की घड़ी में भारत को देने के लिए उनके पास एक संदेश है, और भय-विकंपित मानवता के नाम भारत के पास एक संदेश है, और अपने साप्ताहिक

पत्र 'हरिजन' के पृष्ठों में उन्होंने सैनिक आक्रमण और राजनैतिक अत्याचारों का अहिंसात्मक ढंग से विरोध करने के उपायों का वर्णन किया। उन्होंने कमज़ोर राष्ट्रों को यह सलाह दी कि वे अधिक शस्त्र-सज्जित राज्यों का संरक्षण प्राप्त करके अथवा अपने सैन्यबल को बढ़ाकर नहीं, अपितु अहिंसात्मक प्रतिरोध के ही द्वारा आक्रमणकारी से आत्म-रक्षा करें। अहिंसावादी अबीसीनिया को राष्ट्र संघ से न तो शस्त्रों की आवश्यकता होगी, न संकटकालीन सहायता की। अगर अबीसीनिया का हर बालक, बूढ़ा और जवान इटली के सैनिकों का सहयोग देना बंद कर दे तो आक्रमणकारी सैनिकों को उनकी लाशों पर चलकर ही विजय तक पहुँचना होगा और जिस देश को वह अपने अधिकार में करेंगे, वह एकदम निर्जन और शून्य होगा।

यह कहा जा सकता है कि गांधीजी मानवी सहनशविति से बहुत अधिक अपेक्षा कर रहे थे। शत्रु के आगे समर्पण करने की अपेक्षा एक-एक आदमी, औरत और बच्चे का मर जाना सामान्य साहस की बात नहीं । इसके लिए अतुलित बल चाहिए। लेकिन गांधीजी का अहिंसात्मक प्रतिरोध संकट से जान बचाने का सुविधाजनक सिद्धांत तो था नहीं कि उसकी ओट ले ली जाती और न वह तानाशाहों की हिंसा और पशुबल के आगे स्वेच्छा से आत्म-समर्पण ही था। अहिंसात्मक प्रतिरोध करनेवाले को तो चरमकोटि के बलिदान के लिए तैयार रहना होता था।

1938-39 के घटना-प्रवाहों में यूरोप के अनेक शांतिवादियों (पैसिफिस्ट) के विश्वास कच्चे मिट्टी के घड़े साबित हुए थे। जी. डी. एच. कोल ने अपनी आत्मव्यथा को 'आर्यन पाथ' के एक लेख में बड़ी ही सशक्त शैली में व्यक्त किया था—"दो वर्ष पहले तक मैं अपने को युद्ध, हत्या-व्यापार और हिंसा का कट्टर विरोधी समझता था। लेकिन आज युद्ध के प्रति मेरी घृणा ही इन विभीषिकाओं को रोकने के लिए मुझे युद्ध का खतरा उठाने को प्रेरित कर रही है। मैं युद्ध का जोखिम लेने को तैयार हो जाऊँगा, लेकिन मेरी अंतरात्मा तो आदमी का वध करने के विचार-मात्र से काँपती है। किसी का वध करने की अपेक्षा मैं मर जाना पसंद करता हूँ; लेकिन स्वयं मरने की अपेक्षा किसी का वध करना ही क्या आज मेरा कर्तव्य नहीं है ?"

मानवता के समक्ष नित-नूतन विभीषिकाएं खड़ी की जा रही थीं। विनाशक यंत्रों को क्रमश: पूर्णता प्रदान की जा रही थी। हवाई जहाज ने मार की हद को बहुत लंबा कर दिया था। लेकिन

युद्ध के यंत्र और शस्त्रास्त्र कितने ही संहारक और भयानक क्यों न हों, मनुष्य का हाथ और मस्तिष्क ही उन्हें संचारित करता है। युद्ध की घोषणा बनानेवालों का सदा ही एक निश्चित प्रयोजन रहा है और वह ही विजित देशों की जनता और वहाँ के साधनों का शोषण करना। आक्रमणकारी आतंक का सहारा लेता है और जबतक विरोधी को अपनी इच्छा के आगे झुका नहीं लेता आतंक की मात्रा को निरंतर बढ़ाता जाता है। “लेकिन मान लीजिए,” गांधीजी लिखते हैं, “एक देश की जनता यह फैसला कर ले कि वह आततायी की इच्छा को कभी पूरा करेगी ही नहीं और न आततायी के तरीके से अपने पर किए जा रहे अत्याचारों का जवाब ही देगी, तब तो आततायी को अपना आतंक और अत्याचार बंद करना ही होगा। अगर दुनिया के तमाम चूहे मिलकर यह फैसला कर लें कि वे बिल्ली से नहीं डरेंगे और खुशी-खुशी उसके मुँह में चले जाएंगे तब तो चूहे जी जाएंगे ।”

अहिंसा आक्रमण का मुकाबला करने का सिर्फ एक दंग ही नहीं, ज़िन्दगी का एक तरीका भी है। नाज़ी और फासिस्ट सैन्यवाद का मूल उद्देश्य नए साम्राज्यों की स्थापना करना था—एक निर्मम होड़ थी, जिसके द्वारा वे कच्चे माल के जखीरे और नए बाज़ार प्राप्त करना चाहते थे। इस प्रकार युद्ध को जन्म देनेवाले कारण थे मनुष्य का अतिदृप्त लोभ और राष्ट्रीयता को मानवता से ऊँचा स्थान देनेवाली जातीय अहम्मन्यता। युद्ध की विभीषिकाओं से विश्व का उद्धार करने के लिए केवल यही काफी नहीं है कि सैन्यवाद का अंत किया जाए, प्रति- स्पर्द्धात्मक लोभ, भय और घृणा को मिटाना भी उतना ही आवश्यक है, क्योंकि युद्ध की जड़ें इन बुराइयों में ही तो पनपती हैं।

जान मिडलटन मरी ने सितंबर 1938 के 'आर्यन पाथ' के एक लेख में गांधीजी को वर्तमान विश्व का सबसे बड़ा ईसाई उपदेशक बताते हुए लिखा था—“मुझे तो ईसाई-प्रेम के ज्योति-पुंज के अतिरिक्त पश्चिमी सभ्यता के उद्धार की और कोई आशा, कोई मार्ग, दिखाई नहीं देता। केवल दो ही विकल्प हैं—या तो यह ईसाई-प्रेम अथवा विश्व-व्यापी हत्या, जिसकी कल्पनामात्र से आत्मा थर्रा उठती है।"

लेकिन ईसाई-प्रेम का ज्योति-पुंज तो प्रज्वलित हुआ नहीं, यहाँ-वहाँ जो दीये टिमटिमा रहे थे, वे भी एक-एक कर बुझते चले गए और सितंबर 1939 में जब यूरोप में दूसरा महायुद्ध छिड़ा तो वहाँ सिर्फ गहरा अंधेरा छाया हुआ था।

3 सितंबर, 1939 को भारत के राजपत्र में यह गंभीर घोषणा की गई थी—"मैं विक्टर अलेक्जेंडर जान, लिनलिथगो का मार्क्वेस, भारत का गवर्नर-जनरल और पदेन एडमिरल (नौ सेनापति), प्राप्त सूचनाओं का प्रामाणिकता का निश्चय कर लेने के पश्चात् यह घोषणा करता हूँ कि हमारे सम्राट और जर्मनी के मध्य युद्ध आरंभ हो गया है।"

पं. जवाहरलाल नेहरू अपने महान् ग्रंथ 'हिन्दुस्तान की कहानी'[1] में लिखते हैं—"एक आदमी ने, और वह भी विदेशी, चालीस करोड़ लोगों को बिना उनकी राय के लड़ाई में झोंक दिया।" 1935 के गवर्नमेंट ऑव इंडिया एक्ट के अंतर्गत भारत में संघीय सरकार बन नहीं पाई थी और देश के शासन का अंततोगत्वा उत्तरदायित्व ब्रिटिश पालमेंट पर था, इसलिए वाइसराय की उक्त घोषणा वैधानिक दृष्टि से तो अवश्य आपत्तिजनक नहीं थी, लेकिन व्यावहारिक दृष्टि से वह निश्चय ही एक बड़ी भूल थी और वह इसलिए और भी अनिष्टकारी थी, क्योंकि कांग्रेस की सहानुभूति पूर्णत: मित्र-राष्ट्रों के साथ थी। कांग्रेस की विदेश-नीति के प्रणेता पं. जवाहरलाल नेहरू थे, जिनका फासिस्टवाद-विरोधी रुख जग-जाहिर हो चुका था और जो तानाशाही राज्यों के साथ किसी भी तरह का समझौता करने को तैयार नहीं थे।

यदि उस समय ब्रिटिश सरकार थोड़ी-सी सूझबूझ से काम लेती तो भारतीय जनता की सक्रिय सहानुभूति मित्र-राष्ट्रों को मिल सकती थी। तुरंत ही अपनी भूल वाइसराय की समझ में आ गई और उन्होंने उसे सुधारने के प्रयत्न आरंभ कर दिए। उन्होंने तार देकर गांधीजी को मिलने के लिए बुलाया। गांधीजी तुरंत शिमला पहुँचे। उन्होंने लार्ड लिनलिथगो को आश्वासन दिया कि उनकी सहानुभूति इंग्लैंड और फ्रांस के साथ है, लेकिन अहिंसावादी होने के नाते वह मित्र-राष्ट्रों का केवल नैतिक समर्थन कर सकते थे। युद्ध की चर्चा करते-करते जब बमबारी में पार्लमेंट भवन और वेस्ट मिन्स्टर एबे के ध्वंस की संभावना का जिक्र आया तो गांधीजी व्याकुल हो गए। उन्हें हिंसा की विजय होती दिखाई दे रही थी।

युद्ध के आरंभ के दिनों में वह बहुत ही उद्विग्न और अशांत थे। उस समय उन्होंने लिखा था—"मैं बहुत ही खिन्न और असहाय हो गया हूँ। मैं अपने मन में हर समय ईश्वर को यह उलहना देता हूँ कि तू ऐसे वीभत्स कृत्य क्यों होने देता है ! अपनी अहिंसा मुझे निर्बल और निर्वीर्य प्रतीत होने लगती है। लेकिन रोज ईश्वर से झगड़ा करने के बाद मुझे यही जवाब मिलता है कि न ईश्वर निर्बल है और न अहिंसा ही। निर्बलता और नामर्दी तो आदमियों में है।" हिंसा से हिंसा के मुकाबले को वह निरर्थक समझते थे। उनका अपना रास्ता बिल्कुल साफ था—"मैं कार्य-समिति का मार्ग-दर्शन करूँ या किसी की भावनाओं को ठेस पहुँचाए बिना इस शब्द का प्रयोग कर सकूँ तो सरकार का, मेरा निश्चित प्रयोजन तो किसी एक या दोनों को अहिंसा के मार्ग पर ले जाना होगा, चाहे वह मार्ग कितना ही अस्पष्ट क्यों न हो।"[2]

युद्ध छिड़ते ही यूरोप के अधिकांश शांतिवादी विचलित हो गए थे, लेकिन उन आरंभिक दिनों में भी गांधीजी अपने शांतिवाद पर दृढ़ और अविचलित थे। यद्यपि वह जानते थे कि अहिंसा के द्वारा भारत को विदेशी आक्रमण से बचाने का उनका प्रस्ताव व्यावहारिक रूप से शायद ही किसी कांग्रेस जन को स्वीकार हो, लेकिन स्वयं गांधीजी के लिए तो कोई गत्यंतर नहीं था। परीक्षा की उस कठिन घड़ी में वह अहिंसा में अपनी आस्था और विश्वास को कैसे छोड़ देते ? "मेरी आस्था अकेले मुझी तक सीमित है। देखना है कि इस एकाकी पथ पर मेरा कोई सहयात्री है भी या नहीं...संगी-साथी एक हो या बहुत-से, मैं तो ज़ोर देकर यही कहूँगा कि अपनी सीमाओं की रक्षा के लिए भी भारत हिंसा का अवलंबन न करे, यही उसके लिए श्रेयस्कर है।"[3]

यदि राजनीति के संबंध में बिस्मार्क की यह परिभाषा स्वीकार कर ली जाए कि वह जितना हो सके उतने को ही करने की कला है तो गांधीजी का उस समय का रवैया राजनीतिज्ञ का नहीं, पैगंबर का था। आस्था की दृढ़ता के कारण प्राय: उनके निकट आदर्श और वास्तविकता में कोई अंतर नहीं रह जाया करता था। विश्वव्यापी युद्ध के समय जब देश राजनीतिज्ञों की युद्ध-योजना के केवल मोहरे बनकर रह गए थे, गांधीजी इस बात की घोषणा कर रहे थे कि स्वतंत्र भारत का कोई शत्रु न होगा। वह भूल गए थे कि विश्व-आधिपत्य के हामी शक्ति के मद में चूर, भूमि के भूखे, मानव-द्वेषी दुरात्मा राज्य और उनके शासन अपने अभीष्ट लाभ के लिए उचित-अनुचित कुछ भी

नहीं देखा करते। इतना ही नहीं, गांधीजी ने एक कदम और आगे जाकर कहा कि यदि भारतवासियों को दृढ़ता से 'न' कहना आ जाए तो विदेशी सेनाओं का उसपर आक्रमण करने का साहस ही न होगा और भारत की अर्थ-व्यवस्था का इस तरह पुनर्गठन होना चाहिए कि किसी बाहरी शक्ति को उसपर आक्रमण करने का लोभ ही न हो। लेकिन भारत की अर्थव्यवस्था के पुनर्गठन के लिए समय ही कहाँ था और जो जनता अंग्रेज़ी राज्य को हटाने के लिए आवश्यक अहिंसा को भी न अपना सकी थी, वह सशस्त्र विदेशी आक्रमण को निरस्त करने लायक अहिंसा-बल अपने में सहसा कैसे पैदा कर लेती ?

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस शांतिवादियों का संगठन नहीं थी । उसने सिर्फ स्वतंत्रता-संघर्ष के लिए अहिंसा को अपनाया था। सब समय और सब मौकों के लिए उसे अपना धर्म और व्रत नहीं बना लिया था। कई प्रमुख कांग्रेसी नेता, जिनमें पं. मोतीलाल नेहरू भी थे, अपने जीवनकाल में स्वतंत्र भारत में पुलिस और सेना की समाप्ति की बात नहीं सोचते थे, प्रत्युत ब्रिटिश इंडियन आर्मी के भारतीयकरण की योजनाओं पर विचार किया करते थे और इस समय भी अधिकांश कांग्रेसी नेता युद्ध को अहिंसा की दृष्टि से नहीं, स्वराज्य-प्राप्ति की दृष्टि से देख रहे थे। पहले महायुद्ध के समय तिलक और श्रीमती बेसेंट आदि नेताओं ने युद्ध में सहायता के बदले औपनिवेशिक स्वराज्य की माँग की थी। पच्चीस वर्ष बाद तो देश इतना जाग गया था कि उससे कम पर राज़ी होने की बात सोची भी नहीं जा सकती थी। भारतीय राष्ट्रभक्त इस विरोधाभास की तो कल्पना भी नहीं कर सकते थे कि उनका अपना देश गुलामी की जंजीरों में जकड़ा रहे और वे चेकोस्लावाकिया अथवा पोलैंड की आज़ादी और जनवाद की रक्षा के लिए हज़ारों मील दूर यूरोप की भूमि पर लड़ने के लिए जाएं। भारतीय राष्ट्रभक्तों के पक्ष में, जो वास्तव में मित्र-राष्ट्रों की सहायता करने के लिए उत्सुक थे, एक सबल कारण और भी था। अब युद्ध बस्ती से कहीं दूर दो पेशेवर सेनाओं की मुठभेड़ नहीं रह गया था, संपूर्ण राष्ट्र और समस्त जनता को सैनिकों अथवा श्रमिकों के रूप में युद्ध के उद्धम में लगाना आवश्यक हो गया था। ऐसी स्थिति में जबतक इंग्लैंड भारत को समान संघर्ष में बराबरी का हिस्सेदार स्वीकार नहीं कर लेता, विश्व-युद्ध में भारतवासी अपनी संपूर्ण क्षमता से योगदान कर ही कैसे सकते थे ?

14 सितंबर, 1939 के प्रस्ताव के द्वारा कांग्रेस कार्य-समिति ने नाज़ी आक्रमणकारियों के प्रतिरोध में लगे राष्ट्रों से सहानुभूति व्यक्त करते हुए नाज़ीवाद के खिलाफ लड़े जा रहे युद्ध में अपना सहयोग देने की तत्परता प्रदर्शित की। लेकिन वह सहयोग "बराबरी के आधार पर पारस्परिक सहमति से एक ऐसे कार्य के लिए था, जिसे दोनों सर्वथा उपयुक्त समझते थे।" कार्य-समिति ने ब्रिटिश सरकार से जनवाद और साम्राज्यवाद के संबंध में अपनी नीति और उद्देश्यों की स्पष्ट शब्दों में घोषणा करने की माँग की और जानना चाहा कि भारत में उनका अमल कैसे होगा ? "किसी भी घोषणा की खरी कसौटी है वर्तमान में उसपर अमल, क्योंकि वर्तमान ही आज के कार्यों का संचालन और भावी कार्यों का निर्धारण करता है।" इस प्रकार कांग्रेस ने ब्रिटेन के सामने दो बुनियादी बातें रखीं—एक तो यह कि वह अपने युद्धोद्देश्यों का स्पष्टीकरण करे और दूसरे यह कि जिस स्वतंत्रता और जनवाद की रक्षा के लिए भारत से सहायता माँगी जा रही है, उन्हें पहले भारत में लागू किया जाए।

1940 की गर्मियों में नाज़ी सेनाओं ने सारे पश्चिमी यूरोप को रौंद डाला। अकेला इंग्लैंड अत्यधिक प्रतिकूल परिस्थितियों में प्रबल शत्रु से जिस वीरता के साथ लोहा ले रहा था, उसने भारतीयों में उसके प्रति प्रशंसा और सहानुभूति के भावों को जगा दिया। भविष्य भी साफ नज़र आ रहा था। यदि इंग्लैंड नाज़ी विजय-वाहिनियों को रोकने में असफल हो जाता तो हिटलर को भूमध्यसागर के रास्ते भारत में घुस आने से दुनिया की कोई शक्ति रोक नहीं सकती थी। इस आसन्न संकट के कारण कांग्रेस ने युद्ध में अपने सहयोगियों की शर्तों को थोड़ा और नरम कर दिया। कार्य-समिति ने कहा कि यदि ब्रिटिश सरकार इस समय युद्ध के बाद भारत को स्वतंत्र करने की स्पष्ट घोषणा कर दे तो कांग्रेस देश की रक्षा के लिए अस्थायी राष्ट्रीय सरकार में सम्मिलित हो जाएगी। कांग्रेस सहयोग के लिए कितनी उत्सुक थी, इसका पता इसी बात से चल जाता है कि वह गांधीजी का नेतृत्व छोड़ने के लिए भी तैयार हो गई थी। नाज़ियों के सैनिकवाद और आतंकपूर्ण कार्रवाइयों के विरोधी और मित्र राष्ट्रों के प्रति सहानुभूतिशील होते हुए भी गांधीजी बराबर इस बात पर ज़ोर देते आ रहे थे कि हिंसा को केवल अहिंसा के द्वारा ही प्रभावोत्पादक ढंग से समाप्त किया जा सकता है। वह कांग्रेस से भी यही घोषणा करवाना चाहते थे कि देश पर

सशस्त्र आक्रमण होने पर उसका अहिंसात्मक प्रतिरोध किया जाएगा। लेकिन जब इसके बदले कांग्रेस ने युद्ध-संचालन और देश-रक्षा के निमित्त अस्थायी सरकार में सम्मिलित होने की तत्परता दिखलाई तो गांधीजी ने उस नीति से अपना संबंध-विच्छेद कर लिया, क्योंकि वह हिंसा पर आधारित थी और किसी भी प्रकार की हिंसात्मक नीति में उनका विश्वास नहीं था।

---

1. सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली से प्रकाशित।
2. हरिजन, 30 सितंबर, 1939।
3. हरिजन, 14 अक्तूबर, 1939।

३६. खाई बढ़ती गई

1940 की उन संकटपूर्ण गर्मियों में कांग्रेस के नेता सरकार की ओर से सद्भावना-संकेत की प्रतीक्षा कर रहे थे। उन्होंने युद्ध में सहयोग की अपनी शर्तों को बहुत नरम कर दिया था। लेकिन उन्हें निराश ही होना पड़ा। 8 अगस्त, 1940 को सम्राट की सरकार की ओर से वाइसराय ने जो घोषणा की वह बहुत आशाप्रद नहीं थी।

उस घोषणा में नया विधान बनाने के भारतीयों के अधिकार को स्वीकार कर लिया गया था, लेकिन साथ ही यह भी जोड़ दिया गया था कि अभी इंग्लैंड जीवन-मरण की लड़ाई में व्यस्त है, इसलिए नया विधान तैयार करने का काम तुरंत शुरू नहीं किया जा सकेगा। घोषणा में भारत और इंग्लैंड के पुराने संबंधों का और भारत के प्रति इंग्लैंड की ज़िम्मेदारियों का विस्तार से उल्लेख करते हुए कहा गया था कि इस संकट-काल में इंग्लैंड उन दायित्वों से विमुख नहीं हो सकता और अंत में यह भी कहा गया था कि “ब्रिटिश सरकार भारत की शांति और उसके कल्याण का विचार करके अपनी ज़िम्मेदारियाँ किसी ऐसी भारतीय सरकार को नहीं सौंप सकती, जिसकी सत्ता को देश के बड़े और शक्तिशाली तत्त्व मानने से इनकार करें और न ब्रिटिश सरकार उन तत्त्वों के साथ ज़ोर-ज़बर्दस्ती करने में ऐसी भारतीय सरकार की सहायता ही कर सकती है।” असल में यह कहने की तो कोई आवश्यकता ही नहीं थी। कोई नहीं चाहता था कि ब्रिटिश सरकार बड़े और शक्तिशाली तत्त्वों के साथ ज़ोर-जबर्दस्ती करे। लेकिन सरकार का उद्देश्य मुस्लिम लीग को रिझाना, कांग्रेस-लीग-समझौते को और मुश्किल कर देना और ऐसा वातावरण तैयार कर देना था, जिससे सत्ता के हस्तांतरण की आवश्यक शर्त, भारत के सब दलों और जातियों का सर्वसम्मत समझौता, पूरी न हो सके।

कुछ वैधानिक परिवर्तन भी किए गए। वाइसराय की कौंसिल को बढ़ाकर उसमें कुछ 'प्रातिनिधिक भारतीयों' को ले लिया गया और एक युद्ध सलाहाकार परिषद् (वार एडवाइज़र कौंसिल) भी गठित की गई, जिसमें प्रांतों, रियासतों और दूसरे निहित हितों के प्रतिनिधियों को रखा गया।

सरकार की दृष्टि में अगस्त की घोषणा 'अधिकतम' थी, लेकिन कांग्रेस की न्यूनतम माँग से भी वह इतनी न्यून थी कि कांग्रेस उसे स्वीकार करने को राज़ी न हो सकी। देश और सरकार के सामने जो संकट मुँह बाए खड़ा था, उसके निवारण में अधिकांश कांग्रेसी नेता अपना सहयोग देने को बहुत उत्सुक थे, लेकिन सरकार सहयोग लेने को तैयार न थी, इसलिए उन्हें बड़ी निराशा और दु:ख भी हुआ।

गांधीजी युद्ध-काल में सरकार को परेशान नहीं करना चाहते थे और कांग्रेसी नेता भी मित्र-राष्ट्रों की स्थिति के प्रति चिन्तित थे, इसलिए किसी जन-आंदोलन का सवाल तो उस समय उठ भी नहीं सकता था। लेकिन वाइसराय की अगस्त घोषणा ने कांग्रेसजनों को इतना विक्षुब्ध कर दिया था कि नाराज़ी जाहिर करने के लिए किसी सशक्त कदम की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी।

पं. जवाहरलाल नेहरू ने कांग्रेसजनों की उस समय की निराशा और विक्षोभ का वर्णन 'दो रास्ते' नामक एक लेख में किया है—"उस घोषणा ने हमारे दिलों को जोड़ रखनेवाले रहे-सहे मुलायम धागों को भी तोड़ दिया।" सितंबर 1940 में बंबई में कार्य-समिति की बैठक हुई और उसमें सरकारी प्रस्तावों को पूरी तरह नामंजूर कर दिया गया । युद्ध में सहायता पहुँचाने के लिए सरकार से सहयोग करने की बात ही खत्म हो गई थी, इसलिए कांग्रेस ने पुनः गांधीजी से नेतृत्व ग्रहण करने के लिए कहा। युद्ध में सहयोग करना अहिंसा की नीति के प्रतिकूल था, इसलिए गांधीजी ने संबंध-विच्छेद कर लिया था। अब कांग्रेस फिर से सरकार की नीति का विरोध करना चाहती थी। इसलिए उसने गांधीजी का मार्गदर्शन पुनः स्वीकार कर लिया।

जिस प्रश्न ने कांग्रेस और सरकार के बीच की खाई को और चौड़ा कर दिया था, वह शत-प्रतिशत राजनैतिक था। ब्रिटिश सरकार ने युद्ध की समाप्ति पर भारत की स्वतंत्रता का आश्वासन देने और उस दिशा में अभी कुछ ठोस कदम उठाने से इनकार कर दिया था। लेकिन गांधीजी ने अपना सरकार-विरोधी अभियान राजनैतिक आधार पर नहीं, शांतिवादी और युद्ध-विरोधी आधार पर संगठित किया। उनका कहना था कि ब्रिटिश सरकार भारतीयों को न स्वाधीनता दे सकती है, न देने का वादा कर सकती है, लेकिन वह उन्हें भाषण की स्वतंत्रता और उस स्वतंत्रता के अंतर्गत

भारत को उसकी मर्जी के खिलाफ महायुद्ध में घसीटे जाने का विरोध और युद्ध-मात्र का विरोध करने का अधिकार तो दे ही सकती है और देना चाहिए।

कांग्रेस का बाम पक्ष और गांधीजी के कुछ सहयोगी भी जन-आंदोलन शुरू न करने के पक्ष में थे, लेकिन गांधीजी ने उनकी एक न सुनी। उन्होंने चुने हुए लोगों के द्वारा सत्याग्रह शुरू करने का फैसला किया। सत्याग्रहियों के लिए उन्होंने जो नियमावली बनाई थी, उसमें दो बातों पर खासतौर से ज़ोर दिया गया था—जनता को उत्तेजित नहीं करेंगे और अधिकारियों को हैरान नहीं करेंगे। व्यक्तिगत सत्याग्रह आरंभ करने से पहले गांधीजी ने यह नियमावली वाइसराय को भी भेज दी थी। पहले सत्याग्रही के रूप में आचार्य विनोबा भावे का चुनाव किया गया। उन्होंने 17 अक्तूबर, 1940 को वर्धा के समीप पवनार गाँव में युद्ध-विरोधी भाषण करके सत्याग्रह का श्रीगणेश किया। चार दिन बाद वह गिरफ्तार कर लिए गए। विनोबाजी के बाद 7 नवंबर को दूसरी बारी पं. जवाहरलाल नेहरू की थी, लेकिन सरकार ने उन्हें एक सप्ताह पूर्व इलाहाबाद जाते हुए रास्ते में ही गिरफ्तार कर जेल भेज दिया था और चार साल की कैद की सज़ा भी दे दी थी। नवंबर के मध्य में आंदोलन का द्वितीय चरण आरंभ हुआ, जिसका नामकरण गांधीजी ने 'प्रतिनिधि सत्याग्रह' किया था। इसमें भाग लेने के लिए कांग्रेस की कार्य-समिति, महासमिति और केन्द्रीय तथा प्रांतीय कौंसिलों के कांग्रेसी सदस्यों में से सत्याग्रहियों का चुनाव किया गया था। साल खतम होते-होते चार सौ कांग्रेसी विधायक जेलों में थे। इन चार सौ में 29 भूतपूर्व कांग्रेसी मंत्री भी थे। जनवरी, 1941 में व्यक्तिगत सत्याग्रह ने तीसरे चरण में प्रवेश किया। इस बार सत्याग्रहियों की सूचियाँ स्थानीय कांग्रेस समिति बनाती थी और गांधीजी उन्हें स्वीकृति देते थे। अप्रैल, 1941 में जब आंदोलन का चौथा चरण शुरू हुआ तो उसमें साधारण कांग्रेसजनों को भी भाग लेने की स्वीकृति दे दी गई। 15 मई, 1941 तक सरकारी सूचनाओं के अनुसार 25,069 सत्याग्रही बंदी जेल में सज़ाएं काट रहे थे। लेकिन गांधीजी ने सारा आंदोलन इस ढंग से संचालित किया था कि देश में कहीं उत्तेजना की कोई घटना न घटी और न वातावरण ही तनावपूर्ण हुआ। इस युद्ध-विरोधी सत्याग्रह को सामूहिक सविनय अवज्ञा का रूप देने के लिए वह तैयार न हुए—“जन-

आंदोलन का न तो कोई औचित्य है और न वातावरण ही। यह सरकार को जान-बूझकर परेशान करना होगा और साथ ही अहिंसा का भंग भी।"

जब 'हिन्दू' समाचार-पत्र ने यह लिखा कि व्यक्तिगत सत्याग्रह से युद्ध पर कोई खास प्रभाव नहीं पड़ा तो गांधीजी ने जवाब दिया था कि उसका उद्देश्य युद्ध-प्रयत्नों में बाधा पहुँचाना तो कभी था ही नहीं। भारत-मंत्री मि. एमरी ने अपने एक बयान में व्यक्तिगत सत्याग्रह को “जितना विवेकहीन उतना ही खेदजनक भी” बताया था और कहा कि “वह ढीले-ढाले तरीके से चल रहा है, जिसमें लोगों की कोई दिलचस्पी नहीं है।” पर्ल बंदरगाह पर जापानी आक्रमण के तीन दिन पहले तक जिस भारत सरकार को स्वयं उसीके शब्दों में, “विजय प्राप्त होने तक युद्ध-प्रयत्नों में भारत के सभी ज़िम्मेदार लोगों के पूर्ण समर्थन का पक्का-पूरा विश्वास था,“ उसने व्यक्तिगत सत्याग्रह में गिरफ्तार और सज़ा काट रहे सभी राजनैतिक बंदियों को रिहा करने का फैसला कर लिया।

जापान के युद्ध में प्रवेश करते ही लड़ाई भारत के दरवाज़े तक पहुँच गई। अमरीकी जहाजी बेड़े को तहस-नहस कर जापानी सेना तूफानी वेग से पश्चिमी प्रशांत महासागर में बढ़ी चली आ रही थी। 15 फरवरी, 1942 को सिंगापुर का पतन हुआ और जापानी बेड़े के लिए बंगाल की खाड़ी तक पहुँचने का रास्ता साफ हो गया। नौ-शक्ति के रूप में अंग्रेज़ों का पतन हो गया था। मलाया और बर्मा को पददलित कर जापानी पूर्वी और दक्षिणी भारत पर चढ़ दौड़ने के लिए तैयार खड़े थे। जापानियों की इस त्वरित विजय ने जहाँ उनके सैन्य बल और रण-कौशल की धाक जमा दी, वहीं यह भी प्रकट कर दिया कि उनके द्वारा विजित देशों में न प्रतिरोध की इच्छा थी, न उत्साह।

गांधीजी ने जापानियों के इस नारे की कि “एशिया सिर्फ एशियावासियों के लिए है” निन्दा की थी और चीन से सहानुभूति प्रकट करने के लिए जापानी माल के बहिष्कार का समर्थन किया था। चीन के प्रति नेहरूजी की सहानुभूति जग-जाहिर थी। इसलिए अगर जापान भारत पर हमला करके दो-एक लड़ाइयाँ जीत लेता तो उसे यहाँ सक्रिय सहयोग तो न मिल पाता, लेकिन देशव्यापी पराजयवाद और निष्क्रियता के कारण यहाँ अपने पाँव जमाने का मौका अवश्य मिल जाता। इस

आसन्न संकट में धुरी राष्ट्रों का पूरी शक्ति से प्रतिरोध करने में अपना और देश का सहयोग देने की कांग्रेस की उत्कंठा बहुत ही तीव्र हो गई थी।

व्यक्तिगत सत्याग्रह के बंदियों की रिहाई से गांधीजी को, जैसाकि उन्होंने कहा भी था, “न तो प्रसन्नता हुई, न प्रशंसा का ही भाव मन में आया ।” लेकिन घटनाचक्र बहुत तेज़ी से चल रहा था। दिसंबर, 1941 और जनवरी 1942 की उन सर्दियों में मित्र-राष्ट्रों की स्थिति उतनी ही संकटपूर्ण थी, जितनी 1940 की गर्मियों में फ्रांस के पतन के बाद हो गई थी। सी. राजगोपालाचार्य के नेतृत्व में कांग्रेस का एक वर्ग तुरंत समझौता करके जापानियों के खिलाफ ब्रिटिश सरकार से संयुक्त मोर्चा बनाने के पक्ष में था। अधिकांश कांग्रेसी नेता जापानी खतरे के खिलाफ सरकार की मदद करने को तैयार थे, लेकिन चाहते थे कि पहले सरकार अपनी ओर से सद्भावना का संकेत करे।

उधर ब्रिटिश सरकार के विचारों में भी युद्धजन्य परिस्थिति के कारण काफी परिवर्तन हो गया था। चर्चिल प्रधानमंत्री थे । वह भारत की स्वाधीनता के कट्टर विरोधी थे। दिसंबर 1941 में जब उन्होंने अमरीकी राष्ट्रपति रूज़वेल्ट से वाशिंगटन में भेंट की और रूज़वेल्ट ने भारत की समस्या का उल्लेख किया तो चर्चिलसाहब को जैसे ततैया ने डंक मार दिया। स्वयं उन्हीं के शब्दों में—“मैं इस कदर नाराज़ हुआ कि फिर उन्होंने उस सवाल को छेड़ा ही नहीं ।” लेकिन उन्हीं चर्चिल साहब को अब भारत का राजनैतिक संकट हल करने के लिए मजबूर हो जाना पड़ा। सिंगापुर के पतन के दस दिन बाद, 25 फरवरी को उन्होंने अपने युद्धकालीन मंत्रिमंडल की एक उपसमिति भारतीय समस्या का अध्ययन करने और उसका हल सुझाने के लिए नियुक्त की। इस समिति के सदस्यों में साइमन और एटली विधि-आयोग के सदस्य रह चुके थे। जेम्स ग्रिग और जान एंडरसन उपनिवेश-विभाग की भारतीय शाखा में उच्च पदों पर थे, स्टैफर्ड क्रिप्स प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण भारतीय नेताओं से मिल चुके थे, भारतीयों की स्वतंत्र होने की अभिलाषा से सहानुभूति रखनेवाले और भारतीय राजनीति के अच्छे जानकार थे एवं एमरी ब्रिटिश सरकार के भारत-मंत्री थे। 11 मार्च को चर्चिल ने हाउस आव कामंस को यह सूचना दी कि उनका मंत्रिमंडल भारतीय

समस्या पर एक सर्व-सम्मत निर्णय कर चुका है और सदन के नेता स्टैफर्ड क्रिप्स भारतीय नेताओं से चर्चा करने के लिए शीघ्र ही भारत-यात्रा करनेवाले हैं।

स्टैफर्ड क्रिप्स निश्चय ही इस कार्य के लिए सर्वथा उपयुक्त व्यक्ति थे। वह जब 22 मार्च को ब्रिटिश सरकार के प्रस्ताव लेकर नई दिल्ली पहुँचे तो बहुत ही आशावान थे। उन्होंने भारतीय संकट को हल करने के लिए प्रमुख अधिकारियों एवं विभिन्न भारतीय नेताओं से जिन सुझावों पर चर्चा की वे संक्षेप में इस प्रकार थे—युद्ध की समाप्ति के तत्काल बाद प्रांतीय कौंसिलों का चुनाव होगा और उन कौंसिलों के निम्न सदन एक विधान-निर्मात्री परिषद् का चुनाव करेंगे। रियासतें उसमें अपने नामज़द प्रतिनिधि भेजेंगी। यह परिषद् 'भारतीय संघ' का, जो दूसरे उपनिवेशों के समकक्ष 'स्वतंत्र उपनिवेश' होगा, संविधान बनाएगी। उस भारतीय संघ को, यदि वह चाहे तो, ब्रिटिश राष्ट्रमंडल से अलग होने का, अधिकार भी होगा। ब्रिटिश सरकार उस संविधान को इस शर्त पर ज़ारी करेगी कि "यदि ब्रिटिश भारत का कोई प्रांत नए विधान को स्वीकार न करना चाहे तो उसे वर्तमान वैधानिक स्थिति को कायम रखने का पूरा अधिकार रहे, किन्तु साथ ही यह व्यवस्था भी रहे कि वह प्रांत यदि बाद में विधान में आना चाहे तो आ सके।" मिस्टर एटली ने इन सुझावों को बड़ा ही "साहसपूर्ण कदम" और "इनके निर्माताओं के लिए प्रशंसनीय काम" कहा था।

लेकिन भारतीय नेताओं को ये प्रस्ताव एकदम निराशाजनक और निस्सार प्रतीत हुए थे। गांधीजी ने (क्रिप्स ने उन्हें तार देकर वर्धा से मिलने के लिए बुलाया था) क्रिप्स से कहा था, "यदि आपके यही प्रस्ताव थे तो आपने यहाँ आने का कष्ट क्यों उठाया ?...मैं आपको सलाह दूँगा कि आप अगले ही हवाई जहाज से ब्रिटेन लौट जाएं।" जवाहरलालजी स्वीकार करते हैं कि जब उन्होंने पहली बार उन प्रस्तावों को पढ़ा तो उनका "दिल बुरी तरह बैठ-सा गया"; "और ज्यों-ज्यों मैंने उनको पढ़ा, मेरी निराशा बढ़ती गई।" यह सच है कि भारतीयों के आत्म-निर्णय के अधिकार को स्वीकार कर लिया गया था और उस अधिकार को कार्यान्वित करने का ढंग और समय भी साफ शब्दों में निश्चित कर दिया गया था, लेकिन प्रांतों और रियासतों को अलग होने का अधिकार देकर देश के बीसियों "स्वतंत्र राज्यों" में विभाजित करने की व्यवस्था भी कर दी

गई थी, जिससे भारत की राजनैतिक और आर्थिक एकता के टुकड़े-टुकड़े हो जाते। यह तो दूसरे रूप में मुस्लिम लीग की पाकिस्तान की माँग को स्वीकार कर लेना था। क्रिप्स ने अपने एक रेडियो भाषण में कहा भी था—"जो लोग आपके साथ एक ही कमरे में प्रवेश करना न चाहें, उन्हें राज़ी करते हुए यह कहना कि भीतर जाने के बाद आप बाहर निकल नहीं सकते, बुद्धिमानी की बात नहीं।" कुल मिलाकर कांग्रेसी नेताओं की प्रतिक्रिया यही रही कि जिन्ना को बँटवारे की माँग को स्वीकार करने में क्रिप्स-योजना लिनलिथगो की 1940 अगस्त की घोषणा से एक कदम आगे है। 1940 में पाकिस्तान एक कल्पना-मात्र था, मार्च 1942 में वह एक राजनैतिक संभावना बन गया।

कांग्रेसी नेता क्रिप्स-योजना के संवैधानिक पक्ष से सहमत न हो सके, लेकिन उन्होंने उसके भारत की रक्षा-संबंधी तात्कालिक सुझावों पर विचार करके समझौते का कोई रास्ता निकालने की उत्सुकता अवश्य प्रदर्शित की । क्रिप्स और वाइसराय के साथ भारतीय नेताओं की कई बैठकें हुईं और उनमें वाइसराय की कौंसिल के भारतीय रक्षा-सदस्य के उत्तरदायित्वों और अधिकारों के संबंध में विशद् चर्चाएं हुईं। इन चर्चाओं में राष्ट्रपति रूज़वेल्ट के निज़ी दूत कर्नल लुई जानसन भी हिस्सा ले रहे थे। लेकिन ये चर्चा-वार्ताएं भंग हो गईं। भंग होने का कारण भारतीय रक्षा-सदस्य के कर्तव्यों और अधिकारों के संबंध में मतभेद उतना नहीं था, जितना कि अंतरिम सरकार के स्वरूप और अधिकारों के संबंध में ।[1]

इंग्लैंड पहुँचने के बाद क्रिप्स ने कहा कि उन्होंने तो सभी मिलनेवालों के सामने शुरू से ही यह बात साफ कर दी थी कि नए विधान के लागू होने से पहले कोई वैधानिक परिवर्तन न किया जा सकेगा। हो सकता है कि क्रिप्स का शुरू से यही इरादा रहा हो, लेकिन कांग्रेसी नेताओं पर तो उनकी बातों का कुछ दूसरी ही तरह का असर हुआ था। समझौता-वार्ताओं के दौरान उन्होंने 'राष्ट्रीय सरकार' और 'मंत्रि-परिषद्' आदि शब्दों का खूब प्रयोग किया था, जिससे कांग्रेसी नेताओं को यह आशा हो चली थी कि वाइसराय के वैधानिक नेतृत्व में मंत्रिपरिषद् के पूरे अधिकारोंवाली नई सरकार शीघ्र ही काम करने लगेगी। इस गलतफहमी के लिए कांग्रेसी नेताओं की वे धारणाएं भी ज़िम्मेदार हो सकती हैं, जिनका क्रिप्स-योजना के सुझावों में कोई उल्लेख नहीं था। नेहरूजी

ने भी बाद में इस ओर संकेत करते हुए लिखा था कि “हो सकता है कि समझौता के लिए कांग्रेसी नेताओं की उत्सुकता ने उनको कुछ झूठी आशाएं बंधा दी हों ।“

24 अप्रैल 1942 को लखनऊ के ‘नेशनल हेराल्ड' ने क्रिप्स-समझौता-वार्ता को 'अमरीका का दबाव’ बताते हुए उसकी असफलता पर यह टिप्पणी की थी—“यह विश्व-जनमत को अपने अनुकूल बनाने और असफलता के लिए पूरी तरह भारतीयों को ज़िम्मेदार ठहराने का ब्रिटेन का एक निरा तमाशा था।“ इससे भारतीयों के गुस्से और निराशा का पता तो चल जाता है, लेकिन ब्रिटिश सरकार के साथ न्याय नहीं होता। जिस सरकार के प्रधान मंत्री ने स्पष्ट शब्दों में कह दिया था कि वह ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा के लिए पदारूढ़ है, उसका दिवाला निकालने के लिए नहीं, उसी सरकार के द्वारा भारत के आत्मनिर्णय की स्पष्ट स्वीकारोक्ति बहुत बड़ी बात थी। गलती यही हुई कि वैधानिक सुझावों में दोनों को खुश करने की कोशिश की गई। भारत में जनवादी सरकार की स्थापना की बात कहकर कांग्रेस को, और उसे बीसियों छोटे-छोटे स्वतंत्र राज्यों में विभक्त करने की बात कहकर मुस्लिम लीग, रियासतों एवं अन्य निहित स्वार्थों को। जिन्नासाहब के विचारों और तरीकों के कारण भारत के राजनैतिक भविष्य का प्रश्न इस बुरी तरह उलझ गया था कि ब्रिटेन की युद्धकालीन मंत्रिपरिषद् की एक उपसमिति के जल्दी-जल्दी तैयार किए हुए प्रस्ताव से वह सुलझ नहीं सकता था। फिर उस प्रस्ताव में संशोधनों की कोई गुंजायश भी नहीं रह गई थी । “जैसा है वैसा स्वीकार करो या अस्वीकार कर दो” वाली शर्त ने तो उसकी सफलता की संभावनाओं को और भी कम कर दिया था।

युद्ध ऐसे खतरनाक मोड़ पर पहुँच गया था कि संवैधानिक सुझावों से असहमत होते हुए भी कांग्रेसी नेता उस जटिल समस्या को स्थगित कर बढ़े चले आ रहे जापानी खतरे के खिलाफ देश को संगठित करने के लिए तैयार हो गए थे। लेकिन जिस युद्ध में भारतीयों का सहयोग प्राप्त करने के उद्देश्य से क्रिप्स-समझौता-वार्ता शुरू की गई थी वह दुर्भाग्य से युद्ध में सहयोग देने के ही तरीकों को लेकर भंग हो गई और वह भी ऐसे समय जब कांग्रेसी नेता जापानियों से लड़ने के लिए नई सेनाएं बनाने और ग्राम तथा नगर-रक्षा-दल संगठित करने को सबसे ज्यादा उत्सुक थे।

राष्ट्रपति रूज़वेल्ट को नई दिल्ली की पल-पल की खबरें उनके निज़ी दूत द्वारा भेजी जा रही थीं। समझौता-वार्ता भंग हो जाने से उन्हें बड़ा धक्का लगा और उन्होंने हापकिन्स के द्वारा चर्चिल को यह संदेश भेजा कि अमेरिकी जनता की यह समझ में नहीं आता कि यदि ब्रिटिश सरकार युद्ध के बाद भारतीय प्रांतों और रियासतों को साम्राज्य से पृथक् होने का अधिकार देने को तैयार है तो अभी उन्हें स्वशासन का अधिकार देने से क्यों इनकार कर रही है ? उन्होंने 'सार रूप में हमारे ही ढंग की' राष्ट्रीय सरकार भारत में स्थापित करने के लिए फिर से प्रयत्न करने का सुझाव भी चर्चिल को दिया, जो कार्यान्वित नहीं हुआ, क्योंकि क्रिप्स भारत से चल पड़े थे। चर्चिल ने इस संबंध में लिखा है—"भगवान को धन्यवाद कि घटनाओं के कारण ऐसा पागलपन संभव न हुआ।"

कांग्रेस अध्यक्ष ने क्रिप्स को लिखा था—"भारत की सुरक्षा ही हमारे और सभी भारतवासियों के निकट सबसे मुख्य प्रश्न है।" भारत की सुरक्षा के ही लिए भारतीय जनता राष्ट्रीय सरकार चाहती थी, लेकिन ऐसे समय भी ब्रिटिश सरकार भारत के राजनैतिक दलों के हाथ में सत्ता सौंपने को तैयार न हुई और अपनी जिद पर अड़ी रही। भारत सरकार के अधिकांश केन्द्रीय और प्रांतीय अधिकारियों को युद्ध में कांग्रेस के सहायता-प्रयत्नों पर ज़रा भी विश्वास न था। फ़िलिप बुडरफ के शब्दों में—"कांग्रेस की मदद से न तो कोई रंगरूट, न एक जोड़ी जूता और न बम का एक गोला ही मिल सकता था।" चर्चिल ने भी 1942 की जनवरी में कहा था कि कांग्रेस के हाथ में सत्ता सौंप देने से युद्ध के प्रयत्नों में कुछ अधिक सहायता मिल जाने की आशा निरी दुराशा ही सिद्ध होगी। "परस्पर विरोधी दलों के हाथ में देश की सुरक्षा का भार देने से तो सारा काम ही चौपट हो जाएगा।" मार्च 1942 में चर्चिल क्रिप्स-प्रस्ताव के लिए राज़ी तो हो गए, परंतु कांग्रेस के प्रति उनका (और उनके प्रति कांग्रेस का) अविश्वास बराबर बना रहा। राष्ट्रपति रूज़वेल्ट के समझौता-वार्ता को फिर से शुरू करने के सुझाव को अस्वीकृत करने के संबंध में उनका कहना था कि "यदि इस संकट की घड़ी में सारे मामले को खटाई में डाला गया तो वह भारत की सुरक्षा की ज़िम्मेदारी लेने को तैयार नहीं हो सकेंगे।"

इंग्लैंड पहुँचकर क्रिप्स ने अपनी असफलता का सारा दोष गांधीजी के सिर मढ़ दिया। उन्होंने तो यहाँतक कह दिया कि कांग्रेस की कार्य-समिति ने प्रस्ताव को स्वीकार करने संबंधी प्रस्ताव भी कर लिया था, लेकिन गांधीजी ने उसे रद्द करवा दिया, जबकि सचाई यह थी कि पहले तो गांधीजी दिल्ली आने को ही तैयार न थे। क्रिप्स के आग्रह पर राज़ी हुए तो उनके सुझावों में अपना संदेह प्रकट किया और समझौता-चर्चा को आरंभिक स्थिति में ही छोड़कर वर्धा लौट गए। अंतिम निर्णय तो कार्यसमिति ने ही किया था और उसके सदस्यों को गांधीजी की राय मालूम थी, लेकिन साथ ही वे यह भी जानते थे कि वे जो निर्णय करेंगे, गांधीजी उसके बीच नहीं आएंगे।

ऐसा कहा जाता है कि गांधीजी ने क्रिप्स-प्रस्ताव को दिवाला निकलती हुई बैंक के नाम बाद की तारीख का चेक[2] बताया था। गांधीजी का कहना है कि “मैंने ऐसी तो कोई बात नहीं कही, लेकिन सच देखा जाए तो वह प्रस्ताव बाद की तारीख का चेक ही था। ब्रिटिश सरकार के रुख ने, भविष्य पर ज़ोर देने और वर्तमान को योंही छोड़ देने की नीति ने उन्हें हतोत्साह कर दिया था। वर्तमान में होनेवाले परिणामों के आधार पर ही वह नीतियों के गुण-दोष को परखने के आदी थे। यदि ब्रिटेन ने भारत के स्वतंत्र होने के अधिकार को वास्तव में स्वीकार कर लिया था, या यदि गांधीजी की ही भाषा में कहें कि उसका हृदय-परिवर्तन हो गया था तो उसके संकेत वह रोज़मर्रा के प्रशासन में भी देखना चाहते थे, न कि केवल सरकारी दस्तावेज़ों में। लेकिन उन्हें इस तरह का कोई संकेत नहीं दिखाई दे रहा था।

---

1. क्रिप्स-योजना के अंतर्गत भारत की रक्षा और युद्ध में सहयोग के संबंध में यह सुझाव था : “भारत के सम्मुख जो संकटकालीन उपस्थिति है, उसके बीच में और जबतक नया विधान लागू न हो त्बतक सम्राट की सरकार भारत की रक्षा, नियंत्रण और निर्देशन का उत्तरदायित्व अपने हाथ में रखेगी। भारतीय जनता के सहयोग से संपूर्ण सैनिक, नैतिक तथा आर्थिक साधनों को संगठित करने की ज़िम्मेदारी भारत सरकार पर रहेगी।”

2. 'ए पोस्टडेटेड चेक आन ए क्रेशिंग बैंक'।

३७. भारत छोड़ो

क्रिप्स-योजना में गांधीजी ने कोई खास रुचि नहीं दिखाई थी, लेकिन फिर भी उसकी असफलता से उन्हें बड़ी निराशा हुई। स्टैफर्ड क्रिप्स-जैसा भारत का मित्र भी कांग्रेस की स्थिति को गलत समझ सकता है और उसकी गलत व्याख्या कर सकता है, इससे अधिक बड़ा आघात और क्या हो सकता था ! अब तो बिलकुल साफ दिखाई दे रहा था कि युद्ध-काल में कोई समझौता नहीं हो सकेगा। सरकार युद्ध-जन्य परिस्थितियों से निपटने में लगी थी। भारतीय सेना का काफी विस्तार कर दिया गया था। ब्रिटिश और अमरीकी शस्त्र-सरंजामों से उसे लैस करने के साथ-ही-साथ सैनिकों तथा दस्तों की संख्या भी बहुत बढ़ा दी गई थी।

एक लंबे-चौड़े विशाल देश में सीमाओं से बहुत दूर अंदरूनी हिस्सों से सामना करने का क्या अर्थ होता है, इसे जापान ने चीन में और जर्मनी ने रूस में भारी कीमत चुकाकर खूब अच्छी तरह समझ लिया था। भारत-जैसे विशाल देश पर शीघ्रता से अधिकार कर लेना सरल काम नहीं था। लेकिन भारत में चीन और रूस से एक बुनियादी अंतर यह था कि यहाँ युद्ध साधारण जनता की देशभक्ति को जगा नहीं सका था। यहाँ की सरकार और जनता में उद्देश्यों और विचारों की कोई एकता नहीं थी। अंग्रेज़ों पर लोगों का ज़रा भी विश्वास नहीं रह गया था। सरकार का संपर्क सिर्फ युद्ध के ठेकों और मुनाफों पर मुटानेवाले मुट्ठी-भर लोगों से-ही था, जबकि गांधीजी का हाथ जनता की नब्ज़ पर था। वह जानते थे कि देश संकट को चुनौती देने की स्थिति में नहीं है। देश की जनता डरी हुई, निराश और असहाय थी। भारत को बर्मा और मलाया की-सी स्थिति से बचाने के लिए तुरंत कुछ-न-कुछ करने की आवश्यकता थी। गांधीजी का विश्वास था कि यदि ब्रिटिश सरकार अब भी भारत की स्वाधीनता की फौरन घोषणा कर दे तो लोगों को देश-रक्षा के लिए संगठित किया जा सकता था।

लार्ड हार्डिंग ने एक बार गोखले से पूछा था कि मान लीजिए मैं आपको यह बता सकूँ कि सारे ब्रिटिश अधिकारी और सैनिक दस्ते एक ही महीने में भारत छोड़कर चले जाएंगे तो आपको कैसा लगेगा ? “मुझे बहुत खुशी होगी,” गोखले ने कहा था, “लेकिन आप लोगों के अदन पहुँचने के पहले ही हमें आप लोगों को वापस लौट आने का तार करना होगा ।” तबसे अबतक जनता

के विचारों में बहुत प्रगति हो गई थी, फिर भी विश्व-व्यापी युद्ध के दौरान सारे अंग्रेज़ों को भारत से हटा देने की बात तो अब भी नहीं सोची जा सकती थी और न गांधीजी की यह माँग ही थी। वह तो केवल इतना चाहते थे कि राजनैतिक सत्ता भारतीयों को सौंप दी जाए। जो यह कहते थे कि यह समय इस काम के लिए उपयुक्त नहीं है, उन्हें गांधीजी का यह जवाब था, “भारत की स्वाधीनता को मान लेने का मनोवैज्ञानिक क्षण तो यही है। तभी और केवल तभी, जापानी आक्रमण के प्रतिरोध में जनता को खड़ा किया जा सकता है।“

गांधीजी को यह कहते हुए बीस बरस से भी ज्यादा समय हो गया था कि हिन्दू-मुस्लिम एकता के बिना भारत को स्वतंत्रता नहीं मिल सकती। लेकिन सांप्रदायिकता अपना घिनौना सिर बार-बार उठाती रही और अंत में वह इस नतीजे पर पहुँचे कि स्वतंत्रता के वातावरण में ही विभिन्न जातियों और संप्रदायों के परस्पर विरोधी दावों को सही ढंग से निपटाया जा सकता है। इस तरह गांधीजी का 'भारत छोड़ो'-आंदोलन एक साथ दो खतरों का हल था—जापानी आक्रमण से देश की रक्षा और आंतरिक फूट को मिटाकर स्थायी एकता स्थापित करना। जो 'भारत छोड़ो' को निराशा, पराजय और जापानियों के स्वागत-सत्कार की नीति कहते हैं, उनके बारे में यही कहना होगा कि उन्होंने गांधीजी के विचारों को सही रूप में समझने की ज़रा भी कोशिश नहीं की। फरवरी, 1942 में जब जापान सुदूर पूर्व में विद्युत् वेग से बढ़ रहा था तो यह आशंका प्रकट की जाने लगी थी कि निकट भविष्य में ही इंग्लैंड का पतन हो जाएगा। गांधीजी ने सार्वजनिक रूप से ऐसी आशंकाओं की भर्त्सना करते हुए लिखा था कि ब्रिटेन को पहले भी अनेक युद्धों में पीछे हटना पड़ा है। लेकिन संकट का सामना करने और हर बाधा को सफलता की सीढ़ी बना लेने की उसमें अद्भुत क्षमता है। शासकों और स्वामियों की अदला-बदली के संबंध में उन्होंने बहुत ही स्पष्ट शब्दों में कहा था, “ब्रिटिश राज्य को किसी भी दूसरे परदेशी शासन से बदलने के लिए मैं ज़रा भी तैयार नहीं हूँ। जिस दुश्मन को मैं नहीं जानता उससे तो वही दुश्मन अच्छा, जिसे मैं कम-से-कम जानता तो हूँ। धुरी राष्ट्रों के मित्रता के दावों की असलियत मैं जानता हूँ और इसीलिए मैंने उन्हें कभी महत्त्व नहीं दिया ।”

भारत में धुरी राष्ट्रों के महत्त्वपूर्ण सहयोगी या समर्थक कभी रहे भी हों तो उनमें गांधीजी तो कदापि नहीं थे। कुछ विदेशी संवाददाताओं ने इस तथ्य की ओर उनका ध्यान आकर्षित किया था कि यदि भारत से सारी ब्रिटिश सेनाएं एकबारगी हटा ली गईं तो भारत पर जापानी आक्रमण का मार्ग एकदम खुल जाएगा और चीन की सुरक्षा भी काफी हद तक खतरे में पड़ जाएगी। उन्होंने स्वीकार किया था कि "जापानियों को रोकने का कोई सुस्पष्ट तरीका मेरे पास नहीं है।" उसके बाद जवाहरलालजी से काफी विचार-विनिमय करने के बाद अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति की ठोस वास्तविकताओं के अनुरूप अंग्रेज़ों को भारत से हटाने का प्रस्ताव उन्होंने तैयार किया था। उन्होंने युद्ध-काल में मित्र-राष्ट्रों की सेनाओं को भारत में रखने की बात स्वीकार कर ली थी और कहा था कि धुरी राष्ट्रों के खिलाफ रक्षात्मक कार्रवाइयों के लिए संयुक्त राष्ट्र से संधि करना भारत की राष्ट्रीय सरकार का पहला काम होगा।

सितंबर 1939 की 'विदेशी आक्रमण के अहिंसात्मक प्रतिरोध' की स्थिति से गांधीजी काफी दूर निकल आए थे। अहिंसात्मक प्रतिरोध के प्रश्न पर वह दो बार कांग्रेस से अलग भी हो चुके थे। अहिंसा उनका मूल मंत्र था, इसलिए यदि इस बार वह कांग्रेस से सहमत हो गए और प्राणों से भी प्यारे सिद्धांत से थोड़ा दूर हट गए तो यही मानना होगा कि युद्धजन्य संकट की उस घड़ी में देश को स्वतंत्र करने की आकांक्षा एकदम दुर्दमनीय हो उठी थी।

14 जुलाई, 1942 की वर्धा की अपनी बैठक के बाद कांग्रेस कार्यसमिति ने घोषणा की कि "भारत से ब्रिटिश राज्य का तुरंत अंत होना चाहिए।" समिति की राय में क्रिप्स मिशन की असफलता के परिणामस्वरूप अंग्रेज़ों के प्रति दुर्भावना और जापान की सैनिक सफलताओं के प्रति सद्भावना और संतोष में निरंतर वृद्धि होती जा रही थी। अंत में "भारत का संयुक्त प्रयत्न में बराबरी का हिस्सेदार बनाने के लिए देश को स्वतंत्र करने" की माँग करते हुए समिति ने घोषणा की थी, यदि ब्रिटिश राज्य को भारत से तुरंत हटा लेने के उसके अनुरोध पर ध्यान नहीं दिया गया तो गांधीजी के नेतृत्व में सविनय अवज्ञा आंदोलन शुरू कर दिया जाएगा। इस महत्त्वपूर्ण मसले पर अंतिम फैसला कांग्रेस की महासमिति ने बंबई की अपनी 7 अगस्त की ऐतिहासिक बैठक में किया।

1942 के अगस्त महीने में सरकार और कांग्रेस दोनों के मिजाज़ एक-से बिगड़े हुए थे। लार्ड लिनलिथगो, अपने विचारों के अनुसार, पूरे तीन साल तक काफी धीरज और शांति से काम लेते रहे थे। 1941 के दिसंबर में सभी सत्याग्रही बंदियों को रिहा करके उन्होंने अपनी सद्भवाना का परिचय भी दिया था, लेकिन कांग्रेस का सहयोग उन्हें फिर भी न मिला। 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव ने देश के राजनैतिक वातावरण को एकदम गरम कर दिया था। यदि सविनय अवज्ञा आंदोलन शुरू कर ही दिया गया तो सामान्य शासन ठप्प होने के साथ-साथ सारे युद्ध-प्रयत्न भी खतरे में पड़ जाएंगे। वाइसराय ने कड़े हाथ से काम लेने का फैसला किया। ब्रिटिश मंत्रिमंडल के समर्थन का उन्हें पूरा और पक्का विश्वास था।

गांधीजी, जवाहरलाल नेहरू, मौलाना आज़ाद[1] आदि कांग्रेसी नेताओं को 9 अगस्त को बड़े सवेरे ही गिरफ्तार कर लिया गया। इन गिरफ्तारियों की देश में बड़ी जबर्दस्त प्रतिक्रिया हुई, खासतौर पर बंगाल, बिहार, संयुक्त प्रांत और बंबई में जनता ने ब्रिटिश हुकूमत के खिलाफ बगावत का झंडा खड़ा कर दिया। डाकघर, थाने, अदालतें, रेल के स्टेशन आदि ब्रिटिश राज्य से संबंधित सभी संस्थाओं को जलाया जाने लगा। रेल की पटरियाँ उखाड़ दी गईं और डिब्बों को तोड़ा-फोड़ा गया। टेलीफोन और टेलीग्राफ के तार काट दिए गए। महासमिति के समक्ष दिए गए अपने अंतिम भाषण में गांधीजी ने शुरू की जानेवाली लड़ाई के अहिंसात्मक रूप पर काफी ज़ोर दिया था, लेकिन सरकार के घनघोर दमन से विक्षिप्त और क्रुद्ध जनता ने इस सलाह पर कोई ध्यान नहीं दिया। यह सच है कि अंग्रेज़ अफसरों ने 1857 के विद्रोह की याद ताज़ा कर दी थी, लेकिन यह भी मानना होगा कि 1942 की घटनाएं स्वयं-स्फूर्त और आत्मघाती हिंसा का परिणाम भी थीं। सरकार ने आंदोलन पर पूरी शक्ति से वार किया। भीड़ को बिखेरने के लिए गोलीबारी ही नहीं की जाती थी, हवाई जहाजों से मशीनगनें भी चलाई जाती थीं।

चर्चिल ने हाउस आव कामंस में कहा कि "कांग्रेस ने अब अहिंसा की उस नीति को, जिसे गांधीजी एक सिद्धांत के रूप में अपनाने पर इतने दिनों से ज़ोर देते आ रहे थे, त्याग दिया है और क्रांतिकारी आंदोलन का रास्ता अपना लिया है।" देश और विदेशों में यह धुँआधार प्रचार किया जाने लगा कि यह सारी तोड़-फोड़, हिंसा और आगज़नी कांग्रेसी नेताओं द्वारा तैयार किए हुए

षड्यंत्र का ही परिणाम है। गिरफ्तारी के एक सप्ताह बाद गांधीजी ने आगाखाँ-महल से, जहाँ उन्हें बंद किया गया था, वाइसराय को पत्र लिखकर शिकायत की कि तोड़-फोड़ की घटनाओं के बारे में सरकारी वक्तव्य "सत्य की हत्या" ही है। उन्होंने कहा कि यदि मुझे गिरफ्तार न कर लिया जाता तो सरकार से समझौता करने की कोई कोशिश बाकी नहीं छोड़ता। आंदोलन में हिंसा को प्रोत्साहन देने और किसी षड़यंत्र में उनका या उनके सहयोगियों का हाथ होने के आरोप को उन्होंने बिलकुल ही गलत बताया और नेताओं की अंधाधुंध गिरफ्तारी के द्वारा संकट को गहरा करने के लिए उलटे सरकार को ही ज़िम्मेदार ठहराया। गांधीजी अभी महासमिति को अपनी पूरी योजना समझा भी नहीं पाए थे कि सरकार ने उन्हें गिरफ्तार कर लिया। स्वतंत्रता की तीव्र उत्कंठा और युद्धकाल में सरकार को परेशान न करने की अभिलाषा में संतुलन बनाए रखने की वह सतत कोशिश करते रहे थे। यदि वह गिरफ्तार न कर लिए जाते तो आंदोलन का रूप कुछ दूसरा ही होता—उसमें सरकार को युद्धकाल में परेशान न करनेवाली बात ही अधिक होती। यदि आंदोलन हिंसात्मक हो ही जाता तो वह उसे रोकने में अपनी पूरी शक्ति, यहाँतक कि प्राणों की बाजी भी, लगा देते। उत्तेजित जन-समुदाय को बस में करने का रामबाण उपाय—उपवास तो उनके हाथ में था ही।

'1942 के उपद्रवों' की ज़िम्मेदारी के संबंध में आगाखाँ-जेल से गांधीजी और वाइसराय तथा उनकी सलाहकार परिषद् के बीच काफी लंबा और कुछ उग्र पत्र-व्यवहार होता रहा। लार्ड लिनलिथगो ने (जिन्हें गांधीजी अपना मित्र समझते थे) जब अहिंसा में उनकी आस्था और उनकी ईमानदारी में ही संदेह प्रकट कर दिया तो महात्माजी से बर्दाश्त न हो सका। इस घोर आत्मिक कष्ट से शांति पाने के लिए उन्होंने 10 फरवरी, 1943 से इक्कीस दिन का उपवास आरंभ किया। भारत सरकार जिस उपवास से डर रही थी वह आखिर शुरू हो ही गया। जेल में गांधीजी की मृत्यु की जोखिम उठाने को वह कभी तैयार नहीं हुई थी, लेकिन इस बार उनका रुख इतना कड़ा था कि वह यह खतरा और इसके परिणामों के लिए भी तैयार हो गई । गांधीजी के उपवास शुरू करते ही सारे देश में उथल-पुथल मच गई। डॉक्टरी बुलेटनों के शोकजनक समाचारों से सारा देश शोकाकुल और उद्विग्न होने लगा। वाइसराय की कार्यकारी परिषद् के तीन सदस्यों ने त्यागपत्र दे

दिया। विभिन्न पार्टियों और दलों के नेता एक होकर गांधीजी की रिहाई और उनकी प्राण-रक्षा के लिए वाइसराय से अपीलें करने लगे। लेकिन ब्रिटिश मंत्रिमंडल की शह पाकर वाइसराय और अकड़ गए, वह टस-से-मस न हुए, उलटे उन्होंने गांधीजी के उपवास को 'राजनैतिक धौंस'[2] कहकर लांछित किया। महात्माजी को इस तरह लांछित कर वाइसराय को जो भी संतोष मिला हो, वही जानें, लेकिन उनके प्रति देश की नाराज़ी तो और बढ़ी ही।

"यह उनकी गलती नहीं, हमारा सौभाग्य ही था कि गांधीजी और उनके साथियों को बड़ी होशियारी से रखे हुए पलीते में निर्धारित समय के पहले आग लगाने को विवश होना पड़ा।" 1942 के उपद्रवों के संबंध में यह दोषारोपण किया था वाइसराय की कार्यकारी कौंसिल के अंग्रेज़ गृह सदस्य सर रेजिनाल्ड मैक्सवेल ने और यह उस सरकारी प्रचार का अंश था, जिसके द्वारा गांधीजी और कांग्रेस को जापान के खिलाफ मित्र-राष्ट्रों की लड़ाई में बाधक और तोड़फोड़ करनेवाला बतलाकर दुनिया की निगाह में बदनाम किया जा रहा था। इस भ्रामक प्रचार का कुछ असर तो ज़रूर हुआ, लेकिन वह ज्यादा दिन टिक न सका। नवंबर, 1942 में फील्ड मार्शल स्मट्स ने लंदन की एक प्रेस-कांफ्रेंस में इस प्रचार की बखिया उधेड़कर रख दी। उन्होंने कहा— "महात्मा गांधी को पंचमांगी कहना निरी बकवास है। वह महान हैं। दुनिया के महापुरुषों में से एक हैं।" अखबारों में चित्र छापने और नाम का उल्लेख करने पर भी रोक लगाकर गांधीजी के राजनैतिक अस्तित्व को समाप्त करने की कोशिश में सरकार कामयाब न हो सकी। जिस साहस से उन्होंने सरकार का सामना किया, जिस अदम्य विश्वास से उन्होंने अहिंसा का ऐसे समय, जबकि चारों ओर हिंसा विजयी हो रही थी, पक्ष प्रबल किया, जिस दृढ़ता से उन्होंने 1942 के उपद्रवों के बारे में सरकारी भ्रमजाल को छिन्न-भिन्न किया, उसने करोड़ों भारतवासियों की दृष्टि में उनके स्थान और सम्मान को बहुत ऊँचा कर दिया। वह रक्त-रंजित परंतु अपराजेय राष्ट्र-प्रेम के प्रतीक हो गए।

आज इतने वर्षों के बाद 1942 की घटनाओं को उनके वास्तविक रूप में ज्यादा अच्छी तरह देखा और समझा जा सकता है। 1934 से ही गांधीजी जनता को अहिंसा व्रत में दीक्षित करने पर जितना ज़ोर देते रहे थे, युद्ध से पहले के वर्षों में अनुशासनहीनता और हिंसा की चतुर्दिक

वृद्धि से जो चिन्ता होती रही थी और 1940-41 के व्यक्तिगत सत्याग्रह को उन्होंने जितना सीमित और नियंत्रित रखा था उस सबको देखते हुए यह आश्चर्य होता है कि उस समय के उत्तेजनापूर्ण वातावरण में उन्होंने उतना खतरनाक कदम उठाने की इजाज़त कैसे दे दी ! विश्वव्यापी युद्ध के समय जब जापान भारत की सीमाओं पर ताक लगाए खड़ा था, जन-आंदोलन के संभावित खतरों से वह अनभिज्ञ रहे हों, यह तो नहीं कहा जा सकता। लेकिन जनता की घोर निराशा-जनित निष्क्रियता और उसके जापानी आक्रमणकारी की शरण में चले जाने की संभावना से भी वह अपरिचित नहीं थे। देश की जनता को घृणा अथवा हिंसा का सहारा लिए बिना अपने राष्ट्रीय गौरव की स्थापना के लिए उद्यत करना चमत्कार कर दिखाना था। लेकिन ऐसे चमत्कार वह पहले भी कर चुके थे। 1930 में कुछ ही महीनों में गांधीजी ने देश में राजनैतिक जागृति की बिजली भर दी थी और जातीय कटुता एवं हिंसा को जरा भी पनपने न दिया था। लेकिन बारह बरस बाद हालत बहुत बदल चुकी थी। सरकार भरी बैठी थी और जनता भी। युद्ध का भविष्य इतना अस्थिर था कि आगे की घटनाओं तक प्रतीक्षा करने का धैर्य सरकार में रह नहीं गया था और जनता तो असंतोष से उबल ही रही थी। 1942 में देश की राजनैतिक स्थिति 1930 की अपेक्षा 1919 के समय की स्थिति से ज्यादा अनुरूप थी। 1919 की ही भांति 1942 में भी गांधीजी ने जनता की नब्ज़ को बिलकुल ठीक पहचाना था, लेकिन उन्हें विश्वास था कि वह सत्याग्रह-आंदोलन के द्वारा उसे घृणा और हिंसा भावना से मुक्त करने में सफल हो जाएंगे । परंतु कांग्रेसी नेताओं के गिरफ्तार होते ही जनता की ओर से तोड़-फोड़, आगज़नी और विध्वंस एवं सरकार की ओर से क्रूर दमन और लोमहर्षक आतंक का जो दौर चला, उसमें सत्याग्रह के लिए कोई गुंजाइश ही नहीं रह गई थी।

गांधीजी को यह आशा करने का कोई अधिकार नहीं था कि सरकार उनके निर्धारित रास्ते पर चलेगी और सरकार को भी यह अधिकार नहीं था कि वह अपनी नीति और अपने कृत्यों के परिणाम का दोष गांधीजी पर लगाए। लार्ड लिनलिथगो ने अनुभवी ब्रिटिश प्रशासकों की गांधीजी के आंदोलन को आरंभिक अवस्था में ही कुचल देने की नीति का अनुसरण किया। लार्ड विलिंगडन की सफलता का कारण भी यही नीति समझी गई थी। लेकिन ऐसी नीति के परिणाम सदैव

क्षणस्थायी होते हैं। दमन के परिणामस्वरूप जो कटुता पैदा होती है, वह दमन-कर्त्ताओं को ही ले बैठती है। 1932 में लार्ड विलिंगडन ने समझा था कि उन्होंने कांग्रेस को कुचल दिया, लेकिन पाँच साल बाद इंडिया एक्ट, 1935 के अंतर्गत पहले चुनाव में वही कांग्रेस प्रबल बहुमत से विजयी हुई। 1942 में लार्ड लिनलिथगो का भी कुछ ऐसा ही खयाल था, अपनी समझ में उन्होंने भी कांग्रेस को पूरी मात दे दी थी, लेकिन 1947 में ब्रिटिश राज्य का सदा के लिए अंत हो गया और उसके स्थान पर कांग्रेस ही पदारूढ़ हुई। इसे इतिहास की विडंबना ही कहना होगा कि भारत के राष्ट्रीय आंदोलन पर प्रबलतम प्रहार करनेवाले दो वाइसराय लार्ड लिनलिथगो और लार्ड विलिंगडन अनचाहे और अनजाने ही भारतीय स्वाधीनता के उत्प्रेरक तत्त्वों का काम करते रहे।

राष्ट्रीय दृष्टिकोण से 1942 की घटनाएं एक दुःखदायी विरासत ही साबित हुईं। देश-प्रेम की सर्वथा मिथ्या धारण के वशीभूत पहली बार इतने बड़े पैमाने पर तोड़-फोड़ और आगज़नी की कार्रवाइयाँ की गई थीं। इससे सामूहिक आचरण का स्तर तो गिरा ही, 1946-47 में जब उत्तेजित जनता पर देश-भक्ति की जगह सांप्रदायिकता हावी हो गई तो 1942 के उत्पातों को आदर्श मानकर अशोभनीय भीषण लोमहर्षक कांड किए गए।

---

1. मौलाना साहब उस समय कांग्रेस के अध्यक्ष थे।
2. पोलिटिकल ब्लैकमेल—अपनी माँग मंजूर करवाने के लिए बदनाम करने की धमकी देना।

३८. अपराजेय आत्मा

आगाखाँ-महल में नज़रबंद किए जाने के एक सप्ताह के अंदर ही गांधीजी को अपने निज़ी सचिव और सहायक महादेव देसाई से सदा के लिए बिछुड़ जाना पड़ा। सुयोग्य, परिश्रमरत, विनयशील और सदा मुस्कराते रहनेवाले 'म. दे.' पिछले पच्चीस वर्षों से छाया की तरह गांधीजी के साथ रहे थे। बंबई विश्वविद्यालय से वकालत पास करके और थोड़े दिनों इधर-उधर काम करने के बाद महादेवभाई 1917 में गांधीजी के सहकारी बने, सो जीवन के अंतिम दिन तक उनकी सेवा और सहायता करते रहे। गांधीजी ने एक बार उनके संबंध में कहा था, “महादेव, मेरा बेटा, सचिव और मुझपर जान देनेवाला है।” सुंदर लिखावट, सतर्कता फुर्ती और अटल भक्ति—सुयोग्य सचिव के ये आवश्यक गुण महादेवभाई में कूट-कूटकर भरे थे। महात्मा गांधी के निज़ी सचिव का काम निरी मुंशीगिरी तो हो नहीं सकती थी। उसके लिए कुछ और भी होना आवश्यक था। प्रथम असहयोग-आंदोलन से पूर्व, जब गांधीजी इतने प्रख्यात नहीं हुए थे, उनके देशव्यापी दौरों में महादेवभाई ही अकेले साथी हुआ करते थे और उनकी सुख-सुविधाओं का पूरा खयाल रखते थे, सचिव का काम करने के अतिरिक्त वह उनका बिस्तर लगाते और समेटते, खाना पकाते और कपड़े भी धोते थे। जैसे-जैसे गांधीजी का सार्वजनिक काम बढ़ता गया, महादेवभाई के काम का बोझ भी उसी अनुपात में अधिक होता गया। वह गांधीजी के नाम आनेवाली सैकड़ों चिट्ठियों को पढ़ते और उनका जवाब देते थे, अतिथियों-आगंतुकों का स्वागत-सत्कार करते थे, इस बात का ध्यान रखते कि अनचाहे आगंतुक गांधीजी का मूल्यवान समय नष्ट न करें, पाई-पैसे तक का पूरा हिसाब रखते, यात्राओं का कार्यक्रम बनाने के लिए नक्शों और निर्देशिकाओं पर झुके रहते, गांधीजी के भाषणों और वार्तालापों को लिपिबद्ध करते और साप्ताहिकों का संपादन भी करते थे। लिखने का अधिकांश काम चलती रेल के तीसरे दर्ज़े के डिब्बे में ही करना पड़ता था, इसलिए वह हमेशा मोमबत्ती साथ रखते थे कि यदि कहीं रेल की बिजली बत्ती गुल हो जाए तो भी प्रेस में समय पर 'कापी' पहुँचाई जा सके।

महादेवभाई अकेले हाथों पूरे सचिवालय का काम करते थे—महात्माजी के आदेशों और सूचनाओं को कार्यान्वित करने के के साथ-साथ दूसरों के लिए उनकी व्याख्या भी करते थे।

सैकड़ों कार्यकर्ताओं से संपर्क बनाए रखते और गांधीजी का समय और श्रम बचाने के लिए यथासंभव जो भी बनता, करते थे। हमेशा जी-तोड़ परिश्रम करते रहे। अगस्त, 1942 में उनकी आकस्मिक मृत्यु का कारण 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव के बाद की उथल-पुथल और उससे पैदा मानसिक तनाव ही नहीं, यह व्याकुलता भी थी कि कहीं महात्माजी जेल में आमरण अनशन शुरू न कर दें।

आगाखाँ-महल में गांधीजी पर दूसरा वज्रपात हुआ कस्तूरबा की मृत्यु के कारण। वह पिछले कुछ दिनों से बीमार चली आती थीं। हालत बिगड़ती ही गई। डॉ. गिल्डर, डॉ. दिनशा, डॉ. सुशीला नय्यर आदि पारिवारिक चिकित्सकों ने इलाज किया, फिर पंजाब के प्रसिद्ध वैद्य शिव शर्मा ने भी दवा दारू की, लेकिन वह बच न सकीं। 22 फरवरी, 1944 को उन्होंने बापू की गोद में प्राण त्याग दिए। अंत समय उन्होंने कहा, “हमने कई सुख-दुख साथ देखे, साथ भोगे; अब मैं जा रही हूँ।” उनकी अंतिम अभिलाषा यह थी कि उनका दाह-संस्कार बापू के काते हुए सूत की साड़ी में किया जाए।[1]

लार्ड वेवल के संवेदना-सूचक पत्र के जवाब में गांधीजी ने उन्हें लिखा था—“हम सामान्य दंपती से भिन्न थे ।” उन दोनों का बासठ वर्ष का विवाहित जीवन सतत विकासशील जीवन था । दोनों के बौद्धिक विकास में गहरा अंतर होते हुए भी गांधीजी कस्तूरबा की राय की कद्र करते थे और उनके स्वतंत्र निर्णय की मर्यादा-रक्षा भी। दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह के अंतिम चरण में वह अपनी इच्छा से जेल गई थीं। भारत में कई बार सत्याग्रह-आंदोलनों के सिलसिले में जेल गईं और जेल में ही उनकी मृत्यु हुई।

राजनैतिक क्षेत्र में उन्होंने कोई बड़ा काम और नाम नहीं किया था। उनका सच्चा क्षेत्र तो घर और परिवार था। बापू के विशाल शिष्य-संप्रदाय और सहयोगियों-साथियों की वह 'बा' अर्थात् सच्ची माँ थीं। यही उनका परिवार और आश्रम उनका घर था। बापू के भोजन के समय बैठकर पंखा झलना या वह लेटे हों तो पाँव दबाना—ये उनके जीवन के सबसे सुखी क्षण हुआ करते थे। वह गुजराती लिख-पढ़ लेती थीं और दक्षिण अफ्रीका में उन्होंने अंग्रेज़ी बोलने का काम-चलाऊ अभ्यास कर लिया था। एक बार जब बंदीगृहों के यूरोपियन अधीक्षक ने यह शिकायत कस्तूरबा

से की कि कम खाकर कमज़ोर होने के लिए गांधीजी खुद ही ज़िम्मेदार हैं तो उन्होंने अंग्रेज़ी में जवाब दिया था “आई नो माई हसबैंड ही ऑलवेज़ मिसचिफ्स।”[2] आगाखाँ-महल में गांधीजी ने उनकी शिक्षा की कमी को दूर करने के प्रयत्न फिर से प्रारंभ कर दिए थे। चौहत्तर वर्ष की बा जेल के अपने कमरे में घूम-घूमकर भूगोल और सामान्य ज्ञान की बातें रटा करती थीं। लेकिन जब पाठ सुनाने का वक्त आता तो सब भूल-भाल जाती थीं। लाहौर को वह कलकत्ते की राजधानी बता देतीं।

अपने दो प्रियजन, सचिव और पत्नी की मृत्यु के बाद आगाखाँ-महल की नज़रबंदी गांधीजी को विषण्ण और उद्विग्न ही करती रही। उनका स्वास्थ्य खराब हो गया, जिससे 1944 के आरंभ में तो सरकार भी चिन्तित हो गई। मलेरिया हो गया था और तेज़ बुखार रहने लगा था। इस बीच युद्ध का पासा पलट चुका था और मित्र-राष्ट्रों की जीत-पर-जीत होती जा रही थी। अब सरकार के लिए उनकी रिहाई उनके जेल में मर जाने से कम परेशानी का कारण होती। लेकिन गांधीजी को अपनी रिहाई (6 मई 1944) से कोई खुशी नहीं हुई। जेल में बीमार पड़ने के लिए वह शर्मिंदा ही थे। उन्हें बंबई के निकट जुहू के समुद्र-तट पर स्वास्थ्य-लाभ के लिए रखा गया । पता चला कि वह मलेरिया के बाद की अलामातों से ही नहीं, उदर में कृमि-कष्ट और रकतातिसार से भी पीड़ित थे। अपने समस्त रोगों का कारण उन्होंने ईश्वर पर विश्वास की कमी को ही माना। उस 'महाचिकित्सक' पर आस्था और दवाई-मात्र से वैर के कारण उनका इलाज काफी मुश्किल हो गया। लेकिन धीरे-धीरे देश के कामों में ध्यान देने लायक शक्ति उनमें आती गई।

अधिकारियों में उनकी वह पहले-जैसी प्रतिष्ठा नहीं रह गई थी, स्वयं उनकी और कांग्रेस की ईमानदारी में संदेह किया जाता था। चर्चिल के प्रधान मंत्री-पद पर रहते हालत में सुधार होने की कोई संभावना दिखाई नहीं देती थी। इन सब बातों को जानते हुए भी गांधीजी ने सरकार और कांग्रेस के बीच पैदा हो गए राजनैतिक गतिरोध को तोड़ने की दिशा में स्वयं ही पहल की। 17 जून, 1944 को उन्होंने लार्ड वेवल को पत्र लिखकर कार्य-समिति के सदस्यों से भेंट करने की इज़ाजत माँगी।[3] वाइसराय ने गांधीजी की इस प्रार्थना को ठुकरा दिया, क्योंकि “दोनों के दृष्टिकोण में जो उग्र मतभेद हैं, उसे देखते हुए अभी हमारे मिलने से कोई लाभ न होगा।" गांधीजी ने फिर

एक प्रयत्न किया। 'न्यूज़ क्रॉनीकल' के प्रतिनिधि स्टुअर्ट गेल्डर को उन्होंने एक वक्तव्य प्रकाशित करने के लिए नहीं, वाइसराय तक पहुँचाने के लिए दिया। उस वक्तव्य का सार यह था कि केन्द्रीय विधान-मंडल के निर्वाचित सदस्यों की राय से केन्द्र में राष्ट्रीय सरकार की, (जिसका गैर-सैनिक शासन-प्रबंध पर पूरा नियंत्रण रहे) स्थापना के सुझाव पर विचार किया जाना चाहिए। लार्ड वेवल ने यह प्रस्ताव भी "सम्राट की सरकार को बिलकुल ही स्वीकार नहीं हो सकता।" कहकर ठुकरा दिया।

राजनैतिक गतिरोध को तोड़ने में असफल होने के बाद गांधीजी ने जिन्नासाहब से समझौते के प्रयत्न प्रारंभ किए। दो राष्ट्रों के सिद्धांत में उनका विश्वास नहीं था, लेकिन जिस मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि में मुस्लिम बुद्धिजीवी वर्ग ने इस सिद्धांत को अपनाया था उसे वह अवश्य स्वीकार करते थे। गांधी-जिन्ना-भेंट का आधार श्री राजगोपालाचार्य का निम्न सुझाव था, जो इतिहास में 'राजाजी फार्मूला' के नाम से प्रसिद्ध है—मुस्लिम लीग कांग्रेस की भारतीय स्वाधीनता और युद्ध-काल में अस्थायी सरकार स्थापित किए जाने की माँग का समर्थन करे और भारत के उत्तर-पश्चिम एवं उत्तर-पूर्व में एक दूसरे से जुड़े मुस्लिम बहुमतवाले ज़िलों के सीमांकन और वहाँ के समस्त...बालिग निवासियों के मतसंग्रह के द्वारा उन प्रदेशों की स्वतंत्र संयुक्त भारत में रहने या अपना अलग राज्य बनाने-संबंधी राय को मालूम करने की मुस्लिम लीग की माँग का कांग्रेस समर्थन करे; और यदि अंत में देश का बँटवारा ही तय पाया जाए तो दोनों राज्य रक्षा, संचार, वैदेशिक संबंध आदि महत्त्वपूर्ण मामलों में पारस्परिक समझौते करें।

गांधी-जिन्ना-वार्ता 9 सितंबर, 1944 को आरंभ होकर 27 सितंबर को समाप्त हुई । उस समय देशव्यापी उत्साह और आशा की लहर इसलिए नहीं भी कि लोगों को दोनों नेताओं में समझौता हो जाने का विश्वास था। असल में जनता राजनैतिक गतिरोध से थक गई थी और वह चाहती थी कि जैसे भी हो कांग्रेस-लीग में समझौता हो जाए। पहले दिन भेंट करने के बाद गांधीजी से पूछा गया कि आपको जिन्नासाहब से क्या मिला, तो उन्होंने कहा था—"फूल।" बाद की मुलाकातों के भी कोई ठोस परिणाम नहीं निकले। सबसे पहले तो जिन्ना ने यह जानना चाहा कि महात्माजी किसकी ओर से और किस अधिकार से चर्चा के लिए आए हैं। गांधीजी ने 1934 में

कांग्रेस छोड़ दी थी और तबसे उसके साधारण सदस्य भी नहीं थे, लेकिन जिन्नासाहब इस बात को भी बहुत अच्छी तरह जानते थे कि कांग्रेस के सदस्य अथवा पदाधिकारी न होते हुए भी गांधीजी का उस संगठन में कितना महत्त्व और वजन है। जिन्नासाहब का रुख बड़ा ही अव्यावहारिक था। वह चाहते थे कि गांधीजी मुस्लिम लीग को भारत के समस्त मुसलमानों की प्रतिनिधि संस्था स्वीकार कर लें। वह यह भी चाहते थे कि पाकिस्तान के सिद्धांत को पहले मान लिया जाए, उसकी भौगोलिक सीमाओं का निर्धारण और अन्य विवरणों पर बाद में चर्चा होती रहेगी। मुस्लिम बहुमतवाले प्रांतों के गैर-मुस्लिमों को अपने भाग्य निर्णायक मत-संग्रह में भाग लेने का अधिकार देने को भी वह तैयार नहीं थे। उन क्षेत्रों में आत्मनिर्णय के अधिकार का उपयोग केवल मुसलमानों तक ही सीमित रखना चाहते थे।

गांधीजी का सुझाव था कि सीमांकन और मत-संग्रह को सैद्धांतिक रूप से भले ही पहले तय कर लिया जाए, लेकिन यदि बँटवारा होता ही है तो वह हस्तांतरण के बाद ही होना चाहिए। उनको आशा थी कि अंग्रेज़ों के भारत से चले जाने के बाद स्वतंत्रता के वातावरण में दोनों संप्रदाय मिल-जुलकर रहना सीख लेंगे और बँटवारे की ज़रूरत नहीं पड़ेगी और जिस बात की गांधीजी को आशा थी, उसीसे जिन्नासाहब को डर लगता था । वह कोई खतरा नहीं उठाना चाहते थे, इसलिए देश की आज़ादी से पहले बँटवारे की बात पर अड़ गए। दोनों स्वतंत्र राज्यों में सुरक्षा, संचार, वैदेशिक संबंध आदि मामलों में पारस्परिक समझौतों और संयुक्त संधियों के प्रस्ताव को भी उन्होंने अस्वीकार कर दिया। गांधीजी को धर्म के आधार पर दो अलग-अलग राज्यों के निर्माण की संभावना से इसलिए घबराहट होती थी कि “उनमें सिवा शत्रुता के और कुछ हो ही नहीं सकता था।“ सांस्कृतिक और आर्थिक स्वाधीनता की बात तो उचित थी, लेकिन दोनों राज्यों में हथियारबंदी की दौड़ और सशस्त्र संघर्ष की रोकथाम के लिए कोई व्यवस्था कर लेना आवश्यक था।

गांधीजी के लिए ये चर्चाएं शिक्षात्मक थीं, जिन्नासाहब के लिए उनकी राजनैतिक शक्ति और स्थिति को दृढ़ करनेवाली। अकेली इसी बात से कि गांधीजी उनसे मिलने गए, जिन्नासाहब की प्रतिष्ठा में बहुत वृद्धि हो गई। पिछले चार वर्षों में वह मार्च, 1940 की अपनी स्थिति से एक

इंच भी इधर-उधर नहीं हुए थे। अपनी बात पर जमे रहने का आज उन्हें फल मिल रहा था। राजाजी-फार्मूला जिन्नासाहब की सब माँगों से सहमत नहीं था, लेकिन उसने देश के बँटवारे की संभावना को तो कम-से-कम स्वीकार कर ही लिया था। जो गांधीजी बँटवारे को पाप कहा करते थे, वह आत्म-निर्णय के अधिकार को कार्यान्वित करने के तरीके पर चर्चा करने की हद तक उतर आए थे, यह क्या जिन्नासाहब की कम जीत थी। देखा जाए तो पाकिस्तान बनाने की दिशा में गांधी-जिन्ना-वार्ता, अगस्त 1940 की लार्ड लिनलिथगों की घोषणा और मार्च, 1942 के क्रिप्स-प्रस्ताव से आगे ले जानेवाला महत्त्वपूर्ण कदम था।

भारतीय नेताओं के परामर्श से अपनी कार्यकारी कौंसिल का पुनर्गठन करने के प्रश्न पर ब्रिटिश मंत्रिमंडल की स्वीकृति प्राप्त करने के लिए लार्ड वेवल इंग्लैंड गए हुए थे। 1945 की गर्मियों में वह स्वीकृति प्राप्त करके लौट आए और अपने प्रस्ताव पर चर्चा करने के लिए उन्होंने भारतीय नेताओं का सम्मेलन[4] शिमला में आयोजित किया। गांधीजी उसमें प्रतिनिधि की हैसियत से तो सम्मिलित नहीं हुए, परंतु वाइसराय और कांग्रेस कार्य-समिति दोनों ने उनसे सलाह-मशविरा किया। लार्ड वेवल का सुझाव वाइसराय की कार्यकारी कौंसिल में सवर्ण हिन्दुओं और मुस्लिम-सदस्यों की संख्या बराबर-बराबर रखने का था, लेकिन सम्मेलन के समाप्त होते-होते जिन्नासाहब ने अपनी माँग बढ़ाकर यह दावा पेश कर दिया कि मुसलमान सदस्यों की संख्या शेष सभी संप्रदायों की सम्मिलित सदस्य-संख्या के बराबर होनी चाहिए। उसके बाद जिन्नासाहब इस बात पर अड़ गए कि कौंसिल के सभी मुस्लिम सदस्यों को नामजद करने का एकमात्र अधिकार मुस्लिम लीग को ही होना चाहिए। उनकी इस ज़िद पर सम्मेलन भंग कर देना पड़ा। कांग्रेस अपने राष्ट्रीय स्वरूप और दृष्टिकोण के कारण इस अनुचित माँग को कभी भी स्वीकार नहीं कर सकती थी। जिन्नासाहब की ज़िद से यही निष्कर्ष निकलता है कि उन्हें समझौते की कोई चिन्ता नहीं थी और जब वह सरकार से ज्यादा पा सकते थे तो कांग्रेस से समझौता करने को राज़ी भी क्यों होते !

युद्ध का अंत समीप दिखाई देने लगा था, इसलिए भारतीय गतिरोध को भंग करने की आवश्यकता इंग्लैंड में नए सिरे से महसूस की गई और शिमला-सम्मेलन उसी का परिणाम था। मई में यूरोप में युद्ध समाप्त हुआ और अगस्त में जापान ने भी हथियार डाल दिए। जुलाई में

इंग्लैंड में युद्धोत्तर चुनाव हुए, जिसमें टोरियों को हराकर मज़दूर-दल (लेबर पार्टी) विजयी हुआ। 10 जुलाई को मज़दूर सरकार की स्थापना हुई। लार्ड वेवल को फिर लंदन बुलाया गया। वह 25 अगस्त को लंदन पहुँचे। उनकी वापसी से पहले ही भारत में केन्द्रीय और प्रांतीय कौंसिलों के आम चुनावों की घोषणा की गई। 18 सितंबर को लंदन से लौटकर वाइसराय ने अपने भाषण में कहा कि "सम्राट का इरादा क्रिप्स-प्रस्तावों के अनुसार यथाशीघ्र एक विधान-निर्मात्री परिषद् का आयोजन करने का है।" लेकिन नई मज़दूर सरकार के प्रस्ताव इतने अपर्याप्त, अस्पष्ट और असंतोषजनक थे कि देश ने उसमें कोई उत्साह नहीं दिखाया। इसपर नए भारत-मंत्री लार्ड पेथिक लारेंस ने 23 सितंबर को ब्रिटिश सरकार के प्रस्तावों का स्पष्टीकरण करते हुए कहा कि "हमारा आदर्श तो यह है कि भारत और ब्रिटेन बराबरी के पद द्वारा साझेदारी की भावना से बंध जाएं ।" और मज़दूर मंत्रिमंडल ने पार्लमेंट का एक सर्वदलीय शिष्ट-मंडल भारत की स्थिति का अध्ययन करने और भारतीयों को यह विश्वास दिलाने को कि उनकी आज़ादी अब दूर नहीं है, भेजने का निश्चय किया।

---

1. बा की मृत्यु पर गांधीजी ने कहा था, "बा के बिना जीवन की मैं कल्पना नहीं कर सकता।...उसकी मृत्यु से जो स्थान खाली हुआ है, वह कभी नहीं भरेगा।...हम दोनों बासठ वर्ष तक साथ रहे...और वह मेरी गोद में मरी, इससे अच्छा क्या हो सकता है !"

2. "मैं अपने पति को जानती हूँ। वह हमेशा शैतानी किया करते हैं।"

3. उस समय गांधीजी पूना के नेचर क्योर क्लिनिक में थे और वह पत्र वहाँ से लिखा गया था। कार्य-समिति के सभी सदस्य जेलों में बंद थे। गांधीजी ने कार्य-समिति के सदस्यों से मिलने से पूर्व वाइसराय से भी मिल लेने की इच्छा अपने उस पत्र में प्रकट की थी।—अनुवादक

4. 14 जून, 1945 के अपने रेडियो भाषण के बाद लार्ड वेवल ने कार्य-समिति के सदस्यों की रिहाई के आदेश दिए और 25 जून को देश के प्रमुख नेताओं को परामर्श के लिए शिमला बुलाया। गांधीजी प्रतिनिधि के रूप में तो नहीं, लेकिन परामर्श के लिए शिमला आमंत्रित किए गए थे।—अनुवादक

३९. स्वाधीनता का आगमन

जनवरी 1946 की बात है। गांधीजी सुप्रसिद्ध नरमदली नेता श्रीनिवास शास्त्री को, जो मरणासन्न अवस्था में बिस्तरे पर पड़े थे, देखने के लिए गए हुए थे। बातचीत में ब्रिटिश पार्लामेंट के शिष्टमंडल का जिक्र आ गया, जो उन दिनों भारत का दौरा कर रहा था। शास्त्रीजी ने कहा, "कुछ होना-हवाना तो है नहीं। भारत के सवाल पर, टोरी हों या मज़दूर, दोनों एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हैं।" जब सत्ता के हस्तांतरण की बातें ज़ोरों पर हों, अंग्रेज़ों के दोस्त समझे जानेवाले एक बुजुर्ग नेता का अंग्रेज़ों के इरादों के बारे में ऐसा मंतव्य केवल यही साबित करता है कि ब्रिटिश राज्य के भारत के शीघ्र विदा होने के आसार लोगों को दिखाई नहीं दे रहे थे।

ऊपर-ऊपर से देखने पर तो दूसरे महायुद्ध के बाद भारत में अंग्रेज़ों की स्थिति काफी मजबूत ही दिखाई देती थी। भारत में उस समय ब्रिटिश सेनाएं भी इतनी संख्या में पड़ी हुई थीं जितनी अंग्रेज़ों के पूरे शासनकाल में पहले कभी नहीं रही थीं। कांग्रेस गैर-कानूनी कर दी गई थी और एक गांधीजी को छोड़, शेष सारे राष्ट्रीय नेता ज़ेलों में बंद थे। मुस्लिम लीग याकिस्तान का आंदोलन कर रही थी, जो ब्रिटिश सरकार के उतना नहीं, जितना कांग्रेस के खिलाफ था। छः प्रांतों में कोई प्रतिनिधि सरकार नहीं थी। शेष प्रांतों में अंग्रेज़ों के मित्र या समर्थक मंत्री सत्तारूढ़ थे। छः बरस तक मेज पर कलम-घिसाई करते-करते अंग्रेज़ अफसर तंग आ गए थे। 1942 के उपद्रवों को दबाने में जौहर दिखाने का मौका मिला तो उन्होंने छुटकारे की साँस ली और पिल पड़े। बड़ा मेहनती होता था अंग्रेज़ साहब बहादुर और अपनी समझ के माफिक ड्यूटी अंजाम देता था। लेकिन जैसाकि गोखले ने 1905 में कहा था—"उनकी समझ बड़ी बोदी होती है और वर्तमान शासन-प्रणाली के कारण केवल मामूली-सी कार्य-कुशलता संभव हो पाती है और उस स्तर तक भी अभी हाल में ही पहुँचा जा सका है।" गोखले के बाद चालीस साल में तो दुनिया बदल गई थी । राष्ट्रीय जागरण और आर्थिक परिवर्तनों ने क्रांति ही कर दी थी। इन बदले हुए संयोगों में कार्य-कुशलता का स्तर और गिर गया था। जो अपने को बहुत होशियार अफसर समझते थे, उन अंग्रेज़ अधिकारियों को भी 1945 में यह पता नहीं था कि उनकी प्रिय, परिचित और उनके हाथों निर्मित पुरानी शासन-प्रणाली में घुन लग गया था और वह धीरे-धीरे नष्ट होती जा रही थी।

युद्ध ने क्षय की इस प्रक्रिया को और तेज कर दिया। कुछ तो युद्ध के कारण मालामाल हो गए, लेकिन लाखों-करोड़ों की तबाही आ गई—चीज़ों की कमी और महँगाई ने सामान्य भारतवासी की कमर ही तोड़ दी। भारत में युद्ध महँगाई और अभाव का पर्यायवाची बन गया। भीषण अकाल ने सारे बंगाल को श्मशान-भूमि बना दिया। वह अकाल प्रकृति-प्रकोप के साथ-साथ मुनाफाखोरों के लोभ का भी संहारक रूप था। बंगाल प्रांतीय सरकार मंत्रिमंडल की घोर लापरवाही और भ्रष्टाचार एवं केन्द्रीय सरकार की निष्क्रियता और उपेक्षावृत्ति ही अकाल की उस भीषणता के लिए जिम्मेदार थी, लेकिन सरकार से जवाब-तलब करनेवाला कोई नहीं था। अन्न और वस्त्र की सारे देश में कभी हो गई थी। वितरण की दिशा में कंट्रोल और राशन से उपभोक्ताओं के कष्ट तो कुछ खास कम न हुए, उलटे जमाखोरी और भ्रष्टाचार को ही बढ़ावा मिला। युद्ध के कारण लोगों का नैतिक स्तर भी बहुत गिर गया था। चार दिनों की युद्धजन्य तेज़ी में जिसे देखो, मुनाफा बटोरने के लिए दौड़ पड़ा था।

फिर युद्ध के बाद आनेवाली समस्याएं भी कुछ कम गंभीर नहीं थीं। सेना की संख्या ही 1,89,000 से बढ़ते बढ़ते 22,50,000 हो गई थी। इन साढ़े बाईस लाख सैनिकों का विसैन्यीकरण ही अपने-आपमें खासा बड़ा और मुश्किल काम था और समय भी चाहता था। अब मोर्चे से लौटा हुआ भारतीय सैनिक बहुत बदल चुका था। वह पहलेवाला गाँव का डरा हुआ भोला रंगरूट नहीं था। मलाया, बर्मा, मध्यपूर्व और इटली के मोर्चे मारा हुआ निडर सैनिक था, जिसने साम्राज्यों को ध्वंस होते देखा था और जो बड़े बेढब सवाल करना भी सीख गया था।

लेकिन यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इन सारी कठिनाइयों के बावजूद भारत-स्थिति अधिकांश ब्रिटिश अफसरों का मनोबल बहुत दृढ़ था और यहाँ अभी कई बरसों तक राज्य करने की अपनी योग्यता में उनका विश्वास डिगा नहीं था। इसलिए युद्ध की समाप्ति पर यदि एक ही वर्ष के अंदर भारतीय स्वाधीनता की अपनी मंज़िल पर काफी आगे बढ़ आया तो उसका कारण 'सम्राट' के प्रतिनिधियों की कमज़ोरी नहीं, भारतीयों से समझौता करने का एटली सरकार का पक्का इरादा और इंग्लैंड का बदला हुआ राजनैतिक वातावरण भी था।

अंग्रेज़ इतिहासकार 1947 की घटनाओं को अगस्त 1917 की घोषणा में निर्धारित नीति का ही अवश्यंभावी परिणाम मानने के पक्ष में रहे हैं। उस घोषणा के समय लार्ड चेम्सफोर्ड ने, भारत के वाइसराय की हैसियत से, कहा भी था कि "इसे दूरवर्ती लक्ष्य ही समझा जाए।" भारत को तुरंत स्वराज्य देने के पक्ष में ब्रिटेन की कोई सरकार कभी थी ही नहीं । मार्ले ने गोखले के वक्तव्य पर टिप्पणी करते हुए कहा था—"भारत में औपनिवेशिक स्वराज्य की अपनी अभिलाषा उन्होंने साफ शब्दों में व्यक्त की तो मैंने भी अपना यह विश्वास स्पष्ट शब्दों में कह सुनाया कि हमारे जीवन-काल के बाद भी अनेक वर्षों तक यह निरा सपना ही रहेगा।" लायड जार्ज और मांटेगू, मैक्डोनल्ड और बेन, बाल्डविन और होर, चर्चिल और एमरी कोई भी अपने जीते-जी भारत को स्वतंत्र करने के लिए तैयार न था। सभी का यही कहना था कि "मेरे जीवन में नहीं।" इंग्लैंड में ही पार्लमेंट और गणतंत्र की स्थापना में काफी समय लग गया था और कड़े संघर्ष करने पड़े थे। कनाडा और आस्ट्रेलिया-जैसे गोरे उपनिवेशों को भी राजनैतिक स्वतंत्रता प्राप्त करने में बरसों लग गए थे। इसलिए ब्रिटिश राजनीतिज्ञों की दृष्टि में भारत-जैसे नाना धर्मों और संस्कृतियों के एशियाई देश में और भी अधिक समय लगना एक स्वयंसिद्ध तथ्य ही था।

1917 के बाद से इंग्लैंड की सभी सरकारों की नीति भारत को 'किस्तों में स्वराज्य' देने की रही। लेकिन इस नीति का सबसे बड़ा दोष यह था कि स्वराज्य की किस्त दी जाने से पहले ही पुरानी हो जाती थी। 1919 में जो सुधार किए गए वे 1909 के भारत की राजनैतिक स्थिति के उपयुक्त थे, 1935 के सुधारों का भारतीय जनता संभवत: 1919 में स्वागत कर सकती थी और क्रिप्स-योजना 1942 के बदले 1940 में प्रस्तुत की जाती तो भारत-ब्रिटेन-संबंधों का नया अध्याय शुरू हो सकता था और तब न कांग्रेस तथा सरकार के और न हिन्दू-मुसलमानों के पारस्परिक संबंधों में उतना बिगाड़ हो पाता।

1920 में गांधीजी का "एक साल में स्वराज्य" का नारा किस्तवारी स्वराज्य की ब्रिटिश नीति के लिए बड़ा ही घातक सिद्ध हुआ। उनका यह नारा दिखावा या मनबहलाव नहीं, वस्तुगत परिस्थितियों की ठोस वास्तविकता था। दासता उनके निकट सबसे पहले मन की एक अवस्था थी। स्वतंत्र होने के संकल्प के साथ ही राष्ट्र की स्वाधीनता की प्रक्रिया प्रारंभ हो जाती थी।

सत्याग्रह ने अंग्रेज़ सरकार को खासी मुसीबत में डाल दिया था। उपेक्षा करने से आंदोलन ज़ोर पकड़ता था। दबाने से देश-विदेश की सहानुभूति और समर्थन उसे प्राप्त हो जाता था। दमन का एक तो स्थायी परिणाम नहीं होता था और दूसरे वह इंग्लैंड की जनवादी विचाराधारा के अनुकूल भी नहीं था। भारत के मामलों में यों तो ब्रिटिश जनता कभी छठे-छमाहे ही दिलचस्पी लेती थी, लेकिन चालीस करोड़ भारतवासियों पर उनकी इच्छा के विरुद्ध शासन करना आमतौर पर इंग्लैंड की उदारवादी परंपराओं के प्रतिकूल समझा जाता था। हर सत्याग्रह-आंदोलन ब्रिटिश शासन के खिलाफ भारत के राष्ट्रीय विरोध की शक्ति का पैमाना हुआ करता था, जिससे उसे मुट्ठी-भर लोगों का गलत असंतोष कहने के सरकारी प्रचार की कलई खुल जाती थी।

दूसरे महायुद्ध ने दुनिया का नक्शा और शक्तियों का संतुलन ही नहीं, आदमी के मन और मस्तिष्क को भी बदल दिया था। भारत के प्रश्न पर ब्रिटिश जनमत में भी युद्ध के बाद जबर्दस्त परिवर्तन हुआ। जिन बौद्धिक बलों और वैचारिक क्रांति ने 1945 में मज़दूर-दल को पदारूढ़ किया, उसी जन-शक्ति ने भारत के संबंध में परंपरागत टोरी-नीति को ठुकराने में भी सहायता की। मज़दूर सरकार नई नीति को अपनाने के लिए उद्यत थी ही, भारत की विस्फोटक परिस्थिति ने उसे और भी शीघ्रता करने के लिए विवश कर दिया। 1945 के नवंबर और दिसंबर में, भारत की स्थिति के संबंध में हाउस आव कामंस में, 6 मार्च, 1947 को भाषण करते हुए, इंग्लैंड के मज़दूर मंत्रिमंडल के सदस्य और भारत में सत्ता के हस्तांतरण से घनिष्ठ रूप से संबंधित मि. अलेक्जेंडर ने कहा था, "उस समय भारत सरकार बारूद के ढेर पर बैठी हुई थी, जो युद्ध के बाद की परिस्थितियों के कारण किसी भी क्षण भभक सकता था।"

1946 के शुरू महीनों की घटनाओं को देखने से मि. अलेक्ज़ेंडर के मूल्यांकन की सत्यता असंदिग्ध हो जाती है। लोगों में इतना गुस्सा और अंसतोष घर कर गया था कि हिंसात्मक उपद्रव के लिए ज़रा-सा बहाना काफी होता था और कई बार तो बिना किसी बहाने के ही तोड़-फोड़ की कार्रवाइयाँ शुरू हो जाती थीं। फरवरी, 1946 में आजाद हिन्द फौज के एक मुसलमान अफसर को दी गई कोर्ट-मार्शल की सज़ा के खिलाफ कलकत्ते में मुसलमानों के जलूस ने इतना उग्र रूप धारण कर लिया कि कई दुकानें लूटी गईं और बसें तथा ट्राम गाड़ियाँ जला दी गईं। वायु-सेना में

अनुशासनहीनता और हुक्म-उदूली की कई घटनाएं सामने आईं और बंबई में नाविकों ने बगावत कर दी, यहाँतक कि पुलिस के सिपाहियों में भी असंतोष बढ़ने लगा था और हड़ताल एवं जलूसों के द्वारा वे उसे व्यक्त करने लगे थे। सेना और पुलिस के जिस मुख्य आधार पर ब्रिटिश शासन भारत में टिका हुआ था, वही चरमराने लग गया था।

ऐसे समय प्रशासन-तंत्र को अधिक शक्तिशाली और सक्षम करने की आवश्यकता थी, लेकिन युद्ध के जमाने में जहाँ काम और महकमे बहुत बढ़ गए थे, विश्वस्त और उच्चपदस्थ अंग्रेज़ों की संख्या निरंतर कम होती गई थी। लड़ाई के सारे ज़माने में आई. सी. एस. और भारतीय पुलिस सेवा में कोई भी आला अंग्रेज़ अफसर भर्ती नहीं किया जा सका था और जो थोड़े-बहुत यूरोपियन काम कर रहे थे, उनमें से अधिकांश की सेवा-निवृत्ति का समय समीप आ गया था।

समस्या के व्यावहारिक पक्ष पर ज़ोर देने के ब्रिटिश स्वभाव के ही कारण इंग्लैंड के मंत्रिमंडल ने प्रशासन की दुर्बलता और अक्षमता का बार-बार इतना अधिक उल्लेख किया, लेकिन विश्व-इतिहास में ब्रिटेन द्वारा भारत को सत्ता हस्तांतरित किए जाने का महत्त्व केवल व्यावहारिक और राजनैतिक आवश्यकता को स्वीकार कर लेने की दृष्टि से ही नहीं है, असल में इस दृष्टि से तो उसका कोई महत्त्व है भी नहीं। वास्तव में प्रधान मंत्री एटली ने 1946-47 में जिस नीति का अनुसरण किया, वह केवल घटनाचक्र की बाध्यता का ही परिणाम न थी, उसके मूल में एक आदर्शवादी वैचारिक दृष्टिकोण भी था। सत्ता का हस्तांतरण मूलत: ब्रिटेन और भारत के पारस्परिक संबंधों को सुधारने की ब्रिटिश सरकार की अभिलाषा से ही प्रेरित हुआ था और यह गांधीजी की बहुत बड़ी जीत थी। पूरे तीस बरस से वह दोनों देशों के पारस्परिक संबंधों को सुधारने का ही प्रयत्न करते रहे थे। ह्यूम और वेडरबर्न, सी. एफ. एंडरूज़ और होरेस अलेक्ज़ेंडर, ब्रेल्सफोर्ड और ब्राकवे, लास्की और कार्ल हीथ, म्यूरियल लीस्टर और आगाथा हैरीसन आदि अनेक ब्रिटिश पुरुष और महिलाएं भी दोनों के पारस्परिक संबंधों को सुधारने की ज़ोरदार सिफारिशें करते आए थे। भारतीयों की स्वतंत्र होने की आकांक्षा के प्रति सदैव सहानुभूतिशील ये अंग्रेज़ महानुभाव अपने समय में इंग्लैंड के नगण्य अल्पमत को ही प्रभावित और अभिव्यक्त कर

सके थे, लेकिन कालांतर में उचित अवसर आने पर उनके विचारों के ही अनुरूप उनके देश की राष्ट्रीय नीति निर्मित हुई।

ब्रिटिश नीति में परिवर्तन के जो भी कारण रहे हों, मार्च 1946 में, जो केबिनेट मिशन भारत आया, उसने यहाँ के लोगों को ब्रिटिश सरकार की सद्भावना और तत्परता का विश्वास दिलाने में कोई प्रयत्न बाकी न छोड़ा। केबिनेट मिशन के तीन मंत्रियों में लार्ड पैथिक लारेंस और सर स्टैफर्ड क्रिप्स से गांधीजी बहुत अच्छी तरह परिचित थे। 'मिशन' ने, जबतक वह भारत में रहा, गांधीजी से औपचारिक और अनौपचारिक दोनों ही तरह से अनेक बार सलाह-मशविरा किया। उन्होंने सब मिलाकर 472 'नेताओं' से भेंट की, यद्यपि राजनैतिक दलों के रूप में निर्णयात्मक महत्त्व केवल कांग्रेस और लीग का था, और मुख्य प्रश्न भी भारत की एकता अथवा विभाजन से ही संबंधित था। कांग्रेस विभाजन के पक्ष में नहीं थी, अधिक-से-अधिक सांस्कृतिक, आर्थिक और प्रादेशिक स्वायत्तता (स्वशासन) को स्वीकार कर सकती थी। परिणाम यह हुआ कि शिमला-सम्मेलन में भी कांग्रेस और लीग के आपसी मतभेदों को मिटाया न जा सका। तब 16 मई को केबिनेट मिशन ने अपनी समझौता-योजना पेश की। सार-रूप में उस योजना के मुख्य अंश ये थे—भारत का स्वतंत्र राज्य-विधान संघ के ढंग का होगा, जिसमें रियासतें भी सम्मिलित होंगी। संघ-सरकार विदेशी मामलों को, सुरक्षा और यातायात आदि को संभालेगी। सारे अवशिष्ट अधिकार प्रांतों और रियासतों के हाथ में होंगे। एक-जैसे प्रांतीय विषयों के संबंध में प्रांत चाहें तो अपने समूह अथवा गुट बना सकेंगे। प्रांतों और रियासतों के प्रतिनिधियों से निर्मित विधान-परिषद् प्रारंभिक कार्रवाई के बाद तीन समूहों में बँट जाएगी। पहले समूह में मदरास, बंबई, संयुक्त प्रांत, बिहार और उड़ीसा, दूसरे समूह में पंजाब, सिंध और पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत और तीसरे समूह में बंगाल और आसाम रहेंगे। ये समूह अपने-अपने प्रांतों का गुट बनाने का और यदि गुट बन गया तो उसकी कार्यपालिका और विधान मंडल को सौंपे जानेवाले विषयों का फैसला भी करेंगे।[1]

केबिनेट मिशन की विदाई के बाद देश की अस्थिर और उलझी हुई राजनैतिक परिस्थिति को समझने के लिए सत्ता के हस्तांतरण के प्रति ब्रिटिश सरकार, कांग्रेस और लीग के रुखों को बहुत थोड़े में समझ लेना आवश्यक है। ब्रिटिश प्रधान मंत्री एटली शासन सौंपने का काम अपनी

पहल को बनाए रखकर शीघ्र और शांतिपूर्वक करना चाहते थे। ब्रिटिश सरकार के निकट यह एक राजनैतिक समस्या थी, जो समझौते और विचार-विनिमय से हल की जा सकती थी। इसलिए किसी एक ही हल पर उसका कोई आग्रह नहीं था। कांग्रेस और लीग आपस में मिलकर जो भी व्यावहारिक हल पेश करतीं, उसे वह स्वीकार करने को तैयार थी।

गांधीजी का दृष्टिकोण भिन्न था। वह सत्ता के हस्तांतरण को ज़ल्दी-ज़ल्दी जोड़-तोड़ करके निपटाया जानेवाला प्रश्न नहीं, न्याय और नैतिक समाधान का प्रश्न मानते थे। वह यह तो अवश्य चाहते थे कि अल्पसंख्यकों की आशंकाओं को निर्मूल किया जाए, लेकिन बँटवारे की धमकी उन्हें किसी भी शर्त पर स्वीकार नहीं थी, क्योंकि आगे चलकर इससे उन्हें भारत और हिन्दू-मुसलमानों का अहित ही होता दिखाई देता था। ब्रिटिश सरकार द्वारा जिन्नासाहब को नाराज़ न करने की बात उनकी समझ में आती तो थी, परंतु साथ ही उससे चिन्ता भी होती थी। वह इस पक्ष में नहीं थे कि कांग्रेस ज़ल्दबाजी में ऐसी कोई तजवीज स्वीकार कर ले, जिसके लिए बाद में पछताना पड़े। कांग्रेस-जनों पर सरकार के कोप को वह इससे लाख गुना अच्छा समझते थे। लेकिन कांग्रेसी नेताओं को उनकी यह सलाह बिलकुल पसंद नहीं थी। ब्रिटिश सरकार की ही तरह उनके लिए भी यह एक राजनैतिक समस्या थी, जिसके समाधान में देर या हिचकिचाहट से देश में गृह-युद्ध छिड़ जाने की आशंका थी।

गांधीजी को ऐसा लगता था कि ब्रिटिश सरकार की घोषणा के बावजूद अधिकांश भारतीयों को यह विश्वास नहीं हो रहा था कि अंग्रेज़ सचमुच ही चले जाएंगे। ब्रिटिश सेनाओं को भारत से तत्काल हटा लेने या रियासतों को दिए गए संरक्षण तुरंत समाप्त कर देने-जैसी किसी बड़ी घटना से ही विभिन्न राजनैतिक दलों और सर्वसाधारण जनता को अंग्रेज़ों के जाने का विश्वास हो सकता था। जबसे गांधीजी को अंग्रेज़ों के भारत छोड़ने का विश्वास हुआ था, यह प्रश्न उनकी चिन्ता का विषय बन बैठा था कि सदियों की गुलामी के बाद देशवासी आज़ादी के धक्के को सह भी पाएंगे या नहीं ? अप्रैल, 1946 में ब्रिटिश पत्रकार ब्रेल्सफोर्ड से उन्होंने कहा भी था, "मुझे विश्वास है कि इस बार अंग्रेज़ सच ही कह रहे हैं। लेकिन क्या भारत आज़ादी के इस आकस्मिक धक्के को सह पाएगा ? मेरी हालत जहाज के उस यात्री-जैसी हो रही है, जो तूफान

के समय डेक पर रखी बाँस की कुर्सी पर बैठे रहने के बाद उठकर चलने में गिर-गिर पड़ता है और प्रयत्न करके भी संभल नहीं पाता।"

कुछ तो 1942 के उत्पातों के प्रभाव के कारण और कुछ युद्धोत्तरकाल के नैतिक स्खलन के परिणामस्वरूप लोग दिनों-दिन अनुशासनहीन और उच्छृंखल होते जा रहे थे, जिनसे गांधीजी की चिन्ता बहुत बढ़ गई थी। फरवरी 1946 में 'हरिजन' के संपादकीय में उन्होंने लिखा भी था, "चारों ओर घृणा छा गई है और अगर हिंसा से आज़ादी को समीप लाया जा सके तो उतावले देशभक्त खुशी-खुशी घृणा से फायदा उठाने को तैयार हो जाएंगे ।" घृणा और हिंसा के खतरे गांधीजी को स्पष्ट दिखाई दे रहे थे, जिनकी अभिव्यक्ति लोगों की ब्रिटिश-विरोधी भावनाओं अथवा सांप्रदायिक दंगों के रूप में हो रही थी। बड़े शहरों में दंगे बार-बार होने लगे थे और हिन्दू मुसलमानों को और मुसलमानों हिन्दुओं को और दोनों मिलकर गुंडों को इसके लिए दोषी ठहराते थे। "लेकिन गुंडे हैं कौन ?" गांधीजी ने पूछा और फिर स्वयं ही जवाब दिया था—"हमीं तो उन्हें बनाते हैं।" जब पढ़े-लिखे शरीफ लोग जहर उगलते और उत्तेजना फैलाते थे तभी तो गुंडों को खुल खेलने का मौका मिलता था। 1938-39 की तरह शांति दल बनाने पर वह फिर ज़ोर देने लगे। ऐसे अहिंसाव्रतियों को आगे आना चाहिए, जो प्राणों पर खेलकर दंगाग्रस्त क्षेत्रों में जाएं और शांति स्थापना करें और ज़रुरत पड़ने पर हँसते-हँसते मौत को भी गले लगाएं। साथ ही, उन्होंने लोगों को बोलने और लिखने में समझ से काम लेने की सलाह दी, जिससे सत्ता के हस्तांतरण का महान अनुष्ठान शांतिपूर्वक संपन्न किया जा सके।

लेकिन यह देश का दुर्भाग्य ही था कि जिन कारणों से गांधीजी और कांग्रेस राजनैतिक तापमान को गिराना चाहते थे, जिन्ना और लीग के लिए तो, 'चूके तो गए' वाली बात थी। केबिनेट मिशन से लंबी चर्चाओं के दौरान यह बिलकुल साफ हो गया था कि कांग्रेस ही नहीं, मज़दूर सरकार भी पाकिस्तान के विरुद्ध थी। अब तो गृह-युद्ध या उसकी धमकी देकर ही कांग्रेस और ब्रिटिश सरकार को बँटवारे के लिए मजबूर किया जा सकता था। केबिनेट मिशन के सदस्य अभी इंग्लैंड पहुँच भी न पाए थे कि प्रांतों के समूह बनाने और अंतरिम सरकार के स्वरूप को लेकर मामला फिर गरमा-गरमी पर पहुँच गया।

27 जुलाई, 1946 को मुस्लिम लीग की केन्द्रीय समिति ने केबिनेट मिशन की योजना का अपना समर्थन वापस ले लिया, विधान-परिषद् के बहिष्कार का निर्णय किया और पाकिस्तान बनाने के लिए 'सीधी कार्रवाई' की घोषणा कर दी। जिन्नासाहब ने कहा कि अब मुसलमानों ने वैधानिक उपायों को छोड़ दिया है। "हमने पिस्तौल गढ़ ली है और उसका इस्तेमाल करना भी जानते हैं।" जब उनसे पूछा गया कि आपका आंदोलन हिंसात्मक होगा अथवा अहिंसात्मक, तो उन्होंने 'नीतिशास्त्र' पर बहस करने से इनकार कर दिया। लीग के कुछ नेता तो उनसे भी बढ़कर निकले। उन्होंने साफ-साफ कह दिया और जिस गुस्से और बेसब्री से 'सीधी कार्रवाई' की बात कही और तैयारियाँ की गई थीं, उससे तो उसके शांतिपूर्ण होने की कल्पना सपने में भी नहीं की जा सकती थी।

जब तनाव बढ़ रहा हो तो केन्द्र में मजबूत और ताकतवर सरकार का होना बहुत ज़रूरी था। केबिनेट मिशन अंतरिम राष्ट्रीय सरकार स्थापित करने में सफल नहीं हुआ था। अब जुलाई में वाइसराय लार्ड केवल ने पुनः इस दिशा में प्रयत्न आरंभ किए और पं. जवाहरलाल नेहरू को केन्द्र में अंतरिम सरकार बनाने के लिए आमंत्रित किया। नेहरूजी ने जिन्नासाहब को भी अंतरिम सरकार में सम्मिलित करना चाहा, परंतु उन्होंने सहयोग देने से इनकार ही नहीं किया, ज़हर भी उगला, "सवर्ण हिन्दुओं की फासिस्ट कांग्रेस और उसके पिट्ठू अंग्रेज़ी संगीनों की मदद से मुसलमानों और अन्य अल्पसंख्यकों पर हावी होकर उन्हें दबाना और उनपर हुकूमत करना चाहते हैं।"

देश को संकट में से सही-सलामत निकाल ले जाने के लिए अब पूरे संयम से काम लेने की आवश्यकता हो, इस तरह की कटुता और विष-वमन कितना अनिष्टकारी हो सकता है ! 16 अगस्त को मुस्लिम लीग ने जो 'सीधी कार्रवाई दिवस' मनाया, उससे एक के बाद एक बारूद की ढेरियाँ इस तरह सुलगती चल गई कि साल-भर तक देश में धमाके-पर-धमाके और जन-धन को अपार हानि होती रही।

1. इसके बाद सब समूह फिर एकत्र होकर रियासतों के प्रतिनिधियों के साथ मिलकर भारतीय संघ का विधान तैयार करते। विधान परिषद् में 389 प्रतिनिधि रखे गए थे। पहले समूह में 167 आम और 20 मुस्लिम, दूसरे समूह में 9 आम, 4 सिख और 22 मुस्लिम, तीसरे समूह में 34 आम और 36 मुस्लिम, रियासतों के 93 और दिल्ली, अजमेर-मेरवाड़ा, कुर्ग और ब्रिटिश बिलोचिस्तान का 1-1, इस प्रकार सदस्य थे। इस योजना में रियासतों की सार्वभौमिकता स्वीकार की गई थी और नया विधान लागू होने पर प्रांतों को समूह से पृथक हो जाने का अधिकार भी दिया गया था। नया विधान बनने और प्रचलित होने तक देश के विभिन्न दलों की अंतरिम सरकार बनाने का अधिकार वाइसराय को दिया गया था— अनुवादक

४०. ज्वालाओं का शमन

मुस्लिम लीग ने 16 अगस्त, 1946 को 'सीधी कार्रवाई दिवस' मनाया। उस दिन कलकत्ता में ऐसा भीषण दंगा, खून-खच्चर और मारकाट हुई, जिसकी मिसाल मिलना मुश्किल है। चार दिन तक शहर पर गुंडों का आतंक छाया रहा। शातिर गुंडों की टोलियाँ बल्लम, भालों, फरसों, तलवारों, लाठियों और बंदूक-पिस्तौलों तक से लैस शहर-भर में मार-धाड़ और लूट-खसोट करती रहीं। 'स्टेट्समेन' अखबार ने उन चार दिनों के उत्पातों को 'कलकत्ता की ज़बर्दस्त खूंरेजी' कहा था। उस नरमेध में पाँच हज़ार व्यक्ति मारे गए और पंद्रह हज़ार से भी अधिक घायल हुए थे।

उस समय बंगाल में लीगी मंत्रिमंडल का शासन था और एच. एस. सुहरावर्दी प्रधान मंत्री थे। स्टेट्समेन का कहना है कि "दंगें के पहले लीग के रवैये से यही नतीजा निकाला जाएगा—और सो भी केवल उसके विपक्षियों के द्वारा ही नहीं—कि दंगा न करने के संबंध में उसके सदस्यों में मतैक्य नहीं था।" और लीगी मंत्रिमंडल पर तो खुल्लमखुल्ला यह आरोप लगाया गया कि उत्पात हो सकते हैं, यह मालूम होते हुए भी उसने पहले से रोकथाम की कोई कोशिश नहीं की। और जब दंगा शुरू हो गया तो सुहरावर्दी ने पुलिस को तत्परता और निष्पक्षता से अपना काम करने से जान-बूझकर रोका।

पाकिस्तान के प्रति मुसलमानों की प्रबल भावना को अभिव्यक्त करने के उद्देश्य से लीग ने जो दंगा करवाया था, वह दुधारी तलवार सिद्ध हुआ। शुरू में तो कलकत्ता की गैर-मुस्लिम आबादी पिट गई, लेकिन अपने संख्याबल के कारण संभलकर उसने और भी निर्ममता से जवाबी हमला कर दिया। परिणाम यह हुआ कि बंगाल में लीगी मंत्रिमंडल के बावजूद कलकत्ता के शक्ति-परीक्षण में बाज़ी हिन्दुओं के ही हाथ रही। इसका बदला पूर्वी बंगाल के एक मुस्लिम-प्रधान जिले नौआखाली में चुकाया गया। सभ्यता के केन्द्र से बहुत दूर होने के कारण यहाँ उपयुक्त संचार-सुविधाएं भी नहीं थीं। धर्मांध मौलवियों और मौका-परस्त नेताओं ने ऐसी आग भड़काई कि गुंडों को खुल खेलने का मौका मिल गया। फिर तो सारे ज़िले में विनाश की तांडवलीला ही शुरू हो गई। हिन्दुओं के घर जला दिए गए, उनकी फसलें लूट ली गईं, मंदिर भ्रष्ट और तहस-नहस कर डाले गए, हजारों की संख्या मैं हिन्दू औरतें उड़ाई गई और कइयों को जबर्दस्ती मुसलमान बनाया

गया। हिन्दू अपने पुश्तैनी घर और गाँव छोड़-छोड़कर भागने लगे। उच्छृंखलता और अराजकता के उस दौर-दौरे में जो-कुछ कलकत्ते में हुआ था, उससे कहीं भीषण कांड नौआखाली में हुए। धर्म के नाम पर और राजनैतिक उद्देश्य के लिए कितनी जघन्यता और पशुता की जा सकती है, यह संसार के सामने आ गया।

गांधीजी उस समय दिल्ली में थे। स्त्रियों पर किए गए अत्याचारों के संवादों ने उन्हें और भी व्यथित कर दिया। अपने सारे कार्यक्रम रद्द करके उन्होंने पूर्वी बंगाल जाने का फैसला किया। मित्रों ने उन्हें रोकने की कोशिश की। उनका स्वास्थ्य भी अच्छा नहीं था। बहुत-से महत्त्वपूर्ण राजनैतिक मामलों में उनकी सलाह की ज़रुरत पड़ सकती थी। लेकिन उन्होंने एक न सुनी। “मैं नहीं जानता कि वहाँ जाकर क्या कर पाऊँगा।” उन्होंने कहा, “लेकिन वहाँ जाए बगैर मुझे शांति न मिलेगी।"

अगस्त के दंगों से क्षत-विक्षत कलकत्ता की हालत देखकर “मनुष्य को पशु बना देनेवाले पागलपन के विचार से” उनकी छाती बैठने लगी थी। पूर्वी बंगाल में भय, घृणा और हिंसा का बोलबाला था। गांधीजी ने अपने-आप को वहाँ, जैसाकि उन्होंने एक वक्तव्य में कहा था, “झूठ और अतिशयोक्तियों” के बीच पाया। “मैं सचाई का पता नहीं लगा सकता। पारस्परिक अविश्वास की कोई सीमा नहीं है। पुराने रिश्ते और दोस्तियाँ सब खत्म हो गई। साठ वर्ष तक मेरे जीवन के आधार बने रहनेवाले सत्य और अहिंसा की जैसे आज समाप्ति ही हो गई। सत्य और अहिंसा से अधिक अपनी परीक्षा के लिए मैं श्रीरामपुर गाँव जा रहा हूँ...”

नौआखाली जिले के श्रीरामपुर गाँव के दोसौ हिन्दू परिवारों में से दंगों के बाद सिर्फ तीन बचे थे। गांधीजी ने अपने दल के सदस्यों को आस-पास के गाँवों में भेज दिया। प्यारेलाल, सुशीला नैयर, आभा, कनु गांधी और सुचेता कृपलानी अलग-अलग एक-एक गाँव में जा बसे। श्रीरामपुर में गांधीजी के साथ रह गए उनका स्टेनोग्राफर परशुराम, दुभाषिया का काम करनेवाले बंगाली प्रोफेसर निर्मलकुमार बोस और मनु गांधी। अगले छः सप्ताह तक चटाई बिछा लकड़ी का तख्त दिन में उनके कार्यालय का और रात में बिस्तरे का काम देता रहा। वह रोज़ सोलह-सोलह और कभी-कभी तो चौबीस घंटे काम करते थे। न उन्हें खाने की सुध थी, न सोने की। थोड़ा-बहुत पेट

में डाल लेते और बहुत थोड़ी-सी देर के लिए सो लेते थे। अपने सारे काम स्वयं करते, खुद अपने कपड़ों की मरम्मत करते, अपने हाथ से खाना पकाते और अकेले हाथों भारी-भरकम डाक से निपटते थे। लोगों से मिलना-जुलना और गाँव के मुसलमानों के घर मिलने जाना आदि तो लगा ही हुआ था। लीगी अखबार पिछले कई वर्षों से उन्हें मुसलमानों का सबसे बड़ा दुश्मन करार देते रहे थे। वे अपने बारे में श्रीरामपुर के मुसलमानों को खुद फैसला कर लेने देना चाहते थे।

दोनों संप्रदायों में पारस्परिक विश्वास फिर से पैदा करना बड़ा ही मुश्किल और देर से होनेवाला काम था। फिर भी नौआखाली में उनकी उपस्थिति ने पूर्वी बंगाल के गाँवों को ढाँढ़स देने और हिम्मत बंधाने का काम किया। लोगों का गुस्सा और तनाव कम होने लगा और दिलों में नरमी आती गई। यदि लीगी अखबार उनके खिलाफ धुआँधार विषैला प्रचार न कर रहे होते और उनके 'शांति-प्रयत्नों की' 'राजनैतिक' चाल कहकर निन्दा न की गई होती तो उन्हें और भी अधिक सफलता मिलती। स्थानीय लीगी नेताओं और शायद लीगी हाईकमांड के भी दबाव के कारण मुख्य मंत्री सुहरावर्दी बंगाल में उनकी उपस्थिति के प्रति सशंक हो उठे और उनके तत्काल बंगाल छोड़ जाने का समर्थन करने लगे। गांधीजी को लीगियों के इस चतुर्दिक विरोध से ज़रा भी विस्मय न हुआ। लीगी नेताओं के इस अविश्वास के लिए उन्होंने अपने-आप को ही दोषी माना ! लगभग आत्मदंड की सीमा तक उन्होंने आत्म-परीक्षण किया। 2 जनवरी, 1947 को उन्होंने अपनी डायरी में लिखा—"रात दो बजे से जाग रहा हूँ। ईश्वर की कृपा ही मुझे थामे हुए है। ज़रूर मेरे अंदर ही कोई खामी है, जिसकी वजह से यह सब हो रहा है। मेरे चारों तरफ गहरा अंधेरा है। ईश्वर कब मुझे इस अंधेरे से उबारकर अपनी शरण में लेगा ?"[1]

उसी दिन वह श्रीरामपुर के आस-पास के गाँवों का दौरा करने के लिए चल पड़े। चंडीपुर गाँव पहुँचकर उन्होंने चप्पलें भी उतार दीं, धर्म-प्राण तीर्थ-यात्रियों की भांति वहाँ से नंगे पाँव आगे बढ़े। गाँव के ऊबड़-खाबड़ रास्ते फिसलन-भरे होल और कोई दुष्ट उनपर काँटे और काँच के टुकड़े तक बिछा जाता। नदी-नालों की चरमराती संकरी-सी बेस-पुलिया बोझ-तले टूटने-उलटने को हो जाती । मार्ग में मिलतीं टूटी दीवारें, खंडहर मकान, ढही छतें, जलते शहतीर, दहकते मलवे, नंगी ठठरियाँ और विकृत लाशें—धर्मोन्माद का हस्तलाघव था वह सब और आँखों में आँसू भरे, हृदय

में हाहाकार लिए वह संत उस विनाश-लीला के बीच अकेला, सर्वथा एकाकी, चला जा रहा था। महाकवि रवीन्द्र का गीत 'एकला चलो रे' उसकी एकाकी यात्रा को नहीं, उसकी गहन मनोव्यथा को भी सही-सही अभिव्यक्त करता था। शायद इसीलिए यह गीत गांधीजी को उन दिनों इतना प्रिय हो गया था :

यदि तोर डाक शुने केउ ना आसे तबे एकला चलो रे।

एकला चलो, एकला चलो, एकला चलो रे॥

यदि केउ कथा ना काय, ओरे ओरे ओ अभागा,

यदि सवाई थाके मुख फिराये सवाई करे भय—

तबे परान खुले

ओ तुई मुख फूटे तोर मनेर कथा एकला बोलो रे॥

यदि सवाई फिरे जाए, ओरे ओरे ओ अभागा,

यदि गहन पथे जाबार काले केउ फिरे ना जाय—

तबे पथेर काँटा

ओ, तुई रक्त माखा चरण तले एकला दलो रे॥

यदि आलो ना धरे, ओरे ओरे ओ अभागा,

यदि झड़ बादले आंधार राते दुआर देय धरे—

तबे वज्रानले

आपन बुकेर पांजर ज्वालिये निये एकला ज्वलो रे।[2]

2 मार्च 1947 को गांधीजी बिहार के लिए रवाना हुए। वहाँ के हिन्दू किसानों ने नौआखाली का बदला लेने के लिए अपने यहाँ के मुस्लिम अल्पसंख्यकों के साथ वही किया, जो पूर्वी बंगाल में वहाँ के मुसलमान हिन्दुओं के साथ कर चुके थे। बिहार के दंगों की खबर गांधीजी को सबसे

पहले उस समय मिली थी, जब वह अक्तूबर 1946 के अंतिम सप्ताह में नौआखाली की ओर जा रहे थे। उन्होंने उसी समय घोषणा कर दी कि यदि तुरंत शांति स्थापित न हुई तो आमरण अनशन कर देंगे। गांधीजी की घोषणा तो थी ही, बिहार सरकार ने भी सख्ती से काम लिया और जवाहरलालजी ने दंगा-ग्रस्त क्षेत्रों का दौरा किया, जिससे बिहार में तुरंत शांति स्थापित हो गई।

बंगाल की तरह बिहार में भी गांधीजी ने वही बात कही—बहुसंख्यकों को अपने कृत्यों के लिए पश्चात्ताप कर अपनी भूल सुधारनी चाहिए, अल्पसंख्यकों को चाहिए कि वे माफ कर दें, मन में कीना न रखें और अपने घरों को लौट जाएं। जो भी हुआ था, उसके लिंए वह कोई बहाना सुनने को तैयार न थे। जिन लोगों ने बिहार की घटनाओं को पश्चिम बंगाल का बदला कहकर उचित ठहराने की कोशिश की, उन्हें गांधीजी ने बुरी तरह फटकारा। उनका कहना था कि सभ्यता का व्यवहार हर व्यक्ति और समुदाय का फर्ज़ है और उसके पालन में यह नहीं देखा जाता कि दूसरे ने कब, कहाँ और क्या किया। बिहार की हालत सुधरने लगी और यदि 1946-47 का सांप्रदायिक तनाव उस समय की अस्थिर और विद्वेषपूर्ण राजनीति की प्रतिक्रिया न होता तो निश्चय ही बिहार में बहुत शीघ्र स्थिति काबू में आ जाती।

गांधीजी उधर बंगाल और बिहार के गाँवों में लगे रहे और इधर देश के राजनैतिक वातावरण में बहुत तेज़ी से काफी चिन्ताजनक परिवर्तन हो गए। लीग के 'सीधी-कार्रवाई-दिवस' के बाद सारे देश में सांप्रदायिक दंगों की आग भड़क उठी। लार्ड वेवल इस देशव्यापी अराजकता से बुरी तरह घबरा गए और स्थिति पर काबू पाने की दृष्टि से उन्होंने लीग को भी अंतरिम सरकार में सम्मिलित कर लिया। केन्द्र में लीग-कांग्रेस का संयुक्त मंत्रिमंडल देश की सभी राजनैतिक व्याधियों की रामबाण औषधि समझा जाता था। पिछले सात बरस से बराबर इसीपर ज़ोर दिया जा रहा था, लेकिन कांग्रेस-लीग का संयुक्त मंत्रिमंडल भी राजनैतिक विवाद को हल न कर सका, उलटे वह और भी उग्र होता चला गया। 9 दिसंबर से विधान-परिषद् की बैठकें होनेवाली थीं। मुस्लिम लीग ने यह घोषणा कर दी कि उसके प्रतिनिधि उसमें भाग नहीं लेंगे। वैधानिक संकट इतना गहरा हो गया कि नवंबर 1946 के अंतिम सप्ताह में ब्रिटिश सरकार ने वाइसराय, नेहरूजी, जिन्नासाहब, लियाकत अली खाँ और सरदार बलदेवसिंह को विचार-विमर्श के लिए लंदन बुला

भेजा। वहाँ भी आपसी चर्चाओं का कोई परिणाम नहीं निकला और समझौते का प्रयत्न एक बार फिर विफल हुआ। तब ब्रिटिश सरकार ने प्रांतों के समूह बनाने-संबंधी केबिनट-मिशन-योजना की विवादास्पद धारा का स्पष्टीकरण करते हुए 3 दिसंबर, 1946 को एक वक्तव्य दिया। इस स्पष्टीकरण से लीग की बहुत-सी आपत्तियों का निराकरण हो गया, लेकिन फिर भी वह विधान-परिषद् में भाग लेने को राज़ी न हुई।

1947 के आरंभ में देश का राजनैतिक भविष्य पूर्णतः तिमिराच्छन्न था। सारा भारत, यहाँतक कि हर नगर और हर गाँव, गृहयुद्ध की-सी स्थिति में था। केन्द्रीय सरकार ऊपर से लेकर नीचे तक स्वयं इस तरह बँटी हुई थी कि वह प्रांतीय सरकारों को दृढ़ता और संशिलष्ट रूप से काम करने को प्रेरित नहीं कर सकती थी। कभी कांग्रेस और कभी लीग के दबाव के कारण लार्ड वेवल का कोई बस नहीं चल पाता था। प्रयत्न करके भी वह स्थिति को सुलझाने या उसपर काबू पाने में असमर्थ ही रहे थे। अराजकता को रात के अंधेरे की तरह बढ़ते देख वह इतना घबरा गए कि क्रमशः एक-एक प्रांत से अंग्रेज़ों को हटाने का सुझाव तक कर बैठे । ब्रिटिश प्रधान मंत्री एटली ने समझ लिया कि नई नीति और नया वाइसराय ही भारत में हालत को और अधिक बिगड़ने से रोक सकेगा। 20 फरवरी, 1947 को उन्होंने हाउस आव कामंस में घोषणा की कि ब्रिटिश सरकार का जून 1948 में भारत छोड़ने का इरादा बिलकुल पक्का है और यदि उस समय तक भारतीय राजनैतिक दल अखिल भारतीय विधान के संबंध में एकमत न हो सके तो “ब्रिटिश भारत में किसी भी तरह की केन्द्रीय सरकार को या कुछ क्षेत्रों की तत्कालीन प्रांतीय सरकारों को या भारतीय जनता के हित में जो भी उचित और उपयुक्त प्रतीत होगा, उस तरह सत्ता हस्तांतरित कर दी जाएगी।" उसके साथ ही लार्ड वेवल के स्थान पर लार्ड माउंटबेटन को भारत का वाइसराय नियुक्त किए जाने की घोषणा की गई थी।

ब्रिटिश प्रधानमंत्री के 20 फरवरी के वक्तव्य को नेहरूजी ने “समझदारी और साहसपूर्ण” कहा था। जिन्नासाहब उस ऐतिहासिक वक्तव्य में निहित अतुलित आस्था और साहस से तो प्रभावित नहीं हुए, लेकिन तत्कालीन प्रांतीय सरकारों को “जून 1948 में सत्ता हस्तांतरित किए जाने की संभावना से उन्हें अवश्य प्रसन्नता हुई। लीग सही चाहती भी थी । विधान-परिषद् में

सम्मिलित हुए बिना और अखिल भारतीय विधान को खटाई में डालकर उसे पूर्व और पश्चिम के प्रांतों में जहाँ वह पाकिस्तान बनाना चाहती थी, सत्ता मिली जा रही थी। पूर्व और पश्चिम के उन प्रांतों में बंगाल और सिंध में तो लीगी मंत्रिमंडल थे ही, मुस्लिम जनसंख्या-प्रधान बिलोचिस्तान केन्द्र-प्रशासित प्रदेश था। आसाम और पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत में कांग्रेसी मंत्रिमंडल थे और पंजाब में कांग्रेस, अकाली दल और यूनियनिस्टों की संयुक्त सरकार थी। लीग ने आसाम, पश्चिमोत्तर सीमा-प्रांत और पंजाब के मंत्रिमंडलों को अपदस्थ कर वहाँ लीगी मंत्रिमंडल बनाने का फैसला कर लिया। तुरंत इन तीनों प्रांतों में सीधी कार्रवाई ज़ोर-शोर से शुरू कर दी गई। इसका परिणाम खासतौर पर पंजाब के लिए बड़ा ही भयानक हुआ। पश्चिमी पंजाब के हिन्दू और सिख अल्पसंख्यकों को वही कष्ट भुगतने पड़े, जो पूर्वी बंगाल के हिन्दू अल्पसंख्यकों एवं बिहार के मुस्लिम अल्पसंख्यक भुगत चुके थे।

पंजाब के उपद्रवों के समाचार गांधीजी को बिहार में मिले। अक्तूबर 1946 से वह हिंसा की आग को बुझाने की व्यर्थ कोशिश में एक प्रांत से दूसरे प्रांत में भटकते रहे थे। एक प्रांत का काम संभल भी न पाता था कि दूसरे प्रांत में आग धधक उठती थी। कुछ लोग तो निरुपाय होकर यहाँतक कहने लगे थे कि अंग्रेज़ ही थे, जो हिन्दू-मुसलमानों को एक-दूसरे का गला काटने से रोके रहे। उनके जाते ही दोनों की आपस में ठन गई !

1946-47 की हिंसात्मक कार्रवाइयों ने गांधीजी को कड़े आघात पहुँचाने के साथ-साथ बुरी तरह व्यथित भी कर दिया था। विश्व के समक्ष भारत की अहिंसा का उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए वह जीवन-भर परिश्रम करते रहे थे। लेकिन अपनी आंतरिक अभिलाषा और आँखों के सामने प्रत्यक्ष दिखनेवाली वास्तविकता ने उन्हें पूर्णतः निराश कर दिया था। उन्हें ऐसा लग रहा था, मानो जीवन के सारे प्रयत्न ही विफल हो गए। इस सबके लिए उन्होंने अपने को ही दोषी माना । कहीं मेरी कार्य-शैली ही तो गलत नहीं? क्या मैंने असतर्कता, लापरवाही, अन्यमनस्कता और ज़ल्दबाजी से तो काम नहीं लिया ? अंग्रेज़ों से अहिंसात्मक लड़ाई लड़नेवालों के मन में दबी-छिपी हिंसा को देख पाने में मैं कहीं असफल तो नहीं हुआ ? सांप्रदायिक हिंसा अहिंसा का जबानी समर्थन करनेवालों के मन में धधकती हिंसा का ही व्यक्त रूप तो नहीं है ?

अपने सिद्धांतों और विचारों की रोशनी में एवं अपने दृष्टांत से चालित भारत के स्वाधीनता-संग्राम में इस व्यापक बुराई की जड़ें खोजने का उनका प्रयत्न स्वाभाविक ही था। सारी परिस्थिति का सिंहावलोकन करने के बाद तो यही लगता है कि अहिंसा की असफलता के लिए सारा दोष अपने सिर पर लेना ही उनकी ज्यादती ही थी । अकेला एक नेता, वह कितना ही महान क्यों न हो, चाहे तीस बरस की अवधि में ही सही, एक विशाल देश के चालीस करोड़ निवासियों को घृणा और हिंसा की भावना से मुक्त कर सकेगा, यह आशा निरी दुराशा ही कही जाएगी। यही क्या कम महत्त्वपूर्ण और प्रशंसनीय है कि उनके द्वारा संचालित देशव्यापी सामूहिक सत्याग्रहों में हिंसा की मात्रा लगभग नगण्य रही और देश के राष्ट्रीय जागरण में नवजागृत राष्ट्रवाद के साथ अन्यथा जुड़ी रहनेवाली हिंसा का लेश भी न आने पाया।

हो सकता है कि अगस्त 1942 में कांग्रेसी नेताओं की गिरफ्तारी के बाद देश की जनता अपना आपा खोकर जो उच्छृंखल हुई तो फिर सत्याग्रह का अनुशासन न अपना सकी। लेकिन 1946-47 की हिंसात्मक कार्रवाइयों का मुख्य कारण वह नहीं, वास्तव में पाकिस्तान के पक्ष-विपक्ष में किए जानेवाले प्रचार और आंदोलन से पैदा हुई उत्तेजना और तनाव ही थे। इस सारे आंदोलन की बुनियाद ही इस गलत और विद्वेषपूर्ण धारणा पर रखी गई थी कि हिन्दू और मुसलमानों में न कभी एकता थी, न आज है और न आगे कभी हो सकेगी। देश की काफी बड़ी जनसंख्या झूठी आशाओं से प्रतारित और झूठे भयों से व्यथित होती रही थी। कोई निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता था कि भारत एक और अखंड रहेगा या दो अथवा अधिक राज्यों में विभाजित हो जाएगा, पंजाब और बंगाल एक रहेंगे अथवा उनका अंग-भंग हो जाएगा, रियासतें स्वतंत्र भारत का अविभाज्य अंग होंगी अथवा स्वाधीन राज्य बन जाएंगी ? आसाम की नागा जाति और मध्य-भारत (सेंट्रल इंडिया) के आदिवासियों ने कभी स्वतंत्रता की माँग नहीं की थी, लेकिन अब उनके भी स्वतंत्र राज्यों के दावेदार खड़े हो गए थे। दक्षिण में द्राविड़स्थान बनाने और पाकिस्तान के पूरब-पश्चिम के हिस्सों को जोड़नेवाले हज़ार मील लंबे गलियारे की अफवाहें भी गरम थीं। बलकान राष्ट्रों की भांति भारत को छोटे-छोटे हिस्सों में बाँटने की जो बात कभी अमंगलसूचक समझी जाती थी, वह एक वास्तविक खतरा बन गई थी। लोग व्यग्र होकर तरह-तरह की और

मन-उपजाई बातें सोचने लगे थे । उपद्रवकारी तत्त्व यह सोच-सोचकर खुश हो रहे थे कि सत्ता के हस्तांतरित होते ही देश की ठीक वही हालत हो जाएगी जो 18 वीं शताब्दी में मुगल साम्राज्य के पराभव के समय थी और तब उन्हें खुल खेलने की मुँह-माँगी मुराद मिलेगी।

ऐसी नाजुक घड़ी में सरकार और प्रशासन-तंत्र का हाल और भी बुरा था। केन्द्रीय सरकार के मंत्रियों में न विचारों की एकता थी, न कार्य की। सभी दलों के प्रतिनिधि अपनी ढपली पर अपना राग अलाप रहे थे। प्रांतीय सरकारों का लगभग अध:पतन हो चुका था। निकट भविष्य में ही अपनी सेवाओं की समाप्ति के विचार से कुछ अंग्रेज़ अफसरों के दिल खट्टे हो रहे थे और फिर चारों ओर धधकती सांप्रदायिकता की आग को बुझाने की उनमें न इच्छा थी और न सामर्थ्य ही । अधिकांश भारतीय अफसर सांप्रदायिक विष से अछूते न रह सके थे और जो थोड़े-बहुत रहे भी थे, वे अपने मातहतों को विजातियों पर अत्याचार करने से रोक नहीं पाते थे। कई राजनैतिक दलों ने अपने-अपने सैनिक संगठन बना लिए थे। मुस्लिम लीग का नेशनल गार्ड था। हिन्दुओं का राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ था। और भी कई थे। ऐसा लगता था जैसे कानून और व्यवस्था में जनता का कोई विश्वास ही न रह गया हो।

देश की इस विस्फोटक स्थिति को गांधीजी से अधिक अच्छी तरह और कौन समझ सकता था ! लीग के 'सीधी कार्रवाई दिवस' के कलकत्ता उपद्रवों पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने कहा था, "अभी गृहयुद्ध तो नहीं छिड़ा है, लेकिन उसमें देर भी नहीं है।" अक्तूबर 1946 में जब वह दिल्ली से नौआखाली के लिए रवाना हुए तबसे धार्मिक उन्माद का शमन ही उनका खास काम हो गया था। वह जानते थे कि यदि राजनैतिक दलों में समझौता हो गया तो स्थिति काफी हदतक सामान्य हो जाएगी, लेकिन समझौते की कोई संभावना दिखाई नहीं दे रही थी और उन्हें तो यह आशंका भी थी कि कहीं हिंसा राजनैतिक समझौते पर हावी न हो जाए। उनका कहना था कि यदि नेता समझौता नहीं कर सकते तो क्यों न जनता को उसके लिए राज़ी किया जाए, लेकिन वह नहीं जानते थे कि जनता राज़ी हो भी जाएगी अथवा नहीं। बंगाल और बिहार के अपने दौरों में उन्होंने लोगों को काफी समझाया-बुझाया था, लेकिन अब मुस्लिम मध्यम वर्ग पर उनका वह असर नहीं रह गया था, जो पहले कभी हुआ करता था। हिन्दू भी बहुत बेचैन थे और उनकी नीति को

'एकपक्षीय निरस्त्रीकरण' की नीति कहकर उसमें संदेह प्रकट करने लगे थे। यदि जिन्नासाहब पूर्वी बंगाल अथवा पश्चिमी पंजाब का दौरा करते तो उससे दंगों की रोकथाम में काफी मदद मिलती। लेकिन उपवास और पद-यात्राओं को घृणा की दृष्टि से देखनेवाले जिन्नासाहब ऐसे किसी प्रस्ताव को स्वीकार करने के लिए राज़ी ही क्यों होते ! यह सब उनकी राजनैतिक शान और रुतबे के खिलाफ जो था।

जिन्नासाहब वकील और विधान-शास्त्री थे, इसलिए सहसा विश्वास नहीं होता कि वह हिंसा का समर्थन करते रहे हों। लेकिन यह तो निर्विवाद है कि हिंसात्मक कार्रवाइयों की धमकी देना उन्हें खूब आता था और शायद इसमें उनका विश्वास भी था। 'कलकत्ते की जबर्दस्त खूरेजी' और बंगाल एवं बिहार के उपद्रवों के बाद पाकिस्तान के पक्ष में सांप्रदायिक उत्पात ही उनका सबसे सबल तर्क था। वह कहने लगे थे कि यदि भारत का विभाजन नहीं किया गया तो जो हो चुकी हैं उनसे भी भीषण घटनाएं होंगी। वेवल और माउंटबेटन का अनुरोध स्वीकार कर वह शांति की अपीलों पर अपने हस्ताक्षर तो कर देते थे, परंतु आग उगलनेवाले अपने सहयोगियों को रोकने की कोई कोशिश नहीं करते थे । खुद उनके वक्तव्य उपद्रवों और उत्पातों की भर्त्सना करने के बदले लीपा-पोती के प्रयत्न होते थे।

---

1. प्यारेलाल : 'महात्मा गांधी, दि लास्ट फ़ेज़', जिल्द 1, पृष्ठ 470।
2. यदि तेरी पुकार सुन कोई न आए तो अकेला चल।

    अकेला चल, अकेला चल, अकेला ही चलो ॥

    यदि कोई बात न करे, अरे ओरे अभागे,

    यदि सब रहें मुँह फिराए, सभी करें भय—

    तब साहस से

    ओरे, तू मुँह खोल अपने मन की बात कह अकेला ही॥

    यदि सब लौट जाए, अरे ओरे अभागे,

    यदि दुर्गम पथ पर जाते, कोई फिरकर न ताके—

    तब पथ के काँटे

ओरे तू रक्तरंजित चरणतले रौंद अकेला ही ॥

यदि दीप जलाए न जले, अरे ओ रे अभागे,

यदि झड़ी बरसती अंध रात में, द्वार मुंदे हों घर के

तब वज्रानल से

अपनी छातीपंजर ज्वलित कर तू जल अकेला ही॥

४१. पराजित की विजय

मि. एटली को भारत के संबंध में सबसे अधिक डर गृहयुद्ध का था। अपने संस्मरणों में उन्होंने कहा भी है कि भारत में सत्ता के शांतिपूर्ण हस्तांतरण की संभावनाएं अधिक तो नहीं थी; पर एक व्यक्ति था, जो "शायद गाड़ी को खींच ले जाता।" वह व्यक्ति रियर-एडमिरल लार्ड माउंटबेटन थे, जो मार्च 1947 में लार्ड वेवल के बाद भारत के वाइसराय बने।

नए वाइसराय का सबसे पहला काम था गांधीजी को चर्चा के लिए आमंत्रित करना। गांधीजी उस समय बिहार में शांति-स्थापना के सिलसिले में पद-यात्रा कर रहे थे। वाइसराय का तार मिलते ही उन्होंने अगले सारे कार्यक्रम रद्द कर दिए और ट्रेन से दिल्ली पहुँचे। उन्होंने लार्ड माउंटबेटन को, कांग्रेस-लीग की संयुक्त सरकार भंग कर उसके स्थान पर जिन्नासाहब को नई सरकार बनाने के लिए आमंत्रित करने की सलाह दी। इसके द्वारा गांधीजी कांग्रेस और हिन्दुओं के बारे में जिन्नासाहब के संदेहों को एकबारगी मिटा देना चाहते थे। लेकिन ब्रिटिश सरकार को यह सुझाव उपयुक्त नहीं लगा। कांग्रेसी नेता भी सारे सूत्र लीग के हाथ में सौंपने को तैयार नहीं थे। अंतरिम सरकार में वे अपने लीगी साथियों के रुख और रवैये से खूब परिचित हो चुके थे। फिर सद्भावना-संकेतों का ज़माना भी अब नहीं रह गया था। जब जिन्नासाहब ने लार्ड मांउटबेटन से भेंट की तो बँटवारे की अपनी उसी पुरानी माँग पर उन्होंने फिर ज़ोर दिया।

अब कांग्रेस ने भी बँटवारे के प्रश्न पर अपनी नीति और दृष्टिकोण में कुछ परिवर्तन किया, जिससे वाइसराय का काम बहुत सरल हो गया। अभी तक कांग्रेस इस बात पर अड़ी हुई थी कि यदि बँटवारा होना ही है तो वह स्वाधीनता-प्राप्त के बाद हो, पहले नहीं जैसाकि मौलाना आजाद ने उस समय कहा था, "शादी पहले, तलाक उसके बाद।" लेकिन अंतरिम सरकार में कुछ महीने लीगियों के साथ काम करके कांग्रेसी नेता इस नतीजे पर पहुँचे कि एकता मुश्किल ही है। 1947 के फरवरी-मार्च महीने में तो हालत यह हो गई थी कि या तो विभाजन स्वीकार करें या देश को अराजकता के भँवर में फँस जाने दें। कांग्रेसी नेताओं ने देश के तीन-चौथाई भाग को अंधाधुंधी की गिरफ्त से बचाने के लिए विभाजन को आज़ादी से पहले ही मंजूर कर लेना ठीक समझा।

इस प्रकार 3 जून, 1947 की योजना सामने आई, जिसके अनुसार 15 अगस्त, 1947 को ब्रिटेन द्वारा दो उत्तराधिकारी राज्यों को सत्ता सौंपने की बात तय रही। इस योजना पर कांग्रेस और लीग की सम्मिलित स्वीकृति प्राप्त करने के लिए समझौता-वार्ताओं में वाइसराय को पूरे दस हफ्ते और अपना समस्त बुद्धि-कौशल लगा देना पड़ा था। यह योजना कांग्रेस और लीग के बीच समझौते का ऐसा लघुतम अंश थी, जिसपर दोनों पक्ष सहमत हो सके थे, यद्यपि अंतिम फैसला तो जनवादी तरीके से अर्थात् प्रांतीय कौंसिलों के सदस्यों के मतदान अथवा मत-संग्रह के द्वारा ही किया जाना था, लेकिन भारत और पंजाब एवं बंगाल के बँटवारे की बात पक्की हो गई थी।

गांधीजी को जिसका डर था, अब वही बात होने जा रही थी। भारत के बँटवारे की बात पक्की हो गई थी, लेकिन विभाजन ऊपर से लादा नहीं जा रहा था। पं. जवाहरलाल नेहरू, सरदार वल्लभभाई पटेल और कांग्रेस कार्य-समिति के सदस्यों के बहुमत ने उसे स्वीकार किया था। इस बार की वार्ताओं में गांधीजी ने भाग नहीं लिया था, लेकिन विभाजन के विरुद्ध वह थे, इसे सभी जानते थे। कारण भी वही थे, जिन्हें वह पहले अनेक बार बता चुके थे—"अंग्रेज़ों के भारत पर शासन करते हुए हम मिलजुलकर, संश्लिष्ट रूप से कभी कुछ सोच ही नहीं सकते। फिर भारत का नकशा बदलना ब्रिटिश सरकार का काम नहीं है। उसका काम तो है वादा की हुई तिथि को या उसके पहले 'भारत से हट जाना और देश को व्यवस्थित अथवा उथल-पुथल में, जैसी भी स्थिति हो, छोड़ जाना।" जिन उत्पातों के डर के कारण कांग्रेसी नेताओं और ब्रिटिश सरकार के निकट विभाजन नितांत आवश्यक हो गया था, उन्हीं उत्पातों और हिंसा के कारण गांधीजी विभाजन का विरोध कर रहे थे। देश में गृह-युद्ध के खतरे की वजह से विभाजन स्वीकार करने का अर्थ होगा, "इस बात को मान लेना कि काफी तादाद में हिंसा और उत्पातों का सहारा लिया जाए तो हर चीज़ हासिल की जा सकती है।"

विभाजन के बारे में इतना कड़ा रुख होने से यह खयाल किया जाता था कि शायद गांधीजी माउंटबेटन-योजना का विरोध करेंगे। खुद वाइसराय को भी यही आशंका थी। लेकिन जिस समझौते को कांग्रेस और लीगी नेताओं एवं ब्रिटिश सरकार ने मंजूर कर लिया था, उसमें अडंगा डालने का गांधीजी का कोई इरादा नहीं था। कांग्रेस की महासमिति जब माउंटबेटन-योजना पर

विचार करने बैठी तो गांधीजी ने विभाजन के विपक्ष में अपनी राय साफ-साफ बता दी, लेकिन पूरा ज़ोर लगाया योजना को मंजूर कर लेने के पक्ष में। अपनी स्वतंत्र राय को अक्षुण्ण रखते हुए भी इस आत्मत्याग के द्वारा गांधीजी ने उस समय कांग्रेस को फूट से बचा लिया।

पाकिस्तान बनने का अंतिम रूप से फैसला हो जाने पर गांधीजी ने उसके बुरे नतीजों की रोकथाम की कोशिशें शुरू कर दीं। पाकिस्तान के हिन्दू अल्पसंख्यकों को बराबरी के अधिकार और सुविधाएं देने के जिन्नासाहब के वादे का उन्होंने स्वागत किया और होनेवाले भारतीय संघ से अनुरोध किया कि 'बड़ा' होने के नाते उसे अपने यहाँ अल्पसंख्यकों के साथ न केवल न्यायोचित अपितु उदारता का व्यवहार करके अपने पड़ोसी के लिए एक उदाहरण पेश करना चाहिए।

15 अगस्त, 1947 को सत्ता के हस्तांतरण का उत्सव राजसी ठाठ-बाट से मनाने का फैसला किया गया था, लेकिन गांधीजी गाजे-बाजे के ज़रा भी पक्ष में नहीं थे। जिस दिन के लिए वह जीवन-भर परिश्रम करते रहे थे, उसके आगमन पर उनके मन में कोई उमंग नहीं थी। एक तो आज़ादी के लिए देश की एकता की बलि चढ़ानी पड़ी थी और फिर काफी बड़े क्षेत्रों की जनता अपने भविष्य को लेकर चिन्तित और व्यग्र थी। अगस्त के आरंभ में कश्मीर जाते हुए पश्चिमी पंजाब में दंगों से बर्बादी के चिह्न उन्होंने देखे और फिर उन्हें तुरंत पूर्वी बंगाल चले जाना पड़ा, जहाँ पाकिस्तान बन जाने के कारण नौआखाली के हिन्दुओं के लिए सांप्रदायिक उपद्रवों का खतरा फिर बढ़ गया था।

कलकत्ता पहुँचे तो वहाँ की हालत बहुत बिगड़ी हुई थी। सांप्रदायिक उपद्रव अपनी चरम सीमा तक पहुँच चुका था। पिछले पूरे एक साल से कलकत्ता शहर ऐसी ही तबाही से गुजर रहा था। अब लीगी मंत्रिमंडल के सत्ता छोड़ देने और अधिकांश मुस्लिम अफसरों एवं पुलिस अधिकारियों के पाकिस्तान चले जाने के कारण हिन्दू उपद्रवकारियों की बन आई थी। लगता था कि कलकत्ता के हिन्दू वहाँ के मुसलमानों से पिछली सारी बातों का बदला लेकर ही रहेंगे। सुहरावर्दी अब मुख्य मंत्री नहीं थे, शायद इसलिए उनके दृष्टिकोण में भी कुछ परिवर्तन हो गया था। वह गांधीजी से मिले और अनुरोध किया कि नौआखाली जाने से पहले कलकत्ता में शांति

स्थापित करते जाएं। गांधीजी इस शर्त पर राज़ी हो गए कि सुहरावर्दी भी उनके साथ कलकत्ते के एक ही मकान में रहें और हिन्दू अल्पसंख्यकों की रक्षा के लिए पूर्वी बंगाल के मुस्लिम जनमत को प्रभावित करने में उनकी सहायता करें। गांधीजी ने अपने रहने के लिए बेलीघाटा में एक मुसलमान मज़दूर का घर चुना। यह मुहल्ला उन दिनों मुसलमानों के लिए असुरक्षित समझा जाता था। 13 अगस्त को गांधीजी उस घर में रहने के लिए पहुँचे ही थे कि कुछ हिन्दू युवक उनके शांति-प्रयत्नों के खिलाफ प्रदर्शन करने को आ धमके। गांधीजी ने बड़ी शांति से उन्हें अपने शांति-प्रयत्नों का अभिप्राय समझाया और बताया कि भाई-भाई की इस लड़ाई को रोकना क्यों आवश्यक है और यह भी कहा कि हिंसा और तोड़-फोड़ से तो किसी को भी लाभ न होगा, उलटे हिन्दुओं का ही नुकसान होगा। उनकी मधुर, करुण, प्रेमभरी वाणी ने युवकों के रोष और उत्तेजना को पानी-पानी कर दिया। वही हाल हुआ जो वर्षा की फुहारों से बैशाख-जेठ की तप्त भूमि का होता है। बंगाली युवक बदले हुए मन-मस्तिष्क लेकर अपने घरों को लौट गए। यह एक चमत्कार था। महात्माजी के इस जादू से कलकत्ते की हालत में रातोंरात परिवर्तन हो गया। दंगा रुक गया। आज़ादी की अगवानी का दिन 14 अगस्त, दोनों कौमों ने संयुक्त रूप से साथ मिलकर मनाया। हिन्दू और मुसलमान, एक-दूसरे से निर्भय, सड़कों पर निकल आए, गले मिले और साथ नाच-गाकर आज़ादी का उत्सव मनाने लगे। अगस्त 1946 से नगर पर छाए हुए सांप्रदायिकता के घनघोर बादल छँट गए थे। ईद के दिन हिन्दुओं ने अपने मुसलमान भाइयों को गले लगाया और मुबारकबाद दी। लगता था, जैसे 1920-22 के खिलाफत आंदोलनवाले दिन लौट आए हों। तीन-तीन, चार-चार लाख आदमी गांधीजी की प्रार्थना-सभाओं में शामिल होने लगे और उन सभाओं में भारत तथा पाकिस्तान के झंडे साथ लगाए जाते। गांधीजी अपने प्रयत्नों के परिणाम से बड़े ही संतुष्ट और प्रसन्न दिखाई देते थे। उन्होंने कहा भी था—"हमने घृणा का विष पिया, इसलिए भाई-चारे का यह अमृत और भी मीठा लगता है।"

लेकिन यह मैत्री-भाव मुश्किल से पंद्रह दिन निभ पाया होगा कि पंजाब के हत्याकांडों और वहाँ से हिन्दुओं के भागने के समाचारों ने फिर आग लगा दी। 31 अगस्त की रात को हिन्दुओं की एक भीड़ गांधीजी के बेलीघाटावाले मकान पर चढ़ दौड़ी। क्रुद्ध, हिंस्र और उत्तेजित भीड़ ने

घर के खिड़की-दरवाज़े तोड़ डाले और लोग अंदर घुस गए। महात्माजी के समझाने और शांत करने का कोई असर उन लोगों पर न हुआ। भीड़ में से किसी ने उनपर पत्थर फेंका, किसी ने लाठी खींचकर मारी, लेकिन दोनों ही बार वह बाल-बाल बच गए। उसके बाद कलकत्ता फिर दंगे की गिरफ्त में आ गया।

गांधीजी के शांति-प्रयत्नों को इससे गहरा धक्का लगा। उन्होंने पहली सितंबर से अनशन शुरू करने की घोषणा कर दी—जबतक कलकत्ते में शांति स्थापित न होगी, वह अपना उपवास नहीं तोड़ेंगे। "जो मेरे कहने से न हुआ, वह शायद मेरे उपवास से हो जाए।" उपवास की घोषणा ने सारे कलकत्ते को हिला दिया, मानो बिजली ही छू गई हो। मुसलमान विचलित हो उठे और हिन्दू लज्जा से नतमस्तक, यहाँतक कि कलकत्ता के गुंडों की भी हिम्मत गांधीजी का खून अपने हाथों पर लेने की न हुई। उपद्रवकारियों ने खुद होकर कई ट्रक गैर-कानूनी हथियार अधिकारियों के पास जमा करवा दिए। दोनों कौमों के नेताओं ने आपस में शांति बनाए रखने की प्रतिज्ञा की और गांधीजी से प्रार्थना की कि वह अपना अनशन समाप्त कर दें। गांधीजी ने इस शर्त के साथ उपवास तोड़ा कि यदि फिर शांति भंग हुई तो वह आमरण अनशन कर देंगे।

कलकत्ते के उपवास ने जादू का-सा काम किया। 'लंदन टाइम्स' के संवाददाता ने कहा था कि जो काम सेना के कई डिविज़नों से न हो पाता, उसे एक उपवास ने कर दिखाया। उसके बाद कलकत्ता और बंगाल में कोई गड़बड़ी न हुई। कम-से-कम वहाँ से तो सांप्रदायिकता का भूत उतर चुका था।

अब गांधीजी ने अपना ध्यान पंजाब की ओर लगाया। 1947 के मध्य अगस्त में पंजाब में जो दंगे हुए, वास्तव में वे मार्च 1947 के दंगों का ही एक सिलसिला था। पंजाब के शहर और गाँव आशा, निराशा और आशंका में झकझोरे खाते और साथ ही लड़ाई की तैयारियाँ भी करते रहते थे। सांप्रदायिक आधार पर सरकारी कर्मचारियों की अदला-बदली के कारण प्रशासन-तंत्र एकदम निकम्मा और कमज़ोर हो गया था। अगस्त महीने के अंत तक पुलिस और फौज पर सांप्रदायिक तत्त्वों के पूरी तरह हावी हो जाने के कारण हिन्दुओं का पश्चिमी पंजाब में और मुसलमानों का पूर्वी पंजाब में रहना असंभव हो गया।

पचास लाख हिन्दू और सिखों की पश्चिमी पंजाब से पूर्वी पंजाब की ओर एवं लगभग इतने ही मुसलमानों की पूर्वी पंजाब से पश्चिमी की ओर भगदड़ ने मानवी कष्टों और तबाही का जो दृश्य उपस्थित किया, समसामयिक इतिहास में उसका उदाहरण मिलना मुश्किल है और सबसे बड़ा खतरा तो यह था कि जब शरणार्थियों के काफले मंजिल पर पहुँचकर आप-बीती के दु:खभरे किस्से सुनाते तो वहाँ भी हिंसा और उत्तेजना फैल जाती थी। सितंबर के पहले सप्ताह में दिल्ली में ठीक हुआ भी यही। जब गांधीजी दिल्ली पहुँचे तो भीषण सांप्रदायिक उपद्रवों के कारण वहाँ का सारा कामकाज ठप्प हो गया था। दिल्ली को सांप्रदायिक आग की लपटों में जलता छोड़ पंजाब जाने का कोई तुक गांधीजी की समझ में न आई। सरकार ने स्थिति को संभालने में काफी मुस्तैदी दिखाई थी। लेकिन पुलिस और सेना के ज़ोर से थोपी हुई शांति से गांधीजी भला कैसे संतुष्ट हो सकते थे ! लोगों के दिलों से ही हिंसा और घृणा को मिटाना होगा। काम बहुत ही कठिन था। राजधानी में कई शरणार्थी कैंप थे। कुछ में पश्चिमी पाकिस्तान से भागकर आए हुए हिन्दू और सिख शरणार्थी भरे हुए थे और कुछ में दिल्ली से भागनेवाले मुसलमान सीमा के पार जाने के इंतज़ार में पड़े थे।

हिन्दू और सिख शरणार्थियों के मिजाज का पारा बहुत चढ़ा हुआ था। घर, ज़मीन और रोजी-रोजगार से उखडे हुए इन लोगों में से बहुत-से पहली बार असहनीय गरीबी का दु:ख भोग रहे थे, कइयों को दंगों में अपने प्रियजनों से हाथ धोने पड़े थे और गुस्सा तो सभी के दिलों में था। सभी दिल्ली में अपने लिए जगह बनाना और रोज़गार पाना चाहते थे। सबकी आँखें मुसलमानों द्वारा छोड़े हुए मकानों और दुकानों पर लगी हुई थीं। पाकिस्तान में छोड़ी हुई अपनी जायदाद के बदले मुसलमानों की भारत स्थित जायदाद को पाना वे अपना हक समझते थे। महात्माजी की 'भूल जाने और क्षमा करने' की सलाह उनकी समझ में नहीं आती थी । वे कहते कि जिनके हाथों अपार कष्ट सहने पड़े, उनके लिए दिलों में घृणा क्यों न होगी ? बैंटवारे के लिए भी वे गांधीजी को ही जिम्मेदार ठहराते थे। महात्माजी की अहिंसा से पाकिस्तानियों की हिंसा बहुत तगड़ी साबित हुई थी। गांधीजी के यह कहने पर कि आप लोग एक दिन लौटकर पाकिस्तान में अपने घरों को जा सकेंगे, वे अविश्वास से सिर हिलाकर रह जाते थे। उनका कहना था कि जो हमने देखा और

सहा वह गांधीजी को भुगतना नहीं पड़ा, इसलिए ऐसी बातें कहते हैं ! इधर गांधीजी लोगों को समझाने-बुझाने और आश्वासन देने में दिन-रात एक किए दे रहे थे। दिल्ली में बैठकर वह लोगों की शिकायतें सुनते, मुसीबतों के हल निकालते, रोज़ के अनगिनत मुलाकातियों में किसी की पीठ ठोकते तो किसी को झिड़कते, शरणार्थी कैंपों के चक्कर लगाते और स्थानीय अधिकारियों से भी मिलते-जुलते रहते थे। यह सारा काम बुरी तरह थका देने और दिल तोड़नेवाला था।

गांधीजी कभी गंभीरता से और कभी मज़ाक में कहा करते थे कि वह सवा सौ वर्ष की उम्र तक जीवित रहना चाहते हैं। उनके विचारों के अनुसार दीर्घ जीवन का यही भारतीय आदर्श था। लेकिन 'कलकत्ता की ज़बर्दस्त खूंरेजी' के बाद के दंगों के कारण वह इतने त्रस्त और दुःखी हो गए थे कि अक्सर कहा करते, "भाई-भाई की इस सत्यानाशी लड़ाई को देखते हुए जीवित रहने की अब ज़रा भी इच्छा नहीं होती। " उस बार अपने जन्मदिवस पर बधाई देनेवालों से उन्होंने कहा था, "बधाई कैसी, मातमपुर्सी ही करनी चाहिए।"

क्या उन्हें अपनी आसन्न मृत्यु का आभास मिल गया था, या वह उनकी उस समय की आत्म-पीड़ा और मनोव्यथा की प्रतिध्वनि ही थी, कौन जाने ? 'जीवन और मृत्यु' को वे "एक ही सिक्के के दो बाजू" मानते थे। मृत्यु तो उनके निकट 'अनुपम मित्र' थी और जीवन में ऐसे भी कई अवसर आए जब मौत से उनका साक्षात्कार हुआ। सत्ताइस वर्ष की उम्र में डरबन की सड़कों पर गोरों की उत्तेजित भीड़ ने उन्हें मार ही दिया होता। ग्यारह साल बाद जोहांसबर्ग में एक अक्खड़ पठान ने भी उनकी जान ले ही ली थी; 1934 में पूना के म्युनिसिपल हॉल की ओर जाते हुए बम के वार से वह बाल-बाल बचे थे। उपवासों में तो हमेशा ही उनकी बाज़ी अपने प्राणों से लगी होती थी और दो लंबे उपवासों में उनका जीवित रह जाना एक चमत्कार ही था। अहिंसा के सैनिक के रूप में उन्होंने जितनी बार अपनी जान और जीवन को खतरे में डाला था वैसे तो किसी भी जनरल या कर्नल ने लड़ाई के मैदान में खतरे का सामना न किया होगा।

13 जनवरी, 1948 को उन्होंने उपवास आरंभ किया था। इसके संबंध में उन्होंने मीराबहन को लिखा था, "मेरा सबसे बड़ा उपवास !" यह उनका अंतिम उपवास भी था। जबतक दिल्ली में पूरी तरह शांति स्थापित नहीं हो जाती, वह उपवास नहीं तोड़ेंगे। राजधानी में ऊपर से शांति हो

गई। सरकार की कड़ी कार्रवाई के कारण हत्या और लूटमार की वारदातें बंद हो गईं थीं। लेकिन गांधीजी पिछले साढ़े चार महीने से जिस शांति के लिए प्रयत्न कर रहे थे वह 'शमशान की शांति' नहीं, दिलों को मिलानेवाली शांति थी। उस सच्ची शांति का दिल्ली में कहीं पता नहीं था। मुसलमान निडर और स्वतंत्रतापूर्वक राजधानी की सड़कों और गलियों में निकल नहीं सकते थे। गांधीजी को यह भी पता चला कि पश्चिमी पाकिस्तान से आनेवाले हिन्दू शरणार्थी मुसलमानों को अपने घर से और दुकानों से निकालने के लिए बुरे-से-बुरे उपायों का अवलंबन कर रहे थे। इसके लिए यह दलील कि सारे पश्चिमी पाकिस्तान में वहाँ के हिन्दुओं और सिखों के साथ यही बर्ताव किया जा रहा है, गांधीजी को बिलकुल ही स्वीकार नहीं थी।

गांधीजी के इस उपवास का पाकिस्तान पर कुल मिलाकर बहुत ही अच्छा प्रभाव पड़ा। पिछले दस वर्षों से लीग और उसके अखबार बराबर यही प्रचार करते चले आ रहे थे कि गांधी इस्लाम का दुश्मन है। इस उपवास से उस सारे प्रचार का भंडाफोड़ हो गया।भारत को भी उनके इस उपवास ने झकझोर दिया। जिस समस्या के समाधान के लिए उन्होंने अपने प्राणों की बाज़ी लगा दी थी उसपर नए सिरे से सोचने के लिए लोग बाध्य हुए। तत्काल कुछ करने की आवश्यकता महसूस की जाने लगी, जिससे उनके प्राणों को बचाया जा सके। उनकी प्रेरणा से और सद्भावना-स्वरूप भारत सरकार ने पाकिस्तान को वह पचपन करोड़ रुपया चुका दिया, जो संयुक्त भारत की परिसंपद (असेट्स) में उसका हिस्सा था, लेकिन काश्मीर-विवाद के कारण रोक लिया गया था। 18 जनवरी, 1948 को विभिन्न संप्रदायों और दलों के नेताओं ने गांधीजी के समक्ष दिल्ली में शांति बनाए रखने का जिम्मा लेते हुए एक संयुक्त प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर किए।

इस उपवास के बाद सांप्रदायिक उपद्रवों का ज़ोर बराबर घटता गया। इससे छुट्टी पाकर गांधीजी ने अपना ध्यान दूसरी समस्याओं की ओर लगाया। पश्चिमी पाकिस्तान से आनेवाले शरणार्थियों को उन्होंने आश्वासन दिया था कि जबतक एक-एक परिवार को अपने जन्म के गाँव अथवा शहर में फिर से न बसा देंगे, वह चैन न लेंगे, लेकिन पाकिस्तान सरकार की अनुमति के बिना अब वह उस देश में प्रवेश नहीं कर सकते थे। फिर उनका विचार शीघ्र-से-शीघ्र सेवाग्राम लौट जाने का भी था। इधर कई महीनों से उनकी पूरी शक्ति सांप्रदायिक समस्या को हल करने में

लगी हुई थी। बहुत जटिल होते हुए भी हाल ही हुए स्वतंत्र देश की प्रगति और उन्नति में वह एक अवांतर प्रसंग ही था। भारत की वास्तविक समस्याएं थीं, यहाँ के देशवासियों की सामाजिक और आर्थिक उन्नति और यही गांधीजी का असली कार्यक्षेत्र था। संविधान बनाने का काम पूरा हो ही चला था। स्वतंत्र भारत की सरकार अथवा सक्रिय राजनीति में प्रवेश करने का गांधीजी का कोई विचार नहीं था। वह नई परिस्थितियों में कुछ नए रचनात्मक काम करना चाहते थे। इसीलिए रचनात्मक काम में लगे हुए सब संगठनों को एकताबद्ध करने की संभावनाओं पर उन्होंनें चर्चाएं कीं, जिससे अहिंसात्मक समाज-रचना का कार्य ज्यादा सुचारू रूप और सूक्ष्म ढंग से किया जा सके।

राजनैतिक स्वाधीनता के बाद मुख्य काम सामाजिक और आर्थिक सुधारों का ही था और इन्हें कार्यान्वित करने के लिए गांधीजी अपनी अहिंसात्मक शैली को नए ढंग से संभालना चाहते थे।

लेकिन न तो उनका पाकिस्तान जाना बदा था और न रचनात्मक कार्यों को हाथ में लेना ही। उनकी मृत्यु का पहला संकेत उस समय मिला जब 20 जनवरी की शाम को वह बिड़ला-भवन में अपनी प्रार्थना-सभा को संबोधित कर रहे थे। एक बम उनपर फेंका गया, जिसका उनसे कुछ ही फुट के फासले पर विस्फोट हुआ। उन्होंने कोई ध्यान नहीं दिया और शांतिपूर्वक भाषण देते रहे। दूसरे दिन जब उन्हें विस्फोट के समय निराकुल और निरुद्वेग रहने के उपलक्ष में बधाइयाँ दी गईं तो उन्होंने कहा, “सच्ची बधाई के योग्य तो मैं तब हूँगा जब विस्फोट का शिकार होकर भी मुस्कराता रहूँ और हमला करनेवाले के प्रति मेरे मन में ज़रा-सा भी विद्वेष न हो।" बम फेंकनेवाले को उन्होंने ‘गुमराह जवान' कहा और पुलिस से आग्रह किया कि उसे ‘कष्ट' न दिया जाए, प्रेम और धीरज से समझाकर सही मार्ग पर लाने की कोशिश की जाए। जो व्यक्ति पकड़ा गया वह मदनलाल नाम का एक पंजाबी शरणार्थी युवक और गांधीजी की हत्या के षड्यंत्रकारी दल का बाकायदा सदस्य था। इन उत्तेजित जवानों का ऐसा खयाल था कि हिन्दू धर्म के लिए इस्लाम बाहरी और गांधी भीतरी खतरा था। जब मदनलाल चूक गया तो दल का दूसरा षड्यंत्रकारी एक

युवक नाथूराम गोडसे पूना से दिल्ली आया । जेब में भरी पिस्तौल डाले वह बिड़ला-भवन के आस-पास, जहाँ गांधीजी की प्रार्थना-सभाएं होती थीं, मौके की ताक में मंडराता रहा।

अधिकारियों को कुछ शक तो ज़रूर हो गया था, इसलिए उन्होंने निगरानी थोड़ी कड़ी कर दी। लेकिन गांधीजी इस बात के लिए राज़ी न हुए कि उनकी प्रार्थना-सभा में आनेवालों की पुलिस द्वारा तलाशी ली जाए। उन्होंने पुलिस-अधिकारियों से साफ-साफ कह दिया : "अगर मरना ही बदा है तो मुझे प्रार्थना-सभा में ही मरने दो। और यह खयाल बिलकुल गलत है कि आप लोग मेरी रक्षा कर सकते हैं। मेरा रक्षक तो ईश्वर है।" 30 जनवरी की शाम को वह बिड़ला-भवन के अपने कमरे से प्रार्थना-सभा की ओर रवाना हुए। कुल जमा दो मिनट का रास्ता था, लेकिन उस दिन सरदार पटेल के साथ चर्चा में उन्हें कुछ देर हो गई थी। अपनी दो पोतियों आभा और मनु के कंधों पर, जिन्हें वे अपनी लकड़ियाँ कहा करते थे, हाथ रखे हुए वह तेज़ी से चल रहे थे। उनको आते देख प्रार्थना-सभा में आए हुए कोई पाँचसौ लोग उन्हें रास्ता देने के लिए इधर-उधर हो गए। कुछ उठ खड़े हुए और कुछ ने ढुककर उन्हें प्रणाम किया। गांधीजी ने देर हो जाने के लिए खेद प्रकट किया और हाथ जोड़कर नमस्कार किया। ठीक उसी समय गोडसे भीड़ को धकियाता हुआ आगे आया, वह झुका मानो महात्माजी के चरण छू रहा हो और पिस्तौल निकालकर ताबड़-तोड़ तीन फैर किए। गांधीजी 'हे राम' कहते हुए वहीं गिर पड़े।

इसे भाग्य की विडंबना ही कहेंगे कि अहिंसा के पुजारी की ऐसी हिंसक मृत्यु हुई। लगा, जैसे कि अंध शक्तियाँ जीत गई हों, लेकिन वह केवल क्षणिक विजय थी। गांधीजी के हृदय को भेदनेवाली उन गोलियों ने करोड़ों के हृदय भेद दिए। उस घोर अपराध के दुष्कर्म ने निमिष-भर में सांप्रदायिक उन्माद की मूर्खता और व्यर्थता को उजागर कर दिया। 31 जनवरी, 1948 की शाम को यमुना के किनारे जिन ज्वालाओं ने गांधीजी के भौतिक शरीर भस्मीभूत किया, वे भारत और पाकिस्तान में अगस्त 1946 से धधक रही सांप्रदायिक वैमनस्य की सत्यानाशी आग की अंतिम ज्वालाएं थीं। जबतक जिए, गांधीजी उस आग में बराबर लड़ते रहे। अंत में उनकी मृत्यु से ही वह आग शांत हुई।

४२. उपसंहार

दक्षिण अफ्रीका से लौटने के पाँच वर्ष के अंदर ही गांधीजी भारत के सार्वजनिक जीवन पर पूरी तरह छा गए। 1920 तक अधिकांश प्रमुख राजनैतिक उनके झंडे तले आ गए थे और बाकी किसी गिनती में ही नहीं थे। ऐसी महान् और परिपूर्ण राजनैतिज्ञ विजय दुर्लभ ही है। इसे गांधीजी का राजनैतिक चक्रवर्तीत्व ही कहना चाहिए। अगले तीस बरसों में ऐसे भी कई अवसर आए जब गांधीजी को राजनीति से संन्यास लेते अथवा कांग्रेस से पृथक् होते देख उनके विरोधियों ने उन्हें खारिज़ मान लिया, लेकिन ये उनके मनोरथ ही थे, जो कभी पूरे न हुए। गांधीजी को जब-जब उचित लगा, वह उसी दम-खम से राजनीति में पुनः अवतीर्ण हुए और उनका प्रभाव कम होने के बदले बढ़ता गया।

उनके राजनैतिक उत्कर्ष और चिरस्थायी प्रभाव का एक कारण जन-साधारण पर उनके महात्मापन की छाप भी थी। इस महात्मापन के कारण उनके कष्टों का पार भी न था, खासकर यात्राओं के समय बड़ी असुविधा होती थी, लेकिन एक बड़ा लाभ यह था कि उनके द्वारा संचालित आंदोलनों की सफलता-असफलता के बावजूद उनकी प्रतिष्ठा, प्रभाव और यश अक्षुण्ण बने रहते थे।

इस उत्कर्ष के कुछ अन्य कारण भी थे। दक्षिणी अफ्रीका के संघर्ष ने उन्हें विकसित और जन-आंदोलन की दृष्टि से प्रौढ़ कर दिया था। इंग्लैंड में अध्ययन करते समय और भारत में नई-नई वकालत जमाते वक्त उनमें जो झिझक और शर्मीलापन था, उससे वह मुक्ति पा चुके थे और प्रचंड आत्मविश्वास को निरापद शालीनताएं एवं अत्यधिक विनम्रता से अभिव्यक्त करने की कला सीख चुके थे। उनसे प्रभावित होकर भिन्न रुचि के जिन प्रतिभावान नर-नारियों अपनी जीवन-धारा को बदल डाला था, उनमें सी. आर. दास और मोतीलाल नेहरू जैसे दिग्गज वकील और महान् धारासभाशास्त्री पं. मदनमोहन मालवीय और देशरत्न बाबू राजेन्द्रप्रसाद जैसे महापुरुष, सरदार वल्लभभाई पटेल और सी. राजगोपालाचार्य जैसे घोर यथार्थवादी तो पं. जवाहरलाल नेहरू और जयप्रकाश नारायण जैसे आदर्शवादी भी थे। उन लोगों ने मन-प्राण से अनुभव किया कि उस काल की भाषणबाजी और बमबाजी के बीच हिचकोले खाती हुई भारतीय राजनीति को

स्थिरता प्रदान करनेवाला सक्षम और व्यावहारिक विकल्प गांधीजी का अहिंसात्मक तरीका ही था। सुख-चैन की ज़िन्दगी और व्यावसायिक महत्त्वाकांक्षाओं से नाता तोड़ वे महात्माजी के साथ हो लिए और अपने-अपने जीवन का बड़ा भाग उन्होंने रेल या जेल में बिताया। वे गांधीजी के समस्त राजनैतिक और आर्थिक विचारों से सहमत नहीं थे, उनकी धार्मिक दृष्टि का तो शायद ही किसी ने समर्थन किया हो, लेकिन फिर भी सब-के-सब उनकी स्नेह-डोर में बँधे हुए थे—मस्तिष्क से अधिक उनके हृदय गांधीजी से जुड़े हुए थे। गांधीजी उनके नेता ही नहीं, बापू थे—श्रद्धास्पद प्रिय पिता। जनता से प्रगाढ़ प्यार और कांग्रेसी नेताओं से स्नेह-संबंध के कारण गांधीजी भारतीय राष्ट्र की एकता के प्रतीक ही बन गए थे और चौथाई शताब्दी तक राष्ट्रीय आंदोलन को फूट और विच्छेद के घातक मार्ग पर भटक जाने से रोके रहे। दूसरे राजनैतिक दलों और विरोधी व्यक्तियों में वह समानता और संधि के तत्त्व खोजा करते थे, विरोध और संघर्ष के नहीं। मतभेद रखनेवालों की भर्त्सना या उपहास कभी उनका अभीष्ट नहीं रहा । तीन प्रमुख नरमदली नेता तेजबहादुर सप्रू, एम. आर. जयकर और श्रीनिवास शास्त्री से वह पत्र-व्यवहार, विचार-विनिमय और परामर्श भी करते रहे। इन लोगों की राय की बड़ी कद्र करते थे। श्रीनिवास शास्त्री को उन्होंने लिखा भी था—"आपके सहयोग की अपेक्षा आपकी सचाई का मेरे लिए अधिक महत्त्व है।" लीगी नेताओं से ऐसे संबंध न बन पाने का कारण गांधीजी की ओर से प्रयत्नों का अभाव नहीं था।

गांधीजी की दृष्टि में भारतीय स्वाधीनता आंदोलन का वास्तविक महत्त्व उसके अहिंसात्मक स्वरूप में निहित था । यदि कांग्रेस ने अहिंसा को नीति और सत्याग्रह को आचरण के रूप में न अपनाया होता तो गांधीजी की स्वाधीनता-आंदोलन में कोई रुचि भी न होती। वह हिंसा का विरोध केवल इसलिए नहीं करते थे कि सशस्त्र क्रांति में निहत्थी जनता के सफल होने की संभावनाएं बहुत कम थीं, बल्कि एक बड़ा कारण यह भी था कि हिंसा के उपयोग से और भी कई जटिल समस्याएं उठ खड़ी होतीं और पारस्परिक घृणा तथा कटुता इतनी अधिक बढ़ जाती, जिसके कारण दोनों का सच्चा मिलन कभी हो ही नहीं पाता।

अहिंसा पर गांधीजी का यह आग्रह उनके अंग्रेज़ और भारतीय दोनों ही आलोचकों को समान रूप से खलता था, यद्यपि दोनों के भिन्न-भिन्न कारण थे। अंग्रेज़ उनकी अहिंसा को धोखा

और छल समझते थे, भारतीय आलोचक उसे निरी भावुकता। अंग्रेज़ भारतीय स्वाधीनता-संग्राम को यूरोपीय इतिहास की दृष्टि से देखने के अभ्यस्त थे, इसलिए उन्हें अहिंसा की बात सच नहीं लगती थी और इसलिए आंदोलन की छिटपुट हिंसात्मक कार्रवाइयाँ तो तुरंत उनके ध्यान में आ जाती थीं, परंतु उसका वास्तविक शांत स्वरूप वे देख नहीं पाते थे। भारत के उग्र राजनीतिज्ञ फ्रांसीसी और रूसी क्रांतियों के एवं इतालवी और आयरी स्वाधीनता-संग्रामों के इतिहासों को घोटे बैठे थे; उन इतिहासों का कहना था कि हिंसा का मुकाबला हिंसा से ही किया जा सकता है, काँटे को काँटे से ही निकाला जा सकता है, और हाथ आए राजनैतिक अवसर को नैतिक कारणों से छोड़ देना उनके मत से निरी मूर्खता ही थी।

मुश्किल यह थी कि गांधीजी के आलोचक उनके अहिंसात्मक आंदोलनों को हिंसात्मक संघर्षों की कसौटी पर कसकर गुण-दोषों को परखा करते थे, जबकि सत्याग्रह का उद्दश्य विरोधी को 'कुचलना' अथवा किसी खास मामले में 'जीत हासिल' करना नहीं, केवल हृदय-परिवर्तन करनेवाली शक्तियों को सक्रिय कर देना होता था। ऐसे रणकौशल से लड़नेवाला हर मोर्चे पर मात खाता हुआ भी युद्ध में विजयी हो सकता था और गांधीजी होते भी रहे थे। सत्याग्रह-आंदोलन के उद्देश्य को उसकी सफलता-विफलता या उसमें होनेवाली हार-जीत से नापना उचित भी नहीं है, वहाँ तो दोनों पक्षों के लिए एकमात्र सम्मानपूर्ण समझौते का ही महत्त्व है।

वास्तव में गांधीजी के नेतृत्व में लड़ी जानेवाली भारतीय स्वाधीनता की लड़ाई नैतिक, या कह सकते हैं कि मनोवैज्ञानिक, आधार पर ही लड़ी गई थी। जनवरी 1920 में महात्माजी ने लिखा था—"अत्यंत प्रतिकूल परिस्थितियों में भी दूसरों की अपेक्षा अंग्रेज़ों को समझा-बुझाकर सही काम करने के लिए राज़ी कर लेना मैंने हमेशा आसान पाया।" और अंग्रेज़ों का ही नहीं, भारतीयों का भी हृदय-परिवर्तन आवश्यक था। भारत में ब्रिटिश राज्य के बारे में गांधीजी ने बहुत कड़ी बातें कही थीं, लेकिन भारत को विभाजित और खोखला करनेवाली कुरीतियों के बारे में तो उन्होंने और भी कड़ी बातें कहीं ।

1947 में सत्ता के हस्तांतरण के कई राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय कारण थे—देश और दुनिया के अगणित बलों ने अपना काम किया था; लेकिन अंग्रेज़ों के हटने का जो समय और तरीका था,

उसपर गांधीजी के पिछले पच्चीस वर्षों के कार्यों और विचारों का प्रभाव भी स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। ...थोड़ी गहराई से विचार करने पर पता चलता है कि तीनों देशव्यापी सत्याग्रह-आंदोलनों में—1920-22, 1930-32 और 1940-42 दस-दस वर्ष का अंतर रखकर गांधीजी ने हर बार अंग्रेज़ों को सोचने का और हदय परिवर्तन का काफी अवसर दिया था, और यही उनका मुख्य प्रयोजन भी था। परिणाम यह हुआ कि 1947 में जहाँ भारतीयों ने छुटकारे की साँस ली, वहीं भारत-स्थित अंग्रेज़ों ने भी पहली बार सही अर्थों में स्वतंत्रता का अनुभव किया।

यों तो विश्व के सम्मुख उनका प्रमुख रूप भारत के राजनैतिक मुक्तिदाता और उद्धारक का ही है, लेकिन वास्तव में देखा जाए तो गांधीजी का मुख्य क्षेत्र राजनीति नहीं, धर्म ही था। अपनी 'आत्मकथा' की प्रस्तावना में उन्होंने कहा भी है—"मेरा कर्तव्य तो, जिसके लिए मैं तीस वर्ष से झीख रहा हूँ, आत्मदर्शन है, ईश्वर का साक्षात्कार है, मोक्ष है। मेरी सारी क्रियाएं इसी दृष्टि से होती हैं। मेरा सारा लेखन इसी दृष्टि से है और मेरा राजनैतिक क्षेत्र में आना भी इसी वस्तु के अधीन है।" धर्म और अध्यात्म ही उनका मुख्य प्रयोजन था। एक राजनैतिक शिष्टमंडल में उन्हें देखकर तत्कालीन भारत-मंत्री मांटेगू ने कहा था, "आप, एक समाज-सुधारक, इन लोगों के साथ कैसे ?"

तब गांधीजी ने स्पष्टीकरण किया था कि उनकी राजनैतिक गतिविधि उनके सामाजिक कार्यों का ही विस्तारित रूप है—"सारी मानव-जाति से अभिन्नता ही मेरा धर्म है और मेरी राजनैतिक गतिविधि उस धर्म पर आचरण करने का तरीका। मनुष्य की गतिविधियों के क्षेत्र को आज विभाजित नहीं किया जा सकता और न उसके सामाजिक, आर्थिक एवं शुद्ध धार्मिक कार्यों को एक-दूसरे से विभक्त करनेवाली स्पष्ट सीमा-रेखाएं ही खींची जा सकती हैं।" मानवी क्रिया-कलापों के अतिरिक्त किसी धर्म को वह जानते नहीं थे। उनका कहना था कि धर्म और अध्यात्म का कोई सर्वथा निराला क्षेत्र नहीं होता, जीवन के सामान्य कार्यों के ही द्वारा उनकी निरंतर अभिव्यक्ति होती रहती है। सच्चे धर्म का पालन करने के लिए किसी को न तो हिमालय में जाने की ज़रुरत है, न संन्यास लेने की, न आश्रम में रहने की और न किसी संप्रदाय-विशेष को अपनाने की।

लेकिन राजनीति और धर्म का, सदाचार और नीति का कुछ इस तरह पृथक्करण कर दिया गया है कि दोनों को मिलाना अधिकांश लोगों को सह्य नहीं होता। सत्य, दया और प्रेम आदि सद्गुण केवल पारिवारिक और सामाजिक क्षेत्रों में ही आचरण के उपयुक्त समझे जाते हैं | राजनीति में केवल उपयुक्तता और वांछनीयता को ही प्रयोजनीय माना जाता है। गांधीजी का संपूर्ण कृतित्व इस द्वैध आचरण के प्रति जीवंत विद्रोह था। उन्होंने धार्मिक और धर्म-निरपेक्ष को कभी एक-दूसरे से विच्छिन्न नहीं किया। राजनीति से उनका लगाव सिर्फ इसलिए था, क्योंकि वह सत्याग्रह के द्वारा उसमें धर्म का समावेश धर्म की प्राण-प्रतिष्ठा करना चाहते थे। पश्चिमी विद्वानों ने अनेक बार जानना चाहा था कि गांधीजी संत हैं अथवा राजनीतिज्ञ ? वह संत ही थे—ऐसे महात्मा, जिसके महात्मापन को राजनीति में आने से कोई क्षति नहीं पहुँचती थी।

स्वयं गांधीजी संत-महात्मा आदि शब्दों को बड़ा ऊँचा और पवित्र मानते थे और अपने को उस पद के उपयुक्त नहीं समझते थे। वह तो 'सत्य के विनम्र शोधक' थे, जिसे 'महान् ज्योति की एक मामूली-सी किरण' ही मिल पाई थी। उनके कथनानुसार वह जीवन के शाश्वत सत्यों का प्रयोग कर रहे थे, लेकिन फिर भी समाजशास्त्री और वैज्ञानिक होने का दावा नहीं कर सकते थे, क्योंकि न तो वह अपने तरीकों की वैज्ञानिकता के संबंध में कोई ठोस और स्थायी प्रमाण ही प्रस्तुत कर सकते थे और न आधुनिक वैज्ञानिक प्रयोगों की तरह के कोई निश्चित ठोस परिणाम ही। भूल और गलती न करने का उनका कोई दावा नहीं था, यहाँतक कि अपनी भूलें दुनिया से छुपाते भी नहीं थे। जब कभी वह यह कहते कि “ईश्वर ने मुझे यह करने या वह करने का आदेश दिया है” तो उनका यह अभिप्राय कदापि न होता था कि ईश्वर ने अपने संदेश के माध्यम के रूप में केवल उन्हींका विशेष रूप से चुनाव किया है। उनका कहना था कि “मेरा तो ऐसा दृढ़ विश्वास है कि वह सभी को संदेश देता है, हमीं अंतरात्मा की उस क्षीण आवाज़ को नहीं सुनते, कान बहरे कर लेते हैं।" जब किसी ने उन्हें भगवान कृष्ण का अवतार बताया तो वह अत्यंत व्यथित हो गए और बोले, “इससे बड़े पाप और धर्मद्रोह की तो मैं कल्पना भी नहीं कर सकता।” जब उनके भक्तगण प्रशंसा में औचित्य का सीमोल्लंघन करने लगते तो वह तुरंत उन्हें वहीं-का-वहीं रोक दिया करते थे और बुरी तरह फटकारते भी थे। एक बार यात्रा करते हुए किसी गाँव में पहुँचे तो

ग्रामीणों ने कहा कि आपके शुभागमन का कैसा पुण्य फला कि हमारा सूखा कुआँ लबालब भर गया। गांधीजी ने उन्हें फटकारा, “यह मूर्खता ही है न। चमत्कार-वमत्कार कुछ नहीं, निरा संयोग ही समझना चाहिए। भगवान तक मेरी भी उतनी ही पहुँच है जितनी तुम्हारी। मान लो कि ताड़ का पेड़ गिरने ही वाला हो और कौआ उसपर बैठ जाए तो क्या तुम यह कहोगे कि उसके बोझ से पेड़ गिर गया ?”

विनम्रता उनका सहज-स्वाभाविक गुण था—आत्मसंयम के लिए बाल्यकाल से मृत्युपर्यनत उनके सतत संघर्ष का नैसर्गिक प्रतिफलन, केवल दिखावे के लिए ऊपर से ओढ़ी हुई व्यवहार-कुशलता नहीं। महादेवभाई ने एक बार लिखा भी था—“बाह्य विरोधी की अपेक्षा अपने अंतर के विरोधी से उनका संघर्ष कहीं कड़ा और निर्मम होता है।” उन्होंने अपने-आपको हमेशा औसत से भी कम योग्यता का अति साधारण व्यक्ति ही माना। उन्होंने कहा भी था—“मैं मंजूर करता हूँ कि मेरी बुद्धि बहुत कुशाग्र नहीं है, लेकिन मैं इसकी चिन्ता नहीं करता। बुद्धि के विकास की तो सीमा है, परंतु दिल के विकास की कोई सीमा नहीं होती ।" बुद्धि पर हृदय की श्रेष्ठता की बात कहकर और अपने-आपको औसत से भी कम बुद्धि का व्यक्ति बतलाकर गांधीजी केवल अपनी बौद्धिक प्रखरता से इनकार ही कर रहे थे। किताबी पढ़ाई को वह अधिक महत्त्व नहीं देते थे, लेकिन अपनी बार-बार की जेल-यात्राओं में उन्होंने सब मिलाकर बहुत-सी किताबें पढ़ीं और उस पढ़ाई का सदुपयोग भी किया। उनकी ‘आत्मकथा’ और ‘दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास’ उनकी तीव्र स्मरण-शक्ति के प्रमाण हैं और उनके सहयोगी और विरोधी दोनों ही उनकी बौद्धिक प्रखरता के गवाह। लेकिन यह भी सच है कि एक सीमा के बाद वह बुद्धि के नियंत्रण की अपेक्षा हृदय के नियंत्रण को ही शुभ और श्रेष्ठ मानते थे। गांधीजी जिस सत्य की शोध में लगे हुए थे वह स्थिर, गतिहीन सत्य नहीं, सतत गतिशील और प्राणवान सत्य था, जो अपने अनेकविधि रूपों को निरंतर उद्घाटित करता रहता था। विसंगतियों का आरोप लगानेवालों को उनका यह करारा जवाब हुआ करता था कि मेरी संगति सत्य के साथ है, भूत काल के साथ नहीं। नए प्रयोगों के अनुरूप वह अपने विचारों में परिवर्तन, परिवर्द्धन और संशोधन करते रहते थे, यहाँतक कि उनकी दैनिक प्रार्थनाएं भी सतत विकासमान थीं। दक्षिण अफ्रीका में उनकी दैनिक प्रार्थनाएं हिन्दू

और ईसाई धर्म-ग्रंथों के पाठ से आरंभ हुई थीं, धीरे-धीरे उनमें जिदअवेस्ता, कुरान, बौद्ध और जापानी धर्म-ग्रंथों के उपदेशों और भजनों का समावेश होता चला गया। नौआखाली यात्रा के समय उन्होंने बंगाली भाषा सीखना शुरू किया था, जिससे दंगा-पीडित बंगालियों की ज्यादा अच्छी सेवा कर सकें और अपनी मृत्यु के कुछ ही घंटे पहले बंगाली का अंतिम पाठ लिखकर पूरा किया था। वह जीवन-भर विद्यार्थियों की विनम्रता और लगन को बनाए रहे।

हर विषय पर वह अपने विचारों को निरंतर विकसित और परिष्कृत करते थे, इसलिए जाति, मशीनें, खादी आदि पर उनकी पहले कही हुई बातों में विसंगतियाँ और विरोधाभास ढूँढ़ निकालना बहुत आसान था। आज के प्रचार-युग में उनका हर शब्द और संकेत जन-सामान्य की संपत्ति हो जाया करता था, लेकिन इस तथ्य को जानते हुए भी, वह कोई बात, यहाँतक सपने में उदित हुआ विचार भी, अपने ही तक नहीं रखते थे, सब-कुछ जग-ज़ाहिर कर दिया करते थे। टाल्स्टाय के बारे में उन्होंने इस संबंध में जो कुछ लिखा था, वह स्वयं उनके अपने लिए भी उतना ही था। “टाल्स्टाय के विचारों की कथित विसंगतियाँ उनके सतत विकास और सत्य की शोध के संबंध में उनकी तीव्र उत्कंठा का ही संकेत थी। सतत विकासशील विचार-प्रक्रिया के परिणामस्वरूप उनकी पुरानी मान्यताएं पिछड़ जाती थीं और वर्तमान की स्थापनाओं से असंगत प्रतीत होने लगती थीं। उनकी विफलताओं को सारी दुनिया जान जाती थी, वह जग-ज़ाहिर होती थीं। उनके संघर्ष और सफलताएं सिर्फ उन्हींतक रहती थीं, उनकी अपनी होती थीं।”

महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक अवसर पर गांधीजी के बारे में कहा था और ठीक ही कहा था कि “वह विचारों से नहीं, मनुष्यों से प्रेम करते” हैं। गांधीजी हर समस्या को नैतिक परिप्रेक्ष्य में देखना पसंद करते थे, परंतु अपने विचार उन्होंने कभी किसीपर थोपे नहीं। उन्होंने तो लोगों को यहाँतक सचेत कर दिया था कि “कहनेवाला महात्मा ही क्यों न हो, किसी भी बात को ध्रुव सत्य मत समझो।” 'हिन्द-स्वराज्य' में उन्होंने आधुनिक सभ्यता और उसकी उपज स्कूल, रेलवे, अस्पताल आदि की कड़ी निन्दा की, लेकिन इन विचारों को अपने अनुयायियों पर थोपने की कभी ज़रा-सी भी कोशिश नहीं की। स्वयं घुटनों तक की लुंगी पहनते थे, परंतु यह आग्रह कभी नहीं रहा कि सभी वैसी ही लुंगी पहनें। आगाथा हैरीसन को रोज चाय की बुराइयाँ बताते

थे, लेकिन जब भी वह उनके साथ यात्रा में होतीं, दुपहर ढले ठीक चार बजे बिलानागा उनको चाय पिलाई जाती थी। दुनिया-भर के कामों में फँसे रहने के बावजूद देश और विदेश के हज़ारों लोगों को, जो उनसे मिलने आते या पत्र-व्यवहार करते थे, अपना स्नेह और सौजन्य देने में उन्होंने कभी कोताही नहीं की। लंघुतमों, विपन्नों और दीन-हीनों से तादात्म्य ही उनकी एकमात्र महत्त्वाकांक्षा रही। नहाते समय वह साबुन की जगह पत्थर से अपना शरीर मलते थे, चिन्दियों और पुर्जों पर पत्र लिखते थे, पेंसिल के इतने छोटे टुकड़ों का इस्तेमाल करते जिन्हें अँगुलियों में थामना भी मुश्किल होता था, देशी उस्तरे से खुद हजामत बनाते और टीन या लकड़ी के कटोरे में लकड़ी की चम्मच से खाना खाते थे। यह फकीरी उनकी अंतःवृत्ति के अनुरूप तो थी ही, उन्हें देश के उन करोड़ों गरीबों के समकक्ष भी बनाती थी, जिनकी गरीबी और तबाही एक क्षण के भी लिए उन्हें चैन न लेने देती थी। स्वेच्छा से अपनाई हुई यह गरीबी ही उनके समस्त राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक क्रियाकलापों की प्रेरक शक्ति थी । गरीबी के इस बाने के ही कारण भारतीय जनता पर उनका इतना प्रभाव और शहर के बुद्धिजीवियों से कभी-कभी इतना बिलगाव और पार्थक्य हो जाया करता था।

स्वेच्छा से अपनाई हुई गरीबी और त्याग ने गांधीजी को गुरु-गंभीर बना दिया हो, या उनकी स्वभावगत विनोदशीलता को मार दिया हो, सो बात भी नहीं। उनमें बच्चों-जैसी ही प्रफुल्लता और विनोदशीलता थी। जो भी मिलने जाता, उससे हँसी-मज़ाक की दो-एक बातें वह अवश्य करते थे। एक बार मिलने के लिए आई हुई किसी महिला ने पूछा था—"आप खीझते-झुंझलाते तो नहीं ?" "यह तो आप श्रीमती गांधी से पूछिए।" उन्होंने तपाक से उत्तर दिया था, "वह यही कहेंगी कि उनके अलावा मैं सारी दुनिया से बहुत अच्छी तरह पेश आता हूँ।" "मेरे पति तो मुझसे बहुत अच्छा व्यवहार करते हैं।" उस महिला ने कहा था। इस नहले पर गांधीजी ने फौरन दहला मारा, "ओह, मैं समझ गया, उन्होंने आपको ज़रूर तगड़ी रिश्वत दी है।" यह पूछे जाने पर कि आप शराब पीनेवालों पर इतने अनुदार क्यों हैं, उन्होंने जवाब दिया था, "क्योंकि मैं इस पाप का परिणाम भुगतनेवालों के प्रति उदार (दयावान) हूँ।" एक मल्लाह से गांधीजी ने पूछा था, "आपके कितने बच्चे हैं ?" "जी साहब, आठ—चार बेटे और चार बेटियाँ।" इसपर गांधीजी ने कहा था—

मेरे चार बेटे हैं, इस नाते आपसे बराबरी का तो नहीं पर आधा मुकाबला अवश्य कर सकता हूँ।" बुरी-से-बुरी स्थिति में भी वह हँसी-मज़ाक की कोई-न-कोई बात खोज ही लिया करते थे। सितंबर, 1932 में जब हिन्दू नेता उनके आमरण अनशन के समय यरवदा-जेल में मिलने के लिए गए तो सबके बीच में बैठते हुए उन्होंने किलककर कहा था, "मैं अध्यक्षता करता हूँ।"

मानवी संबंधों में अहिंसा को नियोजित करने और उसे परिपूर्णता देने में गांधीजी ने अपना सारा जीवन खपा दिया था। अमरीका और यूरोप की यात्राओं के निमंत्रण उन्होंने कई बार इसीलिए अस्वीकार कर दिए कि जबतक भारत में सफल उदाहरण प्रस्तुत नहीं कर दिया जाता, विदेशों में जाकर अहिंसा का उपदेश देना अनुपयुक्त ही होता। लेकिन जब भारत और इंग्लैंड के संबंधों को, गांधीजी की उत्प्रेरणा के अनुरूप, समान स्तर पर प्रस्थापित करने का समय आया और देश में रक्तहीन क्रांति होने को ही थी तो भारत सांप्रदायिक उन्माद और खून-खच्चर के दुष्चक्र में फँस गया। राष्ट्रीय एकता के जिस महल का उन्होंने इतने परिश्रम से निर्माण किया था और प्राणपण से जिसकी रक्षा की थी, उसे अपनी आँखों के सामने ढहकर टूटते हुए भी देखा। हिंसा के उन्माद को शांति की निर्मल धाराओं में प्रवाहित करने का प्रयत्न और संघर्ष तो उन्होंने किया, परंतु साथ ही जीवन-कार्य के विफल हो जाने की व्यथा से व्याकुल भी होते रहे। उनकी प्रतिष्ठा और लोकप्रियता में कोई कमी नहीं हुई। स्वतंत्रता के उपरांत वह 'राष्ट्रपिता' के विरुद से विभूषित किए गए। शासन-सूत्र संभालनेवाले नेताओं ने उन्हें सम्मानांजलि समर्पित की। उनकी सभाओं में अब भी हज़ारों की संख्या में जनता जुटकर 'महात्मा गांधी की जय' के नारे लगाती थी। अपनी जय बोले जाने से पीड़ा तो उन्हें हमेशा ही होती रही थी, अब तो जैसे दिल पर छुरियाँ ही चलने लगीं। जब भारत के कई हिस्सों में हिंसा और भय व्याप्त हो तो उनकी जय कहाँ से हो सकती थी ! इस दारुण दु:ख की जड़ें कुछ तो भारत के सम-सामयिक इतिहास में और कुछ पाकिस्तान के हेतु धर्म को आधार बनाकर किए गए राजनैतिक आंदोलन में पनप रही थीं और जिसने कुछ समय के लिए मनुष्य-मात्र को विक्षिप्त कर दिया था। ऐसे समय में भी अपनी अहिंसात्मक कार्य-पद्धति की दो महान् सफलताओं को गांधीजी ने स्वयं अपनी आँखों देखा—कलकत्ता और दिल्ली में उनके उपवासों के परिणाम-स्वरूप शांति स्थापित हुई और उनकी मृत्यु ने वह किया, जिसके लिए वह जीवन के

अंतिम क्षण तक प्रयत्नशील थे—उप-महाद्वीपीय विस्तार के हिन्दी-पाकिस्तान के इंसानों का पागलपन दूर हुआ और उनकी इंसानी समझ लौट आई।

लेकिन गांधीजी के निकट अहिंसा का मूल्य और महत्त्व उनकी अपनी सफलता-विफलता से भी बंधा हुआ नहीं था—वह तो व्यक्ति की हार-जीत से सर्वथा निरपेक्ष और चिरंतन था। 'हिन्द स्वराज्य' में उन्होंने पश्चिमी भौतिकवाद और सैन्यवाद की आलोचना प्रथम महायुद्ध के छः वर्ष पूर्व, जब यूरोप शक्ति और प्रतिष्ठा के शिखर पर था, की थी। पचास वर्ष पूर्व उनके ये विचार कइयों को शेखचिल्लीपन लगे थे; लेकिन आज तृतीय महायुद्ध के भय से विकंपित विश्व के लिए तो वे ऋषि की मंत्रदृष्टि ही हैं। आध्यात्मिक मूल्यों का विध्वंस करनेवाली भौतिक प्रगति की अवहेलना और हिंसा का स्थायी रूप से परित्याग कर गांधीजी ने बीसवीं शताब्दी की दो प्रमुख विचारधाराओं, पूँजीवाद एवं साम्यवाद, से ठीक विपरीत दिशा में जानेवाले मार्ग का अवलंबन किया। उन्होंने एक ऐसे समाज की परिकल्पना और उसके लिए कार्य भी किया, जिसमें जन-समुदाय की अपरिहार्य आवश्यकताएं पूरी होंगी (उससे अधिक नहीं) और जहाँ अर्थव्यवस्था एवं राजनैति तिक तंत्र के विकेन्द्रीकरण के परिणामस्वरूप आंतरिक शोषण तथा बाह्य संघर्षो का कोई भय अथवा आशंका नहीं रह जाएगी। गांधीजी के विचारानुसार ऐसी समाज-व्यवस्था में बल-प्रयोग पर आधारित आधुनिक राजतंत्र की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। ऐसा समाज आंतरिक व्यवस्था के ही लिए नहीं, बाह्य आक्रमण से अपनी सुरक्षा के लिए भी अहिंसात्मक पद्धति पर निर्भर कर सकता है।

पता नहीं, गांधीजी का यह स्वप्न कभी सच भी होगा या नहीं। कम-से-कम आज तो कह पाना मुश्किल ही है। राष्ट्र भी, व्यक्तियों की भांति, बंधी लीक पर चल पाने का लोभ संवरण नहीं कर पाते, चाहे वह पिटा हुआ रास्ता उन्हें बंद गली में ही क्यों न पहुँचा दे। अहिंसा के स्वप्न को वास्तविकताओं के संसार में चरितार्थ करने की कठिनाइयों से गांधीजी खूब अवगत थे। लेकिन सिद्धांतों के मामले में, मूल प्रस्थापनाओं के प्रश्न पर, समझौता करने को वह कभी तैयार न थे। अंत तक वह साध्य और साधन, दोनों की पवित्रता पर समान रूप से ज़ोर देते रहे। अच्छे लक्ष्य की प्राप्ति के लिए बुरे उपायों का अवलंबन उन्हें कभी स्वीकार न हुआ। वह सदैव इसी बात पर

ज़ोर देते रहे कि भय, लोभ और अहंकार हमारे सबसे बड़े शत्रु हैं। दूसरों को बदलने से पहले हमें अपने-आपको बदलना चाहिए। सत्य, प्रेम और उदारता के पारिवारिक नियम, समूहों, समुदायों और राष्ट्रों पर भी समान रूप से लागू होते हैं और सबसे बड़ी बात तो यह कि "जिस प्रकार पशुओं के लिए हिंसा का नियम और नीति है उसी प्रकार अहिंसा का नियम और नीति हम मानवों के लिए है।" राष्ट्रों के भाग्य-नियंताओं को गांधीजी के ये विचार स्पृहणीय होते हुए भी दुर्लभ और दूरगामी आदर्श प्रतीत हो सकते हैं, लेकिन अणु-परमाणु अस्त्रों के इस संहारक युग में यदि मानवता को जीवित रहना है, सभ्यता को क्षत-विक्षत मांस के लोथड़ों और पिघले सीसे में परिवर्तित होने से बचाना है तो गांधी-विचारधारा की तात्कालिक प्रासंगिकता निर्विवाद है।

* * * * *